

षड्दर्शनप्रकाशनग्रन्थमालायाः पञ्चमं पुष्पम्

नारायणभट्टप्रणीतः

मानमेयोदयः

न्यायाचार्यमीमांसातीर्थस्वामियोगीन्द्रानन्दकृतया
हिन्दीव्याख्यया समलङ्कृतः



षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठानम्

वाराणसी

१९७८ ई०







षड्दर्शनप्रकाशनग्रन्थमालायाः पञ्चमं पुष्पम्

नारायणभट्टप्रणीतः

मानमेयोदयः

न्यायाचार्यमीमांसातीर्थस्वामियोगीन्द्रानन्दकृतया
हिन्दीव्याख्यया समलङ्कृतः



षड्दर्शनप्रकाशनप्रतिष्ठानम्
वाराणसी
१९७८ ई०

प्रकाशक—
मन्त्री, षड्दर्शन-प्रकाशन-प्रतिष्ठान
उदासीन संस्कृत विद्यालय
ढुण्ढिराज, वाराणसी





मूल्य १५—००



मार्च १९७८ ई०



मुद्रक—
मोहनलाल यादव
सरिता प्रेस
भैरोनाथ, वाराणसी

कुमारिलमताम्भोधौ गम्भीरेऽतिगरीयसि ।
युक्तिरत्नं दिदृक्षूणामिदं सिद्धाञ्जनं परम् ॥

प्रकाशकीय

षड्दर्शन् प्रकाशन प्रतिष्ठान की शक्ति सीमित और उद्देश्य विशाल है। सभी महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित और दुर्लभ दार्शनिक ग्रन्थों का प्रकाशन कर विद्वानों को सुलभ कराना एक मात्र ध्येय है। यह प्रतिष्ठान अपनी शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे पग बढ़ाता चल रहा है। न्याय, वैशेषिक और वेदान्त के ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया, मीमांसा दर्शन के तात्त्विक अंश का परिचायक यह 'मानमेयोदय' ग्रन्थ एक ही है। भाट्ट-मतानुसार प्रमाणों और प्रमेयों का पूर्ण परिचय इसी ग्रन्थ रत्न से प्राप्त होता है, अतः हिन्दी व्याख्या के साथ इसका प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रभाकर-सम्मत पदार्थों का थोड़े में ही परिचय देने के लिए परिशिष्ट में 'गुरु सम्मतपदार्थाः' नाम का स्वल्पकाय ग्रन्थ जोड़ दिया गया है। इस ग्रन्थ का पहले १६५४ ई० में त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशन हुआ था। उसके परिचय में कहा गया है कि न तो इस ग्रन्थ के रचयिता का कुछ ज्ञान हो सका और न उसके समय का। तथापि उसकी भाषा यह कह रही है कि यह किसी प्रौढ़ विद्वान् की रचना है। श्री नारायण पण्डित-द्वारा प्रणीत 'कुमारिलमतोपन्यास' के साथ प्रकाशित होने के कारण कुछ विद्वान् इसे भी उन्हीं की रचना मानते हैं। मानमेयोदय ग्रन्थ की अपेक्षा 'कुमारिलमतोपन्यास' ग्रन्थ में कोई विशेषता न होने के कारण उसे यहाँ परिशिष्ट में नहीं रखा गया है।

मन्त्री, षड्दर्शन प्रकाशन-प्रतिष्ठान

३०-३-१९७८

उदासीन संस्कृत विद्यालय

ढुण्ढिराज, वाराणसी

परिचय

मीमांसा दर्शन का अपना निश्चित उद्देश्य है—वेदार्थ को संशयादि आवरणों से उन्मुक्त कर निखारना। धर्म और ब्रह्म—दो ही वेदार्थ हैं, इन का प्रथम प्रकाश वेदों से ही प्राप्त होता है। मीमांसा के मूल सूत्रों को बीस अध्यायों में विभक्त किया गया है—"तदिदं विंशत्यध्यायनिबद्धम्। तत्र षोडशाध्यायनिबद्धं पूर्वमीमांसाशास्त्रं पूर्वकाण्डस्य कर्मविचारपरायणं जैमिनिकृतम्, तदन्यदध्यायचतुष्कम उत्तरमीमांसाशास्त्रम् उत्तरकाण्डस्य ब्रह्मविचारपरायणं व्यासकृतम्" (प्र. हृदय. उपाङ्ग.)। महर्षि जैमिनि ने बारह अध्याय 'द्वादशलक्षणी' और चार अध्याय संकर्षकाण्ड के नाम से बनाए, श्रीदेवस्वामी ने सकर्षकाण्ड के अपने भाष्यारम्भ में पुरातन वचन उद्धृत किया है—

सिद्धैरेतैः प्रसङ्गान्तैः श्रुतियोगं प्रदर्शयन्।
लक्षणानि श्रुतीश्चैव संकृष्याथ जगे मुनिः॥

प्रमाणाध्याय से लेकर प्रसङ्गाध्याय—पर्यन्त बारह अध्यायों के द्वारा श्रुति वाक्यों का व्यवस्थित कर्मकलाप के साथ समन्वय करते हुए कतिपय परिशिष्ट कर्मों का संकर्षण (संग्रह) कर महर्षि जैमिनि ने यह सकर्षकाण्ड बनाया है। महर्षि वेदव्यास-रचित चार अध्यायों को ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन कहा जाता है। दोनों महर्षियों ने अपने आरम्भिक सूत्रों में मीमांसार्थक 'जिज्ञासा' शब्द का प्रयोग कर अपनी पारस्परिक घनिष्ठता ध्वनित की है।

मीमांसा की इस निर्णीत सरणि में यद्यपि प्रमाण और प्रमेय के तात्त्विक वर्गीकरण या स्थिरीकरण को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता, प्रत्यक्ष-सूत्र की व्याख्या करते हुए शबरस्वामी कहते हैं—"बुद्धिर्वा जन्म वा सन्निकर्षो वा नैषां कस्यचिदवधारणार्थमेतत्सूत्रम्"। तथापि प्रत्येक दार्शनिक अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखने के लिए अपनी मान्यताओं

प्रकाशकीय

षड्दर्शन् प्रकाशन प्रतिष्ठान की शक्ति सीमित और उद्देश्य विशाल है। सभी महत्त्वपूर्ण अप्रकाशित और दुर्लभ दार्शनिक ग्रन्थों का प्रकाशन कर विद्वानों को सुलभ कराना एक मात्र ध्येय है। यह प्रतिष्ठान अपनी शक्ति के अनुसार धीरे-धीरे पग बढ़ाता चल रहा है। न्याय, वैशेषिक और वेदान्त के ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया, मीमांसा दर्शन के तात्त्विक अंश का परिचायक यह 'मानमेयोदय' ग्रन्थ एक ही है। भाट्ट-मतानुसार प्रमाणों और प्रमेयों का पूर्ण परिचय इसी ग्रन्थ रत्न से प्राप्त होता है, अतः हिन्दी व्याख्या के साथ इसका प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रभाकर-सम्मत पदार्थों का थोड़े में ही परिचय देने के लिए परिशिष्ट में 'गुरु सम्मतपदार्थाः' नाम का स्वल्पकाय ग्रन्थ जोड़ दिया गया है। इस ग्रन्थ का पहले १९५४ ई० में त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशन हुआ था। उसके परिचय में कहा गया है कि न तो इस ग्रन्थ के रचयिता का कुछ ज्ञान हो सका और न उसके समय का। तथापि उसकी भाषा यह कह रही है कि यह किसी प्रौढ़ विद्वान् की रचना है। श्री नारायण पण्डित-द्वारा प्रणीत 'कुमारिलमतोपन्यास' के साथ प्रकाशित होने के कारण कुछ विद्वान् इसे भी उन्हीं की रचना मानते हैं। मानमेयोदय ग्रन्थ की अपेक्षा 'कुमारिलमतोपन्यास' ग्रन्थ में कोई विशेषता न होने के कारण उसे यहाँ परिशिष्ट में नहीं रखा गया है।

मन्त्री, षड्दर्शन प्रकाशन-प्रतिष्ठान

३०-३-१९७८

उदासीन संस्कृत विद्यालय

ढुण्ढिराज, वाराणसी

परिचय

मीमांसा दर्शन का अपना निश्चित उद्देश्य है—वेदार्थ को संशयादि आवरणों से उन्मुक्त कर निखारना। धर्म और ब्रह्म—दो ही वेदार्थ हैं, इन का प्रथम प्रकाश वेदों से ही प्राप्त होता है। मीमांसा के मूल सूत्रों को वीस अध्यायों में विभक्त किया गया है—"तदिदं विंशत्यध्याय-निबद्धम्। तत्र षोडशाध्यायनिबद्धं पूर्वमीमांसाशास्त्रं पूर्वकाण्डस्य कर्म-विचारपरायणं जैमिनिकृतम्, तदन्यदध्यायचतुष्कम उत्तरमीमांसाशास्त्रम् उत्तरकाण्डस्य ब्रह्मविचारपरायणं व्यासकृतम्" (प्र. हृदय. उपाङ्ग.)। महर्षि जैमिनि ने बारह अध्याय 'द्वादशलक्षणी' और चार अध्याय संकर्षकाण्ड के नाम से बनाए, श्रीदेवस्वामी ने सकर्षकाण्ड के अपने भाष्यारम्भ में पुरातन वचन उद्धृत किया है—

सिद्धैरेतैः प्रसङ्गान्तैः श्रुतियोगं प्रदर्शयन्।
लक्षणानि श्रुतीश्चैव संकृष्याथ जगे मुनिः॥

प्रमाणाध्याय से लेकर प्रसङ्गाध्याय—पर्यन्त बारह अध्यायों के द्वारा श्रुति वाक्यों का व्यवस्थित कर्मकलाप के साथ समन्वय करते हुए कतिपय परिशिष्ट कर्मों का संकर्षण (संग्रह) कर महर्षि जैमिनि ने यह सकर्षकाण्ड बनाया है। महर्षि वेदव्यास-रचित चार अध्यायों को ब्रह्मसूत्र या वेदान्त दर्शन कहा जाता है। दोनों महर्षियों ने अपने आरम्भिक सूत्रों में मीमांसार्थक 'जिज्ञासा' शब्द का प्रयोग कर अपनी पारस्परिक घनिष्ठता ध्वनित की है।

मीमांसा की इस निर्णीत सरणि में यद्यपि प्रमाण और प्रमेय के तात्त्विक वर्गीकरण या स्थिरीकरण को विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता, प्रत्यक्ष-सूत्र की व्याख्या करते हुए शबरस्वामी कहते हैं—"बुद्धिर्वा जन्म वा सन्निकर्षो वा नैषां कस्यचिदवधारणार्थमेतत्सूत्रम्"। तथापि प्रत्येक दार्शनिक अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखने के लिए अपनी मान्यताओं

का सीमाङ्कन करना आवश्यक मानता है, न्यायभाष्यकार कहते हैं— "इमास्तु चतस्रो विद्याः पृथक्प्रस्थाना प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते। यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या। तस्याः प्रथक्प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः, तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्याद्, यथोपनिषदः" (न्या. भा. पृ. ३–४)। 'न्याय' शब्द का पहला प्रयोग मीमांसा के लिए ही हुआ जो कि सर्वथा उचित है। मीमांसा के आचार्यों का भी ध्यान अपनी तात्त्विक परिधि की ओर गया, उन्होंने भी अपनी यत्र-तत्र विकीर्ण परिभाषाओं को एकत्र कर अपने प्रमाणों और प्रमेयों को स्थिर किया, उसी का मूर्त रूप हमारे सामने यह 'मानमेयोदय' ग्रन्थ है। भाट्ट मतानुसार प्रमाणों प्रमेयों का युक्तिपूर्ण निरूपण इस में किया गया है। इसके 'प्रमाण' परिच्छेद का (१) श्रीनारायण भट्ट और 'प्रमेय' भाग का (२) श्री नारायण पण्डित ने प्रणयन किया है, अतः उनका परिचय अपेक्षित है।

(१) श्री नारायण भट्ट—

मद्रास विश्वविद्यालय से १९३३ में प्रकाशित 'मानमेयोदय के आमुख लेख से अवगत होता है कि श्री नारायण भट्ट मलाबार (केरल) के रहनेवाले थे। उनका समय सोलहवी शताब्दी का उत्तरार्ध भाग माना जाता है। अपने समय के वे एक प्रख्यात कवि माने जाते हैं। 'प्रक्रियासर्वस्व' और 'नारायणीय' उन्हीं की रचनाएँ हैं। नारायणीय में श्रीमद्भागवत पुराण की विषय वस्तु का वर्णन किया गया है, उस में सब मिला कर एक हजार श्लोक हैं। उस प्रान्त में भागवत के स्थान पर उसी नारायणीय ग्रन्थ का पारायण किया जाता है। उसकी 'भक्तप्रिया' नाम की व्याख्या के आरम्भ में कहा गया है—"समधिगतनिखिलनिगमार्थतत्त्वः, शाब्दपरब्रह्मपारावारपारीणः, परमभागवतः सकलसहृदयमहितयशाः, श्री नारायणकविः"। (श्री नीलकण्ठशास्त्री ने भी अपने दक्षिण भारत के इतिहास (पृ. ३९२) में कहा है कि नारयण

भट्ट का समय १५६०-१६५६ ई० माना जाता है, इन्हों से सौ वर्ष से ऊपर की आयु पाई थी। उनके नाराणयीय ग्रन्थ के समान ही उनके व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ प्रक्रियासर्वस्व को केरल में वही सम्मानित स्थान प्राप्त है, जो कि काशी में भट्टोजी दीक्षित की सिद्धान्त कौमुदी को। नारायणभट्ट लिखते हैं कि किसी महाकवि को कोई भी व्याकरण शास्त्र अपनी परिधि में बाँध कर नहीं रख सकता प्रत्युत उन के प्रयोगों का अनुगमन किया करता है। मानमेयोदय ग्रन्थ को नारायण भट्ट किसी कारण पूरा न कर सके मानपरिच्छेद ही पूरा हो पाया, मेय भाग के बिना ग्रन्थ अधूरा ही रह गया।

(२) नारायण पण्डित—

अधूरे 'मानमेयोदय' ग्रन्थ को पूरा करने का सौभाग्य इन्हीं नारायण पण्डित को है। कालीकट के नृप मानवेद के ये समकालीन थे और मानवेद की प्रेरणा से ही मानमेयोदय को पूरा करने में प्रवृत्त हुए थे। ग्रन्थ के अन्त में इन्हों ने अपना परिचय दिया है कि केरल के प्रसिद्ध विद्वान् श्री पुरुषोत्तम पण्डित की पुत्री का मैं (नारायण पण्डित) पुत्र हूँ और श्री पुरुषोत्तम पण्डित के ही पुत्र श्री सुब्रह्मण्य पण्डित से कुमारिल भट्ट के सभी ग्रन्थों का अध्ययन किया, कृष्ण पण्डित से काव्य एवं मीमांसा का विशेष स्वाध्याय करके ही इस अधूरे ग्रन्थ को पूरा कर सका हूँ। सुचरित मिश्र-प्रणीत श्लोक वार्तिक की व्याख्या काशिका को इन्होंने उद्धृत किया है, सुचरित मिश्र का समय अभ्यङ्कर-मतानुसार १६७० ई० है, अतः नारायण पण्डित का समय सत्तरहवीं शताब्दी स्थिर होता है, किन्तु १९५३ ई० में त्रिवेन्द्रम् से प्रकाशित नीतितत्त्वाविर्भाव का प्राक्कथन सूचित कर रहा है कि चिदानन्द पण्डित चौदहवीं शताब्दी के थे और सुचरित मिश्र के परवर्ती—यह असमञ्जस हो जाता है, इतना ही नही, श्री वेङ्कटनाथ (१२४८-१२५०) ने अपनी सेश्वर-मीमांसा में सुचरितमिश्र को उद्धृत किया है और श्री पार्थसारथि मिश्र

(६००–६५०) ने शास्त्रदीपिका (१।४।१) में कहा है—"तदनेन…ये मन्यन्ते, ते निराकृता:" । इसकी व्याख्या में कहा गया है—"सुचरित-मिश्रमतं वार्तिककारासम्मतत्वान्न युक्तमित्याह—तदनेनेति । अत: सुचरित मिश्र का समय ६०० ई० के पूर्व ही होना चाहिए । फिर भी नारायण पण्डित को श्री नारायण भट्ट का परवर्ती सत्तरहवीं शताब्दी का माना जाना अनुचित नहीं ।

(३) मानमेयोदय का आधार—

यह एक निर्विवाद तथ्य है कि 'मानमेयोदय' ग्रन्थ का आधार श्री चिदानन्द पण्डित का नीतितत्त्वाविर्भाव है, जैसे कि स्वयं नारायण भट्ट ने स्वीकार किया है—"चिदानन्दोक्तरीत्या तु मयैवमिह दर्शित:" (प्रस्तुत ग्रन्थ पृ० ६४) । मानमेयोदय और नीतितत्त्वाविर्भाव का उद्देश्य भी एक ही है कि तार्किक एवं प्राभाकर मतों का निराकरण । मानमेयोदयकारों ने अपने ग्रन्थ में सबसे अधिक तार्किक मत का उल्लेख लगभग ३४ बार किया है । कई स्थानों पर कहा भी है कि "तदिदं दुर्मतं हेयम्" (मा० मे० पृ० ११४), "तार्किकध्वंसनोपायम्" (मा० मे० पृ० .२४) । श्री चिदानन्द पण्डित तो तार्किकों पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र साधन नीतितत्त्वाविर्भाव का अभ्यास ही (नीति० पृ० २३६ पर) बता रहे हैं—

साकूतं गहनं कुमारिलमतं जिज्ञासुभि: पण्डितै-
रप्यस्मास्ववधीरणा यदि परं ग्रन्थोऽयमभ्यस्यताम् ।
नो चेदुद्धततर्कतार्किकसभामध्यस्थितानां भवेत्
तत्तन्मार्गविचक्षणत्वविरहादात्मैव नो वञ्चित: ॥

चिदानन्द पण्डित के समान ही श्री नारायण भट्ट ने भी प्रभाकर गुरु को कई बार सीख दी है, जैसा कि (म० मे० पृ० १०३ पर) कहा है—

तत्र यद्यवलिप्तोऽयं गुरुर्नाद्यैव शिक्ष्यते ।
अर्थाध्याहृतिरेवेति तर्हि गर्जिष्यति ध्रुवम् ॥

(४) उद्धृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार—

मानमेयोदय में श्री कुमारिल भट्ट, अक्षपाद, कणाद, पक्षिल, कुमारिल, उदयन, प्रभाकर पार्थसारथि मिश्र, भवनाथ, भा सर्वज्ञ, काशिका, चिदानन्द, केशव मिश्रादि प्रसिद्ध ग्रन्थकारों एवं ग्रन्थों से अतिरिक्त कुछ अप्रसिद्ध ग्रन्थ और ग्रन्थकार भी उद्धृत किए हैं, जैसे — पदार्थदीपिका, मानरत्नावली, परितोषमिश्र, भट्टविष्णु, मनोरथ मिश्र। इनमें श्री परितोषमिश्र ग्यारहवीं शताब्दी के माने जाते हैं। इन्होंने श्री कुमारिल भट्ट की तन्त्रवार्तिक पर 'अजिता' नाम की व्याख्या लिखी थी, जो अभी तक अप्रकाशित है, सम्भवतः उसकी मातृका अड्यार-पुस्तकालय, मद्रास में सुरक्षित है। श्री भट्ट विष्णु के 'नयतत्त्वसंग्रह' की एक अपूर्ण मातृका केरली लिपि में होशिआर पुर है। सम्भवतः यह कोई जैमिनि-सूत्रों की व्याख्या है, क्योंकि प्रथम सूत्र के अन्त में लिखा है—"इति भट्टविष्णुविरचिते नयतत्त्वसङ्ग्रहे प्रथमसूत्र समाप्तम्।"

(५) बौद्धों और अद्वैत वेदान्तियों की समता—

बौद्धों के माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक के मतो का संक्षेप प्रस्तुत करते हुए (म० मे० पृ० २८- पर) कहा है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥

अद्वैतवेदान्त की तर्क-पद्धति को बौद्धों की देन कहा गया है—"अत्र पुनराभिरेव युक्तिभिः प्रत्यक्षादिप्रमाणानां तत्सिद्धानां पदार्थानां मिथ्यात्वमौपनिषदाः साधयन्ति—प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, स्वप्नप्रपञ्चवत्" (मा० मे० पृ० २८५)। किन्तु श्री चिदानन्द पण्डित उससे विपरीत अद्वैतवेदान्तियों को ही मुख्य अभियुक्त ठहराते हुए बौद्धों को ही उनका चरणानुगामी बताते हैं—

न च प्रपञ्चो मिथ्येति जाड्यदृश्यत्वहेतुभिः ।
स्वप्नप्रपञ्चवत्साध्यं मिथ्यात्वस्यानिरूपणात् ॥

अत्र पुनराभिरेव युक्तिभिः प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमाचक्षाणाः सुगतमतानुसारिणः प्रत्यवतिष्ठन्ते" (नीति॰ पृ॰ ११५–११६) । बौद्धों और अद्वैत वेदान्तियों के मध्य में प्रवाहित युक्ति-समतारूप सरिता का प्रवाह किधर से किधर हो रहा है—इसका निश्चय श्री नारायण बन्धु नहीं कर पाए, कर भी कैसे पाते ? केरल में बैठे-ही-बैठे गङ्गा का दर्शन करना चाहते हैं—"केरलेभ्योऽपि गङ्गादर्शनप्रसङ्गः" (मा॰ मे॰ पृ॰ १४) । वस्तुतः उपनिषत् की धरा पर ही अङ्कुरित लता-वितान बौद्ध धरित्री पर पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ । वहाँ से वह फलित सम्पत्ति औपनिषद क्षेत्र पर लाई गई—यह सत्य है । अत एव विद्वान् द्वैतोन्मूलनकारिणी इस विषम विष-धारा का उद्गम खोजने में चौंधिया जाते हैं ।

(६) अद्वैत वेदान्त पर उपकार—

भाट्टगण भले ही अद्वैत वेदान्तियों की आलोचना करें, उनके ही तत्त्वों पर अद्वैतवेदान्त का व्यावहारिक महल खड़ा है । श्री चिदानन्द पण्डित ने (नीति॰ पृ॰ ६४ पर) एवं नारायण बन्धुओं ने वैशेषिकों को परास्त कर द्रव्य, गुण, कर्म और जाति—इन चारों में रहनेवाली महासामान्य या सत्ता की जो स्थापना की है, उससे भी अद्वैतियों का महान् उपकार हुआ है, वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्य (बृह॰ वा॰ पृ॰ १६७८ पर) कहते हैं—

सत्तैव सर्ववस्तूनि बिभ्रत्यात्मानमात्मना ।

यद्यपि सत्ता के विषय में भाट्ट दृष्टि दूसरी है, तथापि सत्-सत्—इस प्रतीति के आधार पर जात्यादि में अनुगत सत्ता सिद्ध कर देने मात्र से अद्वैतियों को बल मिल जाता है ।

स्वामी योगीन्द्रानन्द
न्यायाचार्य, मीमांसातीर्थ



विषय-सूची

[प्रमाणानि]

[प्रमेयानि]

श्रीनारायणभट्टप्रणीतः

मानमेयोदयः

१—प्रमाणानि

१. प्रमाणसामान्यम्—

आचार्यमतपाथोधौ बालानपि निनीषताम् ।
भीमतां कोऽपि गोपालपोतः पोत इवास्तु नः ॥ १ ॥

स्वामियोगीन्द्रानन्दकृता

मानमेयोदयव्याख्या

सहस्रधारके यस्मिन्नृषयो नो मनीषिणः ।
पुनन्ति स्वं वचस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
गोद्रव्यपालको गोपः कथं स्याच्छब्दपालकः ।
इत्थं निभाल्य भट्टाद्याः शब्दं द्रव्यमुपादिशन् ॥
नारायणो वृणीते तं पोतं गोपशावकम् ।
अहं वन्दे तु गोविन्दं वेदवृन्दारकवन्दितम् ॥
मानमेयोदयव्याख्यां कुर्वे सरलपेशलाम् ।
मूलं भाट्टवचनेषु मार्गयामि यथामति ॥

१—प्रमाण

१. प्रमाणसामान्य—

आचार्यवर श्रीकुमारिल भट्ट का विशाल मत एक महासागर है, उसके पार हम (नारायणभट्ट) अबोध बालकों को भी ले जाना चाहते हैं, हम (भीमान्) भय-भीत हैं, हम तभी पार जा सकते हैं, जब कि कोई गोपालबालक ['गोपालपोतः'—यहाँ पर 'पोत' शब्द का अर्थ बालक है, जैसा कि अमरकोष में कहा है—"यानपात्रे शिशौ पोत" अर्थात् 'पोत' शब्द के दो अर्थ होते हैं—(१) जलयान तथा

मानमेयविभागेन वस्तूनां द्विविधा स्थितिः ।
अतस्तदुभयं ब्रूमः श्रीमत्कौमारिलाध्वना ॥ २ ॥
प्रमाकरणमेवात्र प्रमाणं तर्कपक्षवत् ।
प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानमेवात्र भिद्यते ॥ ३ ॥

अज्ञातपदेनात्र ज्ञातविषययोः स्मृत्यनुवादयोर्निरासः । तत्रानुवादानामप्रामाण्यं तार्किकादीनां नानुमतम् । वयं तु ब्रूमः—अनुवादो ह्यर्थपरिच्छेदे व्यवहारे वा न पूर्वज्ञानात् कंचिद्विशेषमाधत्ते, अतः फलविशेषाभावात् , फलार्थं

---

(२) शिशु । प्रकृत में गोपालपोत है--भगवान् कृष्ण, वह ही] जहाज बन कर हमें पार लगाए ॥ १ ॥

विश्व के समस्त पदार्थों को 'प्रमाण' और 'प्रमेय'—इन दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, अतः यहाँ हम (नारायणभट्ट) श्री कुमारिल भट्ट के मतानुसार प्रमाण और प्रमेय का निरूपण करेंगे ॥ २ ॥

न्याय-मत के समान ही भाट्ट मत में भी प्रमाण का लक्षण है—'प्रमाकरणम्' किन्तु प्रमा का लक्षण यहाँ न्याय-मत से भिन्न है, क्योंकि नैयायिक प्रमा का लक्षण करते हैं—"यत्र यदस्ति, तत्र तस्यानुभवः प्रमा, तद्वति तत्प्रकारकानुभवो वा" (त. चि. पृ. ४३४-४३६) । किन्तु कुमारिल भट्ट अज्ञाततत्त्वार्थविषयक ज्ञान को प्रमा कहते हैं--"सर्वस्यानुपलब्धेऽर्थे प्रामाण्यं स्मृतिरन्यथा" (श्लो. वा. पृ. २११) ॥ ३ ॥

'अज्ञात' या 'अनुपलब्ध' पद के द्वारा स्मृति और अनुवादरूप अप्रमा ज्ञानों की व्यावृत्ति की गई है। तार्किकादि अनुवाद को अप्रमा नहीं मानते, क्योंकि उनके मतानुसार तद्वद्विशेष्यक तत्प्रकारक ज्ञान होने के कारण अनुवाद भी प्रमा ही होता है किन्तु हमारा (भाट्ट का) कहना है कि प्रमा ज्ञान विषय वस्तु का परिच्छेद (निश्चय) कराता है, तदर्थी प्रमाता को उधर प्रवृत्त करता और प्रमेयार्थ की प्राप्ति कराता है, जैसा कि महर्षि वात्स्यायन कहते हैं—"प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत् प्रमाणम्" (न्या. भा. पृ. १) । अनुवाद यह कुछ भी नहीं

च प्रमाणानां स्वीकारात् स्मृत्यादिवदनुवादोऽपि बहिष्कार्य एव इति ।

ननु अज्ञातावगमस्यैव प्रमात्वे घटोऽयं घटोऽयं इति धारावाहिकज्ञानेषु द्वितीयादीनां अप्रमात्वं स्यात् ।

मैवम्, तत्राप्ययमयमिति उत्तरोत्तरेषां कालांशानामज्ञातानामवगमात्

करता अर्थात् वह न तो अज्ञात वस्तु का प्रकाश करता है, न पुरुष को प्रवृत्त करता है और न प्रमेय की प्राप्ति कराता है, अतः अनुवाद का प्रमा कोटि से सर्वथा बहिष्कार ही कर देना चाहिए ।

आचार्य धर्मोत्तर ने भी ऐसा ही निर्णय दिया है—"अनधिगतविषयं प्रमाणम् । येनैव ज्ञानेन प्रथममधिगतोऽर्थः, तेनैव प्रवर्तितः पुरुषः प्रापितश्चार्थः, तत्रैव चार्थे किमन्येन ज्ञानेनाधिकं कार्यम् ? अतोऽधिगतविषयमप्रमाणम्" (ध. प्र. पृ. १९) । अनुवाद का पूर्ववर्ती (पुरोवादरूप) प्रमा ज्ञान जो कार्य करता है, उससे अधिक अनुवाद कुछ भी नहीं कर सकता, प्रकाशित पदार्थ का पुनः प्रकाश अपेक्षित भी नहीं होता कि अनुवाद की प्रवृत्ति सार्थक हो जाती, श्री कुमारिल भट्ट कहते हैं—

प्रमितस्य प्रमाणे हि नापेक्षा जायते पुनः ।
ताद्रूप्येणा परिच्छिन्ने प्रमाणं निष्फलं परम् ॥

(श्लो. वा. पृ. ३८३)

श्री पार्थसारथि मिश्र ने भी प्रमा का लक्षण किया है—"कारणदोषबाधज्ञानरहितमगृहीतग्राहिज्ञानं प्रमाणम्" (शा. दी. पृ. ४५) । यहाँ सर्वत्र 'प्रमाण' शब्द से 'प्रमा' ज्ञान ही विवक्षित है] ।

शङ्का—अज्ञातविषयक ज्ञान को प्रमा मानने पर 'घटोऽयम्', 'घटोऽयम्'—इस प्रकार के धारावाहिक प्रमा ज्ञानों में द्वितीयादि ज्ञान व्यक्तियों को अप्रमा मानना होगा, क्योंकि वे अज्ञातविषयक ज्ञान न होकर ज्ञातविषयक ही ज्ञान हैं ।

समाधान—यद्यपि धारावाहिक ज्ञानों के 'अयम्-अयम्'—इत्यादि आकार समान हैं, तथापि 'अयम्' शब्द से उल्लिख्यमान प्रत्येक क्षण की

उत्तरे क्षणे घटादिसद्भावस्य च पूर्वज्ञानेनानधिगतत्वात् ।

ननु कालभेदस्यौपाधिकत्वात् केनोपाधिनावच्छिन्नानां कालांशानां अत्रावगम इति वक्तव्यम् । उच्यते—पूर्वपूर्वज्ञानजनितानां प्राकट्यानामुत्तरोत्तरज्ञानपर्यन्तमवस्थानात् तदवच्छिन्नानां कालांशानां तत्र तत्रावगम इति । न च प्राकट्यभेदानां सूक्ष्मत्वात् तदवच्छिन्नानां कालभेदानामपि सूक्ष्मतया दुरवगमत्वं इति

विषय वस्तु भिन्न-भिन्न होती है। प्रथम ज्ञान का विषय प्रथमक्षणावच्छिन्न घट ही है, द्वितीयक्षणावच्छिन्न घट नहीं, अतः द्वितीय ज्ञान प्रथम ज्ञान के द्वारा अगृहीत द्वितीयक्षणावच्छिन्न घट को विषय करने के कारण प्रमा हो जाता है। [श्री पार्थसारथि मिश्र भी कहते हैं—"धारावाहिकेष्वप्युत्तरोत्तरेषां कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणाद् युक्तं प्रामाण्यम्" (शा. दी. पृ. ४५)। मीमांसकगण सूक्ष्म एवं नीरूप काल-खण्ड (क्षण) का भी प्रत्यक्ष मानते हैं, सिद्धान्तचन्द्रिकाकार कहते हैं—"नास्माकं वैशेषिकादिवदप्रत्यक्षः कालः, किन्तु प्रत्यक्ष एव "अस्मिन् क्षणे मयोपलब्ध इत्यनुभवात्। अरूपस्याप्याकाशवत् प्रत्यक्षत्वं भविष्यति, न हि रूपि प्रत्यक्षमित्यस्माक प्रत्यक्षलक्षणं किन्तु संविदेव परोक्षापरोक्षनिर्भासा जायमाना 'इदं प्रत्यक्षम्', 'इदमप्रत्यक्षम्—इति विभजते' (सि. चं. पृ. ४५-४६)। अर्थात् ज्ञानगत परोक्षत्वापरोक्षत्व का नियामक विषय नहीं माना जाता, अपि तु ज्ञान ही विषयगत परोक्षत्वापरोक्षत्व का व्यवस्थापक होता है और प्रत्यक्षत्वादि को ज्ञान का अपना स्वभाव माना जाता है]।

शङ्का— काल का स्वतः भेद नहीं, अपितु औपाधिक भेद माना जाता है, अतः यह यहाँ जिज्ञासा होती है कि धारावाहिक ज्ञानों के विषयीभूत क्षणभेदों की नियामिका उपाधि क्या है ?

समाधान—प्रथम ज्ञान से जनित विषयगत प्राकट्य या ज्ञाततारूप धर्म द्वितीय ज्ञान-पर्यन्त एवं द्वितीयादि ज्ञानों से जनित ज्ञातत्व धर्म तृतीयादि ज्ञानों के होने तक अवस्थित रहते हैं, उन्हीं प्रत्यक्षभूत

वाच्यम् । सूक्ष्मत्वे कमलदलशतं सूच्या युगपद्भिन्नमितिवत् सकृदवबुद्धो घट इति यौगपद्याभिमानप्रसंगात् । इह तु अयमयमिति पुनः पुनः क्रमेणैव प्रतीतेर्धारावाहिकस्वभावसिद्धत्वाद् यौगपद्याभिमानस्य विरोध एव । तस्मात् प्राकट्यभेदानां कालभेदानां च न सूक्ष्मत्वम् । ननु प्राकट्यस्यैवाभावात् कालस्य च प्रत्यक्षत्वाभावाद् कथं कालांशावगम इति चेत्, न, तयोः साधयिष्यमाणत्वादिति ।

"तत्त्वपदेन भ्रमसंशयादीनामयथार्थज्ञानानां निरासः । तत्रायथार्थज्ञान-

---

प्राकट्यरूप उपाधियों से अवच्छिन्न काल-खण्ड (क्षण) धारावाहिक ज्ञानों के द्वारा गृहीत होते हैं । 'प्राकट्यरूप धर्म सूक्ष्म होते हैं, अतः उनसे अवच्छिन्न काल-खण्ड (क्षण) भी सूक्ष्म होने के कारण धारावाहिक ज्ञानों के द्वारा गृहीत क्योंकर होंगे ?'—ऐसा सन्देह करना उचित नहीं, क्योंकि प्राकट्यात्मक धर्मों एवं उनसे अवच्छिन्न काल-खण्डों को यदि सूक्ष्म माना जाता है, तब अनेक क्षणों में 'अयम्', 'अयम्'—इस प्रकार अनेक क्षणों से विशिष्ट घट में अनेककालवर्तित्व का भान न होकर यौगपद्य या ऐककालिकत्व का वैसे ही अभिमान होना चाहिए, जैसे कमल-दल की सैकड़ों तहों का सुई के द्वारा भेदन करने पर सूक्ष्म काल-भेद का भान न होकर भेदन में यौगपद्य का अभिमान होता है— 'कमलदलशतं सूच्या युगपद्विद्धम्' । किन्तु इसके विपरीत धारावाहिक ज्ञान-स्थल पर घटादि के ग्रहण में यौगपद्य का भान न होकर क्रमिकत्व का भान होता है, अतः न तो प्राकट्य धर्म सूक्ष्म होते हैं और न उनसे अवच्छिन्न काल-खण्ड । (१) प्राकट्यरूप धर्म और (२) काल की प्रत्यक्षता— इन दोनों की सिद्धि आगे चलकर की जायगी, अतः इनके अभाव का सन्देह नहीं करना चाहिए ।

'प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानम्'—इस लक्षण में 'तत्त्व' पद के द्वारा भ्रम और संशयादि अप्रमा ज्ञानों की निवृत्ति की जाती है, क्योंकि 'तत्त्व' शब्द का अर्थ 'यथार्थ' है और भ्रमादि यथार्थ नहीं होते, अपि तु शुक्ति

स्याभावात् तत्त्वपदमनर्थकमिति प्राभाकराः प्राहुः । एवं हि तेषां मतम्—इदं रजतम्—इत्यत्र इदम्—इति अगृहीतविशेषं शुक्तिशकलं गृह्यते । रजतम्—इति च रजतमात्रं स्मर्यते । तयोश्च भेदाग्रहात् पुरोवर्तिनि रजतार्थिनः प्रवृत्तिः, न तु शुक्तिशकलस्य रजतत्वेन भानमस्तीति । तत्तज्ज्ञानस्य स्वविषय एव प्रवृत्तिकरत्वनियमाद्रजतज्ञानस्यापि इदंविषयत्वाभावे तत्र प्रवृत्तिर्न सिध्येत् । तथा इदमेव रजतम्—इति सामानाधिकरण्यं तयोरभेदप्रतीतिं विना न सिध्येत् ।

रूप अर्थ के विपरीत रजतरूप अर्थ के प्रकाशक होते हैं [भ्रमस्थल पर भाट्टगण विपरीत या अन्यथा ख्याति मानते हैं—यह आगे कहा जायगा] ।

प्रभाकर-मतानुयायी आचार्यों का जो कहना है कि उक्त लक्षण में अयथार्थ ज्ञान का व्यावर्त्तक 'तत्त्व' पद व्यर्थ है, क्योंकि 'अयथार्थ ज्ञान' नाम की वस्तु ही लोक में प्रसिद्ध नहीं । 'इदं रजतम्'—इत्यादि स्थलों पर उनका मत है कि 'इदम्'—इस प्रकार उस शुक्ति-दल का प्रत्यक्ष होता है, जिसके नीलपृष्ठत्वादि विशेष भाग का भान नहीं होता और 'रजतम्'—इस प्रकार रजत मात्र का स्मरण ज्ञान होता है । वहाँ न तो शुक्ति एवं रजत का भेद गृहीत होता है और न उनके प्रत्यक्ष एवं स्मरणरूप ज्ञानों का । फलतः रजतार्थी व्यक्ति की वहाँ केवल प्रवृत्ति हो जाती है, शुक्ति का रजतत्वेन भान नहीं होता [प्रत्यक्ष ज्ञान केवल शुक्ति सामान्य और स्मरणात्मक ज्ञान केवल रजत का ही भासक होता है, इन दोनों ज्ञानों में से कोई भी ज्ञान शुक्तिरूप इदमर्थ का रजतरूपेण भासक नहीं माना जाता, अतः भ्रम नहीं कहलाता, क्योंकि शुक्त्यादि अन्य पदार्थों का रजतत्वादि अन्य प्रकार से भासक विशिष्ट ज्ञान ही भ्रम कहलाता है] ।

प्राभाकर गणों का वह कहना सङ्गत नहीं, क्योंकि प्रत्येक ज्ञान अपने विषयीभूत पदार्थ में प्रवर्तक होता है, रजत-ज्ञान भी इदमर्थरूप शुक्ति की ओर रजतार्थी का तभी प्रवर्तक हो सकता है, जब कि शुक्ति को विषय करले, अन्यथा उसके द्वारा शुक्ति-खण्ड में रजताभिलाषी व्यक्ति

इत्यादिदिशा निराकरणीयम् । तस्मादन्यथाग्रहणरूपभ्रमादिज्ञानसद्भावात् तन्निरामार्थं तत्त्वपदम् ।

तदेवमज्ञाततत्त्वावगमरूपायाः प्रमायाः करणत्वेन इन्द्रियसन्निकर्षादीनां

की प्रवृत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। दूसरी बात यह भी है कि जब तक शुक्ति और रजत की अभेद-प्रतीति न हो, तब तक 'इदमेव रजतम्'— इस प्रकार का सामानाधिकरण्य–निर्देश नहीं हो सकता, अतः विवश होकर यह मानना पड़ेगा कि 'इदं रजतम्'—यह एक ही विशिष्टात्मक ज्ञान है, जो कि एक ही पदार्थ का इदं और रजतम्—दोनों रूपों में निर्देश करता है, अतः वह भ्रम ज्ञान कहलाता है, उसकी व्यावृत्ति करने के लिए उक्त लक्षण में 'तत्त्व' पद सार्थक है।

अज्ञाततत्त्वावगाही प्रमा ज्ञान के करण होने के कारण इन्द्रियादि को प्रमाण माना जाता है [प्रमाण और फल (प्रमा) का स्वरूप दिखाते हुए श्री कुमारिल भट्ट ने प्रासङ्गिक रूप में कहा है—

"यद्वेन्द्रियं प्रमाणं तस्य वा अर्थेन सङ्गतिः ।
मनसो वेन्द्रियैर्योग आत्मना सर्व एव वा ॥
तदा ज्ञानं फलं तत्र व्यापाराच्च प्रमाणता ।
व्यापारो न यदा तेषां तदा नोत्पद्यते फलम् ॥'

(श्लो० वा० पृ० १५२)

अर्थात् प्रत्यक्ष-स्थल पर जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का पदार्थ से सन्निकर्ष स्थापित होता है, तभी घटादि पदार्थों का ज्ञान होता है, अतः जब इन्द्रिय को या प्रत्येक सन्निकर्ष अथवा तीनों सन्निकर्षों को सामूहिकरूपेण प्रमाण माना जाता है, तब ज्ञान को प्रमा कहा जाता है, क्योंकि 'प्रमाण' शब्द 'प्रमाकरणं प्रमाणम्'—इस व्युत्पत्ति से प्रमा के करण का बोधक है, इन्द्रियादि को अपने सन्निकर्षादि व्यापाररूप असाधारणता के कारण प्रमा का करण माना जाता है, जैसे कि उम्बेक भट्ट ने कहा है—"प्रमाणशब्दः करणवाची, 'साधकतमं

प्रमाणत्वं सिद्धम् । इह च प्रमाशब्देन लक्षणया तत्कार्यभूतस्य प्राकट्यस्यापि प्रतिपादनात् प्राकट्यरूपप्रमाकरणत्वेन ज्ञानस्यापि प्रमाणत्वमाहुः । एतावता च वयं फलप्रमाणवादिन इति गीयामहे ।

करणम्' तमवर्थश्चातिशयः'' (ता.टी. पृ. १३५) । वार्तिककार कहते हैं—

प्रकृष्टसाधनत्वाच्च प्रत्यासत्तेः स एव नः ।
करणं तेन नान्यत्र कारके स्यात् प्रमाणता ॥
(श्लो० वा० पृ० १५५)]

"प्रमाकरणम् प्रमाणम्—इस व्युत्पत्ति में 'प्रमा' शब्द लक्षणा वृत्ति के द्वारा प्रमा के कार्यभूत प्राकट्य (ज्ञातता) का भी बोधक है, अतः प्राकट्यरूप प्रमा के करणीभूत प्रमा ज्ञान को प्रमाण भी कह दिया जाता है, इतने मात्र से हम (भाट्टगण) फल प्रमाणवादी कह दिये जाते हैं । [बौद्ध प्रमाणफलवादी कहे जाते हैं, क्योंकि वे प्रमाणभूतज्ञान को ही फल (प्रमारूप) मानते हैं । उनका कहना है कि कुठारादि करणभूत पदार्थों के आश्रयीभूत पदार्थों पर ही द्वैधीभावरूप फल उत्पन्न हुआ करता है, अतः ज्ञानस्थल पर भी प्रमाण और फल की विषयैकता तभी निभ सकती है, जब कि ज्ञान को ही प्रमाण और फल माना जाय, अतः सौत्रान्तिक का सिद्धान्त है कि बाह्य विषय के द्वारा ज्ञान में आहित विषयाकार प्रमाण, ज्ञान का अपना आकार प्रमा और बाह्य विषय प्रमेय होता है । योगाचार बाह्य विषय नहीं मानते, अतः उनके मत में अनादि वासना-परिकल्पित ज्ञानगत विषयाकार प्रमेय, ज्ञान का स्वाकार प्रमाण तथा स्वसंवित्ति फल है । इनका खण्डन करते हुए वार्तिककार ने कहा है—

"विषयैकत्वमिच्छंस्तु यः प्रमाणं फलं वदेत् ।
साध्यसाधनयोर्भेदो लौकिकस्तेन बाधितः ॥"
(श्लो० वा० पृ० १५७)

इसका स्पष्टीकरण आगे भी किया जायगा] ।

तार्किकास्तु प्रमाकरणं प्रमाणम्। यथार्थानुभवः प्रमा। अनुभवश्च स्मृति-व्यतिरिक्तं ज्ञानमिति लक्षयन्ति। तदनुवादस्याप्रमाण्यसाधनात् तद्व्यावर्तकस्य च पदस्यात्राभावाद् अतिव्याप्तम्। अनुभूतिः प्रमाणम्, स्मृतिव्यतिरिक्ता च संविदनुभूतिरिति प्राभाकराः, तदपि भ्रमादीनां साधनात् तेषामपि स्मृति-व्यतिरिक्तत्वात् तेष्वतिव्याप्तम्।

किञ्च सर्वज्ञानेष्वपि आत्मा ज्ञानस्वरूपं विषय इति त्रितयमपि प्रकाशते। सर्वत्र चात्मस्वात्मांशयोः प्रमाणत्वं प्रत्यक्षत्वमप्यस्तीति तेषां मतम्। ततश्च स्मृतिव्यतिरिक्तज्ञानस्यैव प्रमाणत्वे स्मृतेरात्मस्वात्मांशयोरप्रमाण्यं स्यादित्य-व्याप्तिरप्यस्तीति।

तार्किकगण प्रमा के करण को प्रमाण, यथार्थानुभव को प्रमा तथा स्मृति-भिन्न ज्ञान को अनुभव कहा करते हैं। इनका प्रमा-लक्षण (यथा-र्थानुभवः) अनुवाद में अतिव्याप्त होता है, क्योंकि अनुवाद गृहीत-ग्राही होने के कारण अप्रमा सिद्ध किया जा चुका है और तार्किकों के उक्त प्रमा-लक्षण में अनुवाद-व्यावर्तक कोई पद नहीं है।

प्राभाकरगण जो कहते हैं कि अनुभूति प्रमाण है और स्मृति-भिन्न ज्ञान अनुभूति माना जाता है—

"प्रमाणमनुभूतिः सा स्मृतेरन्या स्मृतिः पुनः।
पूर्वविज्ञानसंस्कारमात्रजं ज्ञानमुच्यते॥"

(प्र पं. पृ. १०४)

वह (प्रभाकर-सम्मत) प्रमा का लक्षण भी भ्रम ज्ञान में अतिव्याप्त है, क्योंकि वह भी स्मृति से भिन्न ज्ञान है और उसकी भी सिद्धि की जा चुकी है। दूसरी बात यह भी है कि प्रभाकर-मतानुसार प्रत्येक ज्ञान आत्मा, विषय और ज्ञान—इस त्रिपुटी का प्रकाशक एवं आत्मविषयकत्वेन प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है, किन्तु आत्मविषयक स्मृति ज्ञान में स्मृति-भिन्नत्व रूप प्रमाणत्व की अव्याप्ति भी है।

अविसंवादि विज्ञानं प्रमाणम् । अविसंवादित्वं च अर्थक्रियाकारित्वमिति बौद्धाः । तत्र भूतभविष्यद्विषयस्यानुमानस्य अर्थक्रियाकारित्वाभावात् अप्रामाण्यं स्यात् । स्मृतेश्च क्वचिदर्थक्रियाकारित्वात् प्रामाण्यं स्यादिति ।

तस्मादज्ञाततत्त्वार्थज्ञानसाधनमेव नः ।
प्रमाणमिति निर्णीतं तद्विशेषानथ ब्रुवे ॥ ४ ॥

२. प्रमाणविशेषाः—

प्रत्यक्षमनुमानं च शब्दं चोपमितिस्तथा ।
अर्थापत्तिरभावश्च षट् प्रमाणानि मादृशाम् ॥ ५ ॥

चार्वाकास्तावदेकं द्वितयमपि पुनर्बौद्धवैशेषिकौ द्वौ
भासवज्ञश्च सांख्यस्त्रितयमुदयनाद्याश्चतुष्कं वदन्ति ।

बौद्धों के मत में जो अविसंवादि ज्ञान को प्रमाण तथा अर्थक्रिया-सामर्थ्य को अविसंवादित्व कहा जाता है—

"प्रमाणमविसंवादि ज्ञानमर्थक्रियास्थितिः ।
अविसंवादनम्" (प्र. वा. पृ. ३–४) ॥"

वह भी उचित नहीं, क्योंकि अतीत और भाविविषयक अनुमान अपने अविद्यमान विषयों में प्रवृत्तिरूप अर्थक्रिया का जनक न हो सकने के कारण अविसंवादी और प्रमाण क्योंकर माना जायगा ? स्मृति ज्ञान अप्रमा है, तथापि कुछ स्थलों पर अर्थक्रियाकारी होता है, अतः उसमें उक्त प्रमा लक्षण अतिव्याप्त भी है । फलतः अन्यान्य मतों का निराकरण हो जाने पर हमारा अज्ञाततत्त्वार्थ-ज्ञान प्रमा और उसका करण प्रमाण सिद्ध हो जाता है ।

२. विशेष प्रमाण—

हम भाट्टगण छः प्रमाण मानते हैं—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द, (४) उपमान, (५) अर्थापत्ति तथा (६) अनुपलब्धि या अभाव ।

चार्वाकगण एक मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण मानते हैं, बौद्ध और वैशेषिक

प्राहुः प्राभाकराः पञ्चकमपि च वयं तेऽपि वेदान्तविज्ञाः
षट्कं पौराणिकास्त्वष्टकमभिदधिरे संभवैतिह्ययोगात् ॥ ६ ॥

(१) प्रत्यक्षम् –

तत्र इन्द्रियसन्निकर्षजं प्रमाणं प्रत्यक्षम्। कानि पुनरिन्द्रियाणि? उच्यते— चक्षूरसनघ्राणस्पर्शनश्रोत्राणि मनश्चेति षडिन्द्रियाणि।

चक्षुर्नाम कनीनिकान्तरगतं तेजोऽथ जिह्वाग्रग-
स्तोयांशो रसनं क्षितेरवयवो घ्राणं च घोणोदरे।

(प्रत्यक्ष और अनुमान) दो, नैयायिक प्रवर भासर्वज्ञ और सांख्य तीन (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द), उदयनाचार्यादि तार्किक (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द) चार, प्राभाकर (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति) पाँच, हम (भाट्ट) और वेदान्तिगण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि) छः तथा पौराणिकाचार्य (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि, सम्भव और ऐतिह्य नाम के) आठ प्रमाण मानते हैं ॥ ६ ॥

(१) प्रत्यक्ष –

इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जनित प्रमा ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमा और उसके करण को प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। इन्द्रिय का लक्षण पार्थसारथि मिश्र ने किया है—"यत्सम्प्रयुक्तेऽर्थे विशदावभासं ज्ञानं जनयति, तदिन्द्रियम्" (शा. दी. पृ. ३६)। भाट्टगण (१) चक्षु, (२) रसन, (३) घ्राण, (४) स्पर्शन, (५) श्रोत्र और (६) मन छः इन्द्रियाँ मानते हैं।

नेत्रगत काली पुतली के अन्दर रहनेवाले तेज को चक्षु, जिह्वा के अग्र भाग में विद्यमान जलांश को रसना, नासान्तर्वर्ती पार्थिव अंश को घ्राण, पूरे शरीर में व्याप्त वायवीय भाग को त्वक्, कर्ण-कुहरस्थ आकाश को श्रोत्र इन्द्रिय कहते हैं। पार्थसारथि मिश्र ने शास्त्रदीपिका

सर्वाङ्गप्रसृताश्च मारुतलवास्त्वङ्नाम कर्णोदर-
व्योमैव श्रवणं मनस्तु विभु तद्देहे च कार्यावहम् ॥ ७ ॥

तत्र रूपज्ञानस्य केनचित्कारणेन भवितव्यमिति सामान्येन सिद्धौ दीपादितेजस एव रूपज्ञानहेतुत्वदर्शनात् तैजसं चक्षुः कल्प्यते। तथा रसज्ञानस्यापि कारणकल्पनायां रसव्यञ्जकत्वमपामेव शुष्कवस्तुषु दृष्टमिति रसनमाप्यतया कल्प्यते। एवं चन्दनगतपार्थिवनिम्बत्वगनुलेपनस्य गन्धाभिव्यञ्जकत्वदर्शनात् गन्धाभिव्यञ्जकत्वेन कल्प्यमानं घ्राणं पार्थिवं भवति। व्यजनपवनस्य चाङ्गसंगिसलिलस्पर्शाभिव्यञ्जकत्वदर्शनात् स्पर्शोपलम्भकस्य त्वगिन्द्रियस्य वायवीयत्वम्। शब्दग्राहकतया कल्प्यस्य श्रोत्रस्य तु परिशेषादाकाशात्म-

---

(पृ० ३६) में कर्णशष्कुल्यवच्छिन्न दिग्भाग को श्रोत्र कहा है। मन विभु (विश्व-व्याप्त) होने पर भी तत्तद्देहावच्छेदेन कार्यकारी माना जाता है। मनोविभुत्व का निराकरण न्यायकुसुमाञ्जलि के तृतीयस्तवक में किया गया है ॥ ७ ॥

कोई भी कार्य अपने कारण के विना उत्पन्न नहीं होता, अतः रूप-विषयक ज्ञानात्मक कार्य के द्वारा सामान्यतः चक्षुः इन्द्रिय की सिद्धि हो जाने पर लोक में दीपादि तैजस पदार्थ ही रूपविषयक ज्ञान के जनक होते देखे जाते हैं, अतः उस चक्षु में तैजसत्व की सहज कल्पना हो जाती है। उसी प्रकार रस-ज्ञान की उपपत्ति के लिए जलीय रसना इन्द्रिय की कल्पना की जाती है, क्योंकि सूखे पदार्थों का रस तब तक नहीं आता, जब तक उन्हें पानी से गीला कर न चबाया जाय, फलतः जल में ही रस-व्यञ्जकत्व निर्णीत होता है। चन्दन-खण्ड पर निम्ब-त्वक् (नीम वृक्ष की छाल) का लेप कर देने पर चन्दन की गन्ध अभिव्यक्त हो जाती है, चन्दन-त्वक् पार्थिव है, अतः गन्ध-ग्रहणार्थ कल्प्यमान घ्राण इन्द्रिय को पार्थिव मानना पड़ता है। शरीर से लगे जल-कणों का शीत स्पर्श पंखे की हवा से उजागर हो जाता है, अतः स्पर्शोपलम्भक त्वक् इन्द्रिय वायवीय सिद्ध होती है। शब्द-ग्राहकत्वेन कल्प्यमान श्रोत्र को

कत्वम् । चक्षुरादीनां खल्वन्येन्द्रियारम्भकेणारब्धत्वं न दृष्टमिति तेजःप्रभृतीनामन्येन्द्रियारम्भकत्वात् तेषां श्रोत्रत्वं न भवति । भूतात्मकत्वमेव च बहिरिन्द्रियाणां दृष्टमिति अवशिष्टस्याकाशस्य भूतस्यैव श्रोत्वं इति । तार्किकास्तु शब्दस्याकाशगुणत्वात् तद्ग्राहकस्य श्रोत्रस्याकाशत्वमिति साधयन्ति । तत्तस्य गुणत्वासिद्धेरयुक्तम् ।

मनस्तु सुखाद्यपरोक्षज्ञानसाधनेन्द्रियत्वेन कल्प्यते । तस्य च विभुत्वं साधयिष्यते । तथापि शरीरावच्छिन्नस्यैव तस्येन्द्रियत्वमिति तत्प्रदेश एव कार्याणि करोति । रूपादिज्ञानेष्वपि तच्चक्षुरादिपरतन्त्रं प्रवर्तत एव । अनुमानादिष्वपि लिङ्गादिसहायमिति स्थितिः ।

अत्र चक्षुःश्रोत्रयोः प्राप्यकारित्वे विवादोऽस्तीति तयोरपि बहिरिन्द्रिय-

---

पार्थिवादि न मान सकने के कारण परिशेषतः आकाशरूप मानना पड़ता है, क्योंकि प्रत्येक भूत द्रव्य किसी एक ही ज्ञानेन्द्रिय का आरम्भक होता है, उससे अन्य ज्ञानेन्द्रिय का नहीं, तेज, पृथिवी, जल और वायु—ये चारों भूत अपने-अपने नियत चक्षु, घ्राण, रसन और त्वक् के जनक होते हैं, श्रोत्र के आरम्भक नहीं हो सकते, परिशेषतः आकाश को ही श्रोत्र मानना पड़ता है। तार्किक गण जो शब्द को आकाश का गुण मान कर श्रोत्र में आकाशात्मत्व सिद्ध करते हैं। उनका वह साधन-प्रकार युक्त नहीं, क्योंकि शब्द में गुणत्व ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि शब्द की गतिशीलता उसे द्रव्य सिद्ध करती है।

सुखादि के अपरोक्ष-साधनत्वेन मन की कल्पना की जाती है। उसमें विभुत्व की सिद्धि आगे की जायगी। वह व्यापक होने पर भी शरीरावच्छिन्न होकर इन्द्रिय कहलाता है, अतः शरीर के अन्दर ही अपना कार्य करता है। चक्षुरादि इन्द्रियों के अधीन होकर मन रूपादि के ग्रहण में भी प्रवृत्त हो जाता है। इतना ही नहीं लिङ्गादि की सहायता से अनुमानादि ज्ञानों का उत्पादन भी करता है।

चक्षु और श्रोत्र—इन दो इन्द्रियों की प्राप्यकारिता में विवाद है,

त्वात् त्वगादिवत् प्राप्यकारित्वं साधनीयम् । ततश्च चक्षुषः पृथुतरपृथिवीधरादिदर्शनात् पृथ्वग्रत्वमपि तेजःस्वभावसिद्धमाश्रयणीयम् । तथा उन्मीलनक्षण एव दूरतरशनैश्चरादिदर्शनात् व्याप्यावस्थितेन बाह्यतेजसा निर्गमनसमय एवैकीभावः कल्पनीयः । न च बाह्यतेजसः सकलव्यापित्वात् केरलेभ्योऽपि गङ्गादर्शनप्रसङ्गः, अदृष्टोपगृहीतेनैवालोकभागेनैकीभावात् । तार्किकास्तु तदिदं दूरदर्शनं वेगातिशयात्साधयन्ति । तदनन्तयोजनान्तरितेष्वपि शनैश्चरादिषु झटितिदर्शनं वेगमात्रादसंभाव्यमिति उपेक्षितमस्माभिः । एतानि च चक्षु

अतः उन दोनों में वाह्येन्द्रियत्वरूप हेतु के द्वारा त्वगिन्द्रिय के समान प्राप्यकारित्व का अनुमान कर लेना चाहिए । [प्राप्यकारित्व का अर्थ होता है—अपने विषय से जुड़कर इन्द्रियों की विषय-ग्राहकता । विषय और इन्द्रिय का जोड़-मेल दो प्रकार से होता है—(१) विषय-देश पर इन्द्रिय पहुँचे या (२) इन्द्रिय-देश पर विषय पहुँचे । चक्षु तैजस होने के कारण स्वयं विषय-देश पर वैसे ही पहुँच जाता है, जैसे दीप-प्रभा घटादि पर फैल जाती है । श्रोत्र को नैयायिक गतिशील नहीं मानते, अतः जो शब्द श्रोत्र-देश से जा टकराता है, उसका ही वह ग्रहण करता है । इन्द्रियों को बौद्धगण अप्राप्यकारी और नैयायिकादि प्राप्यकारी मानते हैं । न्याय के सूत्र, भाष्य और वार्तिकादि में विशदरूप से इसका वर्णन किया है और प्रमाणवार्तिकादि में बौद्ध-मत विस्तार से वर्णित है]। चक्षु विषय-देश पर जाता तो है ही इसकी एक और विशेषता यह है कि अपने उद्गम-स्थल से जैसे-जैसे दूर जाता है, वैसे-वैसे फैलता जाता है, यहाँ तक कि दूर से समूचे विशाल पर्वत का ग्रहण कर लेता है, समीप से नहीं, अतः यह वैसे ही पृथ्वग्र माना जाता है, जैसे तेजोद्रव्य का अपना स्वभाव है कि उसकी किरणें आगे-आगे सभी दिशाओं में फैलती जाती हैं । पलक खुलते ही चक्षु अत्यन्त दूरस्थ गुरु, शुक्र और शनैश्चरादि ग्रहों का भी तुरन्त ग्रहण कर लेता है, अतः यह भी मानना पड़ेगा कि ग्रह-व्यापी वाह्य तेज के साथ चाक्षुष तेज शीघ्र अपना

रादीनि अनुद्भूतरूपस्पर्शत्वात् प्रत्यक्षेण न गृह्यन्ते इति ।

सिद्धानीन्द्रियाणि । सन्निकर्षस्तु द्विविधः—संयोगः संयुक्ततादात्म्यं चेति । तत्र पृथिव्यप्तेजसां चक्षुस्त्वगिन्द्रियाभ्यां संयोगाद् ग्रहणम् । वायोस्त्वक्संयोगात् । दिङ्नभस्तमसां दृक्संयोगात् । शब्दस्य श्रोत्रसंयोगात् । आत्मनो मनःसंयोगात् । अत्र विभुनोरप्यात्ममनसोरजन्यसंयोगसाधनात् संयोगः । कालस्य तु

तादात्म्य स्थापित कर दूरस्थ ग्रहादि का तत्काल भासक हो जाता है । 'वाह्य तेज तो विश्व-व्याप्त है, अतः उससे चाक्षुष तेज का एकीभाव मान लेने पर समस्त विश्व का दर्शन होना चाहिए, फिर तो केरल प्रान्त से ही हरिद्वारस्थ गङ्गा का दर्शन क्यों नहीं होता ?'—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि चाक्षुष तेज वाह्य तेज के उसी भाग से तादात्म्य स्थापित कर सकता है, जो कि विषय-ग्रहण के नियामक अदृष्ट से प्रभावित होता है । तार्किक गण जो कहते हैं कि चक्षु अत्यन्त वेगवान् होने के कारण दूरस्थ ग्रहों का तुरन्त दर्शन कर लेता है, वह युक्ति-युक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि अनन्त योजन दूर शनैश्चरादि को चक्षु अपने वेगमात्र से झट देख लेगा—यह सम्भव नहीं । कथित चक्षुरादि इन्द्रियों के रूपादि गुण अनुद्भूत होते हैं, अतः इन्द्रियों का प्रत्यक्ष नहीं होता ।

इन्द्रियों की सिद्धि हो गई, अव उनका विषय के साथ सन्निकर्ष विचारणीय है । सन्निकर्ष केवल दो प्रकार का होता है—(१) संयोग और (२) संयुक्त-तादात्म्य । पृथिवी, जल और तेज का चक्षु और त्वक् इन्द्रियों के द्वारा उनके संयोग सन्निकर्ष से; वायु का त्वक्संयोग से; दिशा, आकाश और अन्धकार का नेत्र-संयोग से; शब्द द्रव्य का श्रोत्र-संयोग से; आत्मा का मनः-संयोग से ग्रहण होता है । यद्यपि आत्मा और मन—दोनों विभु द्रव्य हैं और विभु द्रव्यों का अप्राप्त-प्राप्तिरूप संयोग सम्भव नहीं, तथापि अप्राप्तप्राप्तिरूपता जन्य संयोग का लक्षण है, आत्मा और मन का जन्य संयोग नहीं अजन्य संयोग माना जाता है । काल का तो सभी इन्द्रियों के द्वारा संयोग सन्निकर्ष से ग्रहण होता है, क्योंकि

युगपदादिप्रत्ययस्य कालविषयत्वेन्द्रियजन्यत्वयोर्वक्ष्यमाणत्वात् तस्य च सर्वेन्द्रियजन्यत्वात् सर्वैरपीन्द्रियैः संयोगाद् ग्रहणम् ।

यदा तु चक्षुरादिसंयुक्तेषु पूर्वोक्तेषु पृथिव्यादिषु तदात्मभूतानां जातिगुणकर्मणां ग्रहणं तदा संयुक्ततादात्म्यं सन्निकर्षः । तदुक्तम्—

रूपादीनां तु संयुक्तद्रव्यतादात्म्यमेव नः ।
प्रतीतिकारणं तस्मान्न संबन्धान्तरस्पृहा ।। इति ।

यदा तु जातिगुणकर्मगतानां सत्तारूपत्वकर्मत्वादीनां ग्रहणं तदा तेषामेव परंपरया तादात्म्यसंभवात् संयुक्ततादात्म्यमेव सन्निकर्ष इति मन्यामहे । यद्वा यथा परे रूपत्वादिग्रहणाय संयुक्तसमवेतसमवायमाश्रयन्ते तथास्माकमपि संयुक्ततदात्मतादात्म्यं नाम तृतीयः सन्निकर्षोऽस्तु, का हानिः ? जातिगुण-

---

'युगपद्ग्रहणम्', 'विलम्बेन ग्रहणम्'—इत्यादि प्रतीतियों में कालविषयकत्व और इन्द्रिय-जन्यत्व की सिद्धि आगे की जायगी और उक्त प्रतीतियाँ सभी इन्द्रियों से उत्पन्न होती हैं ।

जब चक्षुरादि से संयुक्त पूर्वोक्त पृथिव्यादि में तादात्म्येन अवस्थित जाति, गुण और कर्मादि का ग्रहण होता है, तब संयुक्त-तादात्म्य सन्निकर्ष माना जाता है, जैसा कि कहा गया है—

रूपादीनां तु संयुक्तद्रव्यतादात्म्यमेव नः ।
प्रतीतिकारणं तस्मान्न सम्बन्धान्तरस्पृहा ।।

जब संयुक्त-तादात्म्य सम्बन्ध से ही रूपादि का ग्रहण सम्पन्न हो जाता है, तब उसके लिए समवायादि सम्बन्धान्तर की कल्पना व्यर्थ है । जब गुण, कर्मादिगत सत्ता, रूपत्वादि धर्मों का ग्रहण होता है, तब सत्तादि का द्रव्य के साथ परम्परया तादात्म्य सम्भव हो जाता है, अतः वहाँ भी संयुक्त-तादात्म्य ही सन्निकर्ष माना जाता है । अथवा जैसे तार्किकगण रूपत्वादि का ग्रहण करने के लिए 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष मानते हैं, वैसे ही 'संयुक्ततदात्मतादात्म्य' नाम का तृतीय सन्निकर्ष मान लेने में हमारी क्या हानि है ? जाति गुण और कर्म का

कर्मणां च स्वाश्रयैस्तादात्म्यमेव संबन्ध इति पश्चात्साधयिष्यते। तस्माद् द्वेधा त्रेधा वा सन्निकर्षः।

तार्किकाः पुनस्तादात्म्यस्थाने समवायमभिषिञ्चन्तोऽन्यथा सन्निकर्षमाहुः— संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेषणविशेष्यभावश्च इति षोढा सन्निकर्षः। तत्र चक्षुरादिभिः संयोगाद् द्रव्याणां ग्रहणम्। चक्षुरादिसंयुक्ते द्रव्ये संयुक्तसमवायाद् गुणादीनां ग्रहणम्। संयुक्ते द्रव्ये समवेतेषु गुणादिषु संयुक्तसमवेतसमवायाद् गुणत्वादीनां ग्रहणम्। शब्दस्य चाकाशगुणत्वादाकाशात्मकेन श्रोत्रेण समवायाद् ग्रहणम्। शब्दत्वस्य तु श्रोत्र-समवेते शब्दे समवेतसमवायाद् ग्रहणम्। अभावस्य तु भावधर्मभूतयोः संयोग-समवाययोरभावात् संयुक्तभूतलादिविशेषणविशेष्यरूपसन्निकर्षेण ग्रहणम्। तथैव

अपने आश्रय के साथ तादात्म्य ही सम्बन्ध होता है—यह आगे सिद्ध किया जायगा, अतः इन्द्रियों के अपने विषय के साथ दो या तीन ही सम्बन्ध होते हैं।

तार्किकगण तादात्म्य के पद पर समवाय सम्बन्ध को अभिषिक्त कर सन्निकर्षों की अन्यथा व्यवस्था किया करते हैं। उनके मतानुसार (१) संयोग, (२) संयुक्तसमवाय, (३) संयुक्तसमवेतसमवाय, (४) समवाय, (५) समवेतसमवाय और (६) विशेषणविशेष्यभाव छः सन्निकर्ष होते हैं। उनमें चक्षुरादि के द्वारा संयोग सम्बन्ध से द्रव्य का, चक्षुरादि से संयुक्त द्रव्य में रहनेवाले गुणादि का संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष से, संयुक्त द्रव्य में समवेत गुणादिगत गुणत्वादि का ग्रहण संयुक्तसमवेतसमवाय सम्बन्ध से होता है। शब्द आकाश का गुण है, अतः आकाशात्मक श्रोत्र के द्वारा समवाय सन्निकर्ष से तथा श्रोत्र-समवेत शब्द में वर्तमान शब्दत्वादि का ग्रहण समवेतसमवाय से होता है। संयोग और समवाय भावरूप पदार्थों के सम्बन्ध होते हैं, अभाव में संभावित नहीं, अतः अभाव का ग्रहण संयुक्त-विशेषणता या संयुक्त-विशेष्यता सन्नि-कर्ष से होता है [घटाभाववद् भूतलम्—ऐसी प्रतीति में अभाव विशेषण

समवायस्याप्यद्रव्यत्वेन संयोगाभावात् समवायान्तराश्रयणे अनवस्थाप्रसंगाद् विशेषणविशेष्यभाव एव सन्निकर्ष इति ।

तत्राद्यं त्रिविधं तावन्नाममात्रेण भिद्यते ।
समवायादयस्त्वन्ये सन्निकर्षा निराश्रयाः ॥ ८ ॥

शब्दस्य हि श्रोत्रगुणत्वाभावात् समवायाख्यः समवेतसमवायाख्यश्च सन्निकर्षो निरवकाशः । अभावस्य च प्रत्यक्षत्वाभावात् समवायस्य च शशशृङ्गायमाणत्वाद् विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्षोऽपि हेयः । किं च चक्षुःसंयुक्तेनार्थेन अभावसमवाययोर्विशेषणविशेष्यभावसन्निकर्षो न संभवति । दण्डी पुरुष इत्यादौ

है, अतः उसके साथ चक्षुरादि का संयुक्त भूतलादि-निरूपित विशेषणता तथा भूतले घटाभावः—ऐसी प्रतीति में अभाव विशेष्य है, अतः उसके साथ संयुक्त भूतल-निरूपित विशेष्यता सम्बन्ध होता है]। उसी प्रकार समवाय के साथ संयोग या समवाय सन्निकर्ष नहीं बन सकता, क्योंकि संयोग सम्बन्ध द्रव्य के साथ ही होता है और समवाय द्रव्य नहीं। समवाय के साथ समवाय सन्निकर्ष मानने पर अनवस्था होती है, अतः समवाय के साथ भी विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष वैसे ही माना जाता है, जैसे अभाव के साथ।

तार्किकों के इन कथित छः सम्बन्धों में प्रथम के तीन (संयोग, संयुक्तसमवाय और संयुक्तसमवेतसमवाय) सम्बन्धों का भाट्टाभिमत तीन (संयोग और संयुक्ततादात्म्य और संयुक्ततदात्मतादात्म्य) सम्बन्धों से कोई भेद नहीं, केवल संज्ञाएँ भिन्न हैं। शेष समवायादि तीन सन्निकर्ष निराधार हैं, क्योंकि शब्द को हम (भाट्ट) श्रोत्र का गुण नहीं मानते, अतः शब्द के साथ न तो समवाय सन्निकर्ष माना जा सकता है और न उसमें रहनेवाले शब्दत्वादि के साथ समवेतसमवाय सन्निकर्ष। अभाव का प्रत्यक्ष (इन्द्रियों से ग्रहण) नहीं माना जाता और समवाय तो खपुष्प के समान ही है, अतः विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष के मानने का कोई

संवन्धान्तरपूर्वकस्यैव विशेषणविशेष्यभावस्य दर्शनाद्अ भावसमवाययोश्चार्थेन संवन्धान्तराभावादिति ।

प्राभाकरास्तु संयोगः, संयुक्तसमवायः, समवाय इति त्रेधा सन्निकर्षमाहुः । तन्मते रूपत्वादीनामभावात् संयुक्तसमवेतसमवायो नाश्रयणीयः । शब्दत्वस्याभावात् समवेतसमवायोऽपि । अभावस्य चाभावात् समवायस्य च प्रत्यक्षत्वाभावाद् विशेषणविशेष्यभावोऽपि नाश्रयणीय इति । तदपि मतं रूपत्वादीनां साधनात् तार्किकैरेव निराकृतम् । तस्मादुक्तप्रकार एव सन्निकर्ष इति ।

तच्चेन्द्रियसन्निकर्षजं ज्ञानं द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकं चेति ।

सार्थक्य और औचित्य नहीं । दूसरी बात यह भी है कि चक्षु-संयुक्त भूतलादि के साथ अभाव और समवाय का विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष सम्भव नहीं, क्योंकि 'दण्डी पुरुषः'—इत्यादि स्थलों पर संयोगादि सम्बन्धान्तरपूर्वक ही विशेषणविशेष्यभाव देखा जाता है, किन्तु अभाव और समवाय के साथ कोई सम्बन्धान्तर नहीं माना जाता ।

प्राभाकरगण जो यह कहते हैं कि संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय —ये तीन ही सन्निकर्ष हैं, जैसा कि श्री शालिकनाथ ने कहा है— "त्रिविध एव सन्निकर्षः प्रत्यक्षहेतुः—(१) संयोगः, (२) संयुक्तसमवायः, (३) समवायश्चेति" (प्र० पं० पृ० १३४) । प्राभाकर के मत में रूपत्वादि धर्म नहीं माने जाते, अतः 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष मानने की कोई आवश्यकता नहीं । इसी प्रकार शब्दत्व धर्म भी नहीं माना जाता, अतः समवेतसमवाय मानने की क्या आवश्यकता ? अभाव अधिकरण से अतिरिक्त नहीं माना जाता और समवाय का प्रत्यक्ष नहीं होता, अतः विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष भी मानना व्यर्थ है ।

प्राभाकर के उस मत का निराकरण तो तार्किकों ने ही रूपत्वादि की सिद्धि के माध्यम से कर डाला है, अतः हमने जो सन्निकर्ष कहे हैं, वे ही न्याय-सङ्गत हैं ।

तत्रेन्द्रियसन्निकर्षानन्तरमेव द्रव्यादिस्वरूपमात्रावगाहि शब्दानुगमशून्यं यत्संमुग्ध-ज्ञानं जायते, तद् विशिष्टकल्पनाभावात् निर्विकल्पकमित्युच्यते। यत्तु तदनन्तरं शब्दस्मरणसहकृतं जात्यादिविशिष्टवस्तुविषयं रक्तोऽयं घटोऽयम्—इत्यादिव्यक्त-विज्ञानं तत्सविकल्पकम्।

इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य ज्ञान द्विविध होता है—(१) निर्विकल्पक और (२) सविकल्पक। उनमें इन्द्रिय सन्निकर्ष के अनन्तर ही जो द्रव्यादि के स्वरूप मात्र को विषय करनेवाला शब्द-सम्बन्ध-रहित वालमूकादि साधारण ज्ञान के समान सम्मुग्धाकार ज्ञान उत्पन्न होता हैं, वह विशिष्ट कल्पनाओं से रहित होने के कारण निर्विकल्पक कहलाता है [जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

अस्ति ह्यालोचनज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
वालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥
न विशेषो न सामान्यं तदानीमनुभूयते।
तयोराधारभूता तु व्यक्तिरेवावसीयते॥

(श्लो० वा० पृ० १६९)

धर्मकीर्ति ने भी निर्विकल्पक का लगभग यही स्वरूप वताया है—"अभिलापसंसर्गयोग्यप्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना, तया रहितम्" (न्या० विं० पृ० ४७)। अर्थात् दूर से एक वस्तु को देख कर सर्व-प्रथम ज्ञान होता है—'अस्ति किञ्चिदेतत्।' उसके पश्चात् जैसे-जैसे वह वस्तु समीप आती जाती है, वैसे-वैसे उसर पर पाँच कल्पनाएँ पनती जाती हैं—(१) नाम-कल्पना (२) जाति-कल्पना, (३) गुण-कल्पना, (४) क्रिया-कल्पना और (५) द्रव्य-कल्पना। इन कल्पनाओं से रहित सम्मुग्धाकार प्रथम ज्ञान को निर्विकल्पक कहा जाता है]। निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर जो संज्ञादि-स्मरणपूर्वक जात्यादि से विशिष्ट वस्तु को विषय करनेवाला ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सविकल्पक कहलाता है—(१) कपिला नामास्याः, (२) इयं गौः, (३) पीतवर्णेयम्, (४) आग-

तत्र शाब्दिका निर्विकल्पकं नास्तीत्याहुः । तदुक्तम्—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते । इति ।

तदयुक्तम्, पूर्वमर्थदर्शनाभावे शब्दस्मरणस्य हेत्वभावप्रसंगात् ।

सौगतास्तु निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षमाश्रित्य सविकल्पकस्य प्रमाणत्वं प्रत्यक्षत्वं च नास्तीत्याहुः । तदप्ययुक्तम्, तस्य प्रत्यक्षतया लोकसिद्धस्य निषेधे

च्छतीयम्, (५) सास्नादिमतीयम् ।

वैयाकरणों का जो कहना है कि निर्विकल्पक नाम का कोई ज्ञान होता ही नहीं, भर्तृहरि ने स्पष्ट कहा है—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ॥
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ॥

(वाक्य० १।१२३-२४)

प्रकाशक के विना कोई वस्तु प्रकाश में नहीं आ सकती अर्थगत शब्दोपरक्तता सहज-सिद्ध अनादि है, वही अर्थ की प्रकाशिका मानी जाती है, उसके विना वाच्य वस्तु का प्रकाश हो ही नहीं सकता ।

वह वैयाकरण-मत अयुक्त है, क्योंकि यदि शब्दानुवेध के विना पहले शुद्ध वस्तु का भान नहीं होता, तब शब्द-स्मरण कैसे होगा ? क्योंकि वस्तु को देख कर ही उसके वाचक शब्द का स्मरण होता है ।

बौद्धों का जो कहना है कि निर्विकल्पक वस्तु का ज्ञान ही प्रत्यक्ष प्रमाण होता है और सविकल्पक-ज्ञान न तो प्रमाण होता है और न प्रत्यक्ष । [धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण किया है—"प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" (न्या० वि० पृ० ४०) किन्तु आचार्य दिङ्नाग ने वहाँ 'अभ्रान्त' पद नहीं जोड़ा था, उनका आशय था कि सविकल्पक ज्ञान भ्रमात्मक होता है, अतः निर्विकल्पक कह देने मात्र से अभ्रान्तत्व का लाभ हो जाता है । श्री दिङ्नाग के गुरुवर आचार्य वसुवन्धु ने विकल्प

लोकविरोधात् । तदुक्तम्—

चन्द्रशब्दाभिधेयत्वं शशिनो यो निषेधति ।
स एव सविकल्पस्य प्रत्यक्षत्वं निवारयेत् ॥ इति ।

(श्लो० वा० पृ० ३६७)

किं च सविकल्पकानन्तरमेवार्थक्रियादर्शनात् तस्यार्थक्रियाकारित्वलक्षणं प्रमाणत्वं दुर्निवारम् ।

ननु अर्थक्रियाकारित्वमस्य अर्थतोऽतिविप्रकर्षाभावाद् दैवागतमेव, न

को वितथ ही माना है—"वितथविकल्पाभ्यासवासनानिद्रया प्रसुप्तो लोक:" (वि० मा० पृ० ६३)। यद्यपि अनुमान ज्ञान भी जाति विकल्प को विषय करने के कारण भ्रम ज्ञान ही है, तथापि व्यवहारत: अविसंवादी होने के कारण प्रमाण माना जाता है, कमलशील ने स्पष्ट कहा है—"यत्र तु पारम्पर्येण वस्तुप्रतिबन्ध:, तत्रार्थाविसंवादो भ्रान्तत्वेऽपि" (त० सं० पृ० ३३८)] ।

बौद्धों का वह कहना सर्वथा अयुक्त है, क्योंकि लोक में 'दण्डी पुरुष:'--इत्यादि सविकल्प ज्ञानों को प्रत्यक्ष प्रमाण माना जाता है, अत: उसका निषेध करने पर लोक-विरोध होता है, [जैसा कि श्री कुमारिल भट्ट ने कहा है—

तत: परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया ।
बुद्ध्याऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन सम्मता ॥

(श्लो० वा० पृ० १७२)

अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञान के अनन्तर नाम, जात्यादि विकल्पों से युक्त वस्तु जिस सविकल्पक बुद्धि के द्वारा निश्चित होती है, वह सविकल्पक बुद्धि भी लोक में प्रत्यक्ष प्रमाण मानी जाती है]। दूसरी बात यह भी है कि सविकल्पक ज्ञान के अनन्तर ही अर्थक्रिया (प्रवृत्ति की सफलता) देखी जाती है, अत: अर्थ क्रियाकारित्वरूप प्रमाणत्व उसमें अटल है।

शङ्का—सविकल्पक ज्ञान में अर्थक्रियाकारित्व स्वाभाविक नहीं माना

स्वाभाविकम्, यथाहुः—

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥"

(प्र० वा० ३।५७)

इति । वस्तुतस्त्वयं विकल्पो मिथ्या, अवस्तुभूतसामान्यादिविषयत्वादिति चेन्मैवम्, अनुमानविकल्पस्यापि अप्रामाण्यप्रसङ्गात् सामान्यादेर्वस्तुत्वस्य साधयिष्यमाणत्वाच्च, अतः प्रमाणमेव सविकल्पकम् ।

ननु तथापि कथमस्य प्रत्यक्षशब्दवाच्यत्वं निर्विकल्पकव्यवधानेन साक्षा-

---

जाता, अपि तु दैवात् आ जाता है, क्योंकि वह विषय से बहुत दूर नहीं होता, जैसा कि आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है—

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥"

(प्र० वा० ३।५७)

एक व्यक्ति मणि की प्रभा को मणि समझकर मणि उठाने दौड़ा और दूसरा व्यक्ति प्रदीप की प्रभा को मणि समझकर दौड़ा। यद्यपि वे दोनों भ्रान्त हैं, उनके मिथ्या ज्ञानों में कोई अन्तर नहीं, तथापि उनमें से पहले की प्रवृत्ति सफल हो जाती है कि मणि-प्रभा के समीप ही मणि मिल जाती है किन्तु दूसरे का प्रयत्न अत्यन्त निष्फल जाता है ।

वस्तुतः यह सविकल्पक ज्ञान अवस्तुभूत नाम, जात्यादि को विषय करने के कारण मिथ्या ही होता है ।

समाधान—यदि सविकल्पक ज्ञान मिथ्या है, तब बौद्ध-सम्मत अनुमान प्रमाण भी अप्रमाण हो जायगा, क्योंकि वह अवस्तुभूत वह्नित्व सामान्य को ही विषय करता है। नाम, जात्यादि पदार्थों को जो खपुष्पादि के समान अवस्तु माना जाता है, वह भी संगत नहीं, क्योंकि उनमें वस्तुत्व सिद्ध किया जायगा, अतः सविकल्पक ज्ञान प्रमाण ही है ।

शङ्का—फिर भी सविकल्पक ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता,

दक्षजत्वाभावात्। परंपरयाक्षजस्य प्रत्यक्षत्वे अनुमानादीनामपि प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। मैवम्, सविकल्पकस्यापि निर्विकल्पकवदेव साक्षादक्षजत्वात्। यथाहुराचार्याः—

ताश्चेन्द्रियानुसारेण जायन्ते पञ्च कल्पनाः।
यदि त्वालोच्य संमील्य नेत्रे कश्चिद्विकल्पयेत्।
प्रत्यक्षं नैव मन्यन्ते तल्लौकिकपरीक्षकाः॥ इति।

अपि च परंपरया अक्षजत्वेऽपि नानुमानादिषु प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः। पङ्कजा-

---

क्योंकि वह साक्षात् इन्द्रिय से जन्य नहीं, अपि तु इन्द्रिय-जन्य निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा जनित होता है। इसी प्रकार के परम्परया अक्ष-जन्य ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानने पर अनुमानादि ज्ञानों को भी प्रत्यक्ष ही मानना होगा।

समाधान—सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति-पर्यन्त इन्द्रिय का व्यापार निवृत्त नहीं होता, अपितु वना रहता है, अतः सविकल्पक ज्ञान भी निर्विकल्प के समान ही साक्षात् इन्द्रिय-जन्य माना जाता है, जैसा कि आचार्यों ने कहा है—

"ताश्चेन्द्रियानुसारेण जायन्ते पञ्च कल्पनाः।
यदि त्वालोच्य सम्मील्य नेत्रे कश्चिद्विकल्पयेत्।
प्रत्यक्षं नैव मन्यन्ते तल्लौकिकपरीक्षकाः॥"

नाम, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य (अवयवी) नाम की पाँच कल्पनाएँ इन्द्रियों के अनुसार ही उत्पन्न होती हैं। यदि आलोचनारूप निर्विकल्पात्मक ज्ञान के अनन्तर नेत्रों को वन्द करके (नेत्र-व्यापार समाप्त करके) कोई व्यक्ति सविकल्पक ज्ञान उत्पन्न करता, तव अवश्य ही उसे प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं माना जा सकता था, किन्तु ऐसा न तो लौकिक (शिक्षार्थी) पुरुष स्वीकार करते हैं और न परीक्षक (शिक्षक) व्यक्ति, अतः सव्यापार इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण सविकल्पक भी प्रत्यक्ष ज्ञान ही है। दूसरी वात यह भी है कि यदि परम्परया इन्द्रिय-जन्य होने

दिष्विव योगरूढिस्वीकारेण अनुमानादिषु प्रत्यक्षशब्दस्याप्रवृत्तेः ।

अत्र गुरुराह—न पङ्कजादिषु रूढिरस्ति अवयवशक्त्यैव पद्मे वृत्त्युपपत्तेः । कुमुदादिष्वप्रवृत्तिस्तु तेष्वप्रयोगादेव भविष्यतीति । तदयुक्तम्, पङ्कजशब्दस्य पद्मे वृत्तौ का सामग्री इति चिन्तायां योगमात्रस्य कुमुदादिष्वपि सद्भावेन व्यभिचाराद् रूढिरपि सामग्रीत्वेन कल्प्या, योगश्च प्रतीतो न हातुं शक्यः, इत्युभयसिद्धेः । तस्माद्योगरूढिशक्त्या निर्विकल्पकसविकल्पकयोरेव प्रत्यक्षशब्द-

---

के कारण सविकल्पक को प्रत्यक्षपदास्पद माना जाता है, तब अनुमान में भी 'प्रत्यक्ष' शब्द की वाच्यत्वापत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि 'प्रत्यक्ष' पद केवल (अक्षमक्षं प्रति वर्तते—इस व्युत्पत्ति के अनुसार) यौगिक नहीं माना जाता, अपि तु जैसे पङ्कजादि पद ['पङ्काज्जातः'—इस व्युत्पत्ति के आधार पर पङ्कोत्पन्न कुमुदिनी आदि वस्तु मात्र को न कह कर पङ्कजात कमल में रूढ होकर) योगरूढ़ माना जाता है, वैसे ही प्रत्यक्ष शब्द इन्द्रिय-जन्य निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान में रूढ़ होकर योगरूढ़ है, अनुमान का वाचक कथमपि नहीं हो सकता ।

आचार्य प्रभाकर का जो कहना है कि पङ्कजादि शब्द कमलादि में रूढ़ नहीं, अपितु यौगिक मात्र हैं, क्योंकि अवयवार्थ के द्वारा ही उनकी कमलादि में प्रवृत्ति होती है, कुमुदिनी आदि की उनमें वाचकता न होने का कारण यह है कि उनमें 'पङ्कज' पद का कहीं प्रयोग नहीं होता । उसी प्रकार 'प्रत्यक्ष' शब्द भी योगरूढ़ न होकर केवल अवयव-शक्ति के द्वारा ऐन्द्रियक सविकल्पक और निर्विकल्पक ज्ञान मात्र का बोधक होता है ।

प्रभाकर का वह कहना असंगत है, क्योंकि यदि केवल अवयवार्थ को लेकर 'पङ्कज' शब्द कमल का बोधक माना जाता है, तब कुमुदादि में भी अवयवार्थत्व (पङ्क-जन्यत्व) विद्यमान होने के कारण कुमुदादि का भी वह बोधक क्यों नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में रूढ़ि को भी 'पङ्कज' पद-प्रवृत्ति की सामग्री मानना होगा । योगार्थ का भी परित्याग नहीं किया जा सकता, अतः योग और रूढ़ि—दोनों शक्तियों के द्वारा 'पङ्कज' पद

वाच्यत्वं न अक्षापेक्षाणामप्यनुमानादीनामिति सिद्धम् ।

सविकल्पकेन च द्रव्यजातिगुणकर्मनामभिः पञ्चधा विकल्पो भवति । यथा 'वेणुमानयम्', 'गोपोऽयम्', 'श्यामोऽयम्', 'गायत्ययम्', 'गोविन्दोऽयम्' इति ।

प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षमपि षष्ठो विकल्प इति केचित् । तन्न, नामकल्पनायामन्तर्भावात् । नाम्ना हि पूर्वमनुभूतरूपे स्मारिते तद्रूपविशिष्टतया अर्थस्य कल्पना नामकल्पनेत्युच्यते । तेन गोविन्दोऽयम्—इत्यस्य अयमर्थः—योऽस्माभिर्गोविन्दशब्द-

---

के समान ही 'प्रत्यक्ष' पद की प्रवृत्ति सिद्ध होती है, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

"निर्विकल्पकबोधेऽपि नाक्षं केवलकारणम् ।
तत्पारम्पर्यजाते वा रूढिः स्यात् पङ्कजादिवत् ॥"

(श्लो० वा० पृ० १७५)

फलतः उक्त निर्विकल्पक और सविकल्पकरूप प्रत्यक्षों में ही 'प्रत्यक्ष' पद की वाच्यता सिद्ध होती है, परम्परया अक्ष-जन्य अनुमानादि में नहीं ।

सविकल्पक के द्वारा (१) द्रव्य, (२) जाति, (३) गुण, (४) कर्म और (५) नाम--इन पाँच विकल्पों का प्रत्यक्ष होता है, जैसे—(१) 'यह वंशीधर है', (२) 'यह गोप जाति का है', (३) 'यह श्याम वर्ण का है', (४) 'यह रसिया गा रहा है' तथा (५) 'यह गोविन्दनामा है ।'

कतिपय विद्वानों का जो कहना है कि प्रत्यभिज्ञारूप प्रत्यक्ष छठा विकल्प है । उनका वह कहना युक्ति-संगत नहीं, क्योंकि वह नाम-कल्पना के अन्तर्गत आ जाता है, क्योंकि संज्ञा शब्द के द्वारा स्मारित पिण्ड में 'यह वही है'—इस प्रकार पूर्वरूप-विशिष्टतया पदार्थ की कल्पना को ही नाम-कल्पना कहा जाता है, अतः 'गोविन्दोऽयम्'—इसका यही अर्थ होता है कि जिस लावण्यमय विग्रह को हमने गोविन्दपद-वाच्यत्वेन निश्चित किया था, यह वही है । जब नामास्पदता (शब्द-वाच्यता) को माध्यम

वाच्यतया पूर्वं गृहीतः, स एवायम्— इति । यदा तु शब्दवाच्यत्वमतन्त्रीकृत्य पूर्वापररूपयोरैक्यावगम एव तात्पर्यम्, तदा स एवायम्—इति प्रत्यभिज्ञा स्पष्टा भवति । सा च प्रत्यभिज्ञा संस्कारसहितेनेन्द्रियेणैकज्ञानत्वेन जायते । तथा च स इति अयमिति च द्वे भाने जन्येते । तत्र स इति भानजननशक्तिः संस्कारकृता । अयम्— इति भानजननशक्तिरिन्द्रियकृता इत्यलमनेन ।

इह च प्रत्यक्षज्ञानेषु विवक्षाभेदेन इन्द्रियस्य तत्सन्निकर्षस्य ज्ञानस्य वा

न बनाकर पूर्व-दृष्ट विग्रह की सम्मुखस्थ विग्रह से एकता की अनुभूति होती है, तब 'स एवायम्'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा नाम-कल्पना के रूपान्तर में स्पष्ट हो जाती है । वार्तिककार कहते हैं—

"तत्र शब्दार्थसम्बन्धं प्रमातुः स्मरतोऽपि या ।
बुद्धिः पूर्वगृहीतार्थसन्धानादुपजायते ॥"
(श्लो० वा० पृ० २०२)

यह प्रत्यभिज्ञा एक विशिष्ट ज्ञान के रूप में संस्कार-सहित इन्द्रिय के द्वारा उत्पादित होती है । उसका विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है कि वहाँ 'सः' और 'अयम्'—ये दो भान उत्पन्न होते हैं, उनमें 'सः'—इस प्रकार के भान की जनिका शक्ति संस्कार-प्रसूत और 'अयम्'—इस प्रकार के भान की उत्पादिका शक्ति इन्द्रिय की देन होती है ।

[श्री पार्थसारथि मिश्र ने भी प्रत्यभिज्ञा को नाम-कल्पना का ही एक प्रकार माना है—"डित्थशब्देन तद्वाच्यं पूर्वावगतं डित्थमुपस्थाप्य तदात्मना पुरःस्थितोऽर्थो विकल्प्यते—डित्थोऽयमिति । किमुक्तं भवति ? योऽसावस्माकं डित्थः सोऽयं पुरःस्थितो नान्य इति । सेयं व्यक्तिप्रत्यभिज्ञैव पञ्चमीकल्पना, सा च शब्दविदां नामरूपितैव भवतीति नामकल्पनेति व्यवह्रियते" (शा. दी पृ ४२)] ।

[जैसे न्यायसूत्रकार ने "प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत्" (न्या. सू. २।१।१६) इस सूत्र में इन्द्रियादि का प्रमाण-प्रमा-भाव विवक्षाधीन अनियत माना है, वैसे ही] प्रत्यक्ष ज्ञान की करणता इन्द्रिय, सन्निकर्ष या

करणत्वं भवति, अतः सिद्धम्—इन्द्रियसन्निकर्षजं प्रमाणं प्रत्यक्षमिति ।

गुरुस्त्वाह—साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षम् । तच्च मेयमातृप्रमास्वरूपमिति त्रिपुटं भवतीति । तत्र किमिदं साक्षात्त्वं नाम ?

ननु साक्षाद्धीः स्वरूपधीः । अक्षाद्धि स्वेनैव रूपेण भानम् । लिङ्गादिभ्यस्तु

विशेषण-ज्ञानादि में मानी जा सकती है, [जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है—

"यद्वेन्द्रियं प्रमाणं स्यात् तस्य वाऽर्थेन सङ्गतिः ।
प्रमाणफलते बुद्ध्यो विशेषणविशेष्ययोः ।
हानादिबुद्धिफलता प्रमाणं चेद्विशेष्यधीः ॥"

(श्लो. वा. पृ. १५२-५६)

अर्थात् इन्द्रिय या सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर विशेषण का निर्विकल्पक ज्ञान प्रमा, विशेषण-ज्ञान को प्रमाण मानने पर विशेष्य-ज्ञान प्रमा और विशेष्य-ज्ञान को प्रमाण मानने पर हानादि (हान, उपादान और उपेक्षा) के ज्ञान को प्रमा कहा जाता है] । इस प्रकार इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष-जन्य ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है—यह सिद्ध हो गया ।

प्रभाकर का जो कहना है—साक्षात्प्रतीति को प्रत्यक्ष कहते हैं, उस प्रतीति में प्रमेय, प्रमाता और प्रमा—इस त्रिपुटी का भान होता है । [श्री शालिकनाथ मिश्र ने कहा है—

साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं मेयमातृप्रमासु सा ।
मेयेष्विन्द्रिययोगोत्था द्रव्यजातिगुणेषु सा ॥

(प्र० पं० पृ० १०४)

अर्थात् साक्षात्कारवती प्रतीति का नाम प्रत्यक्ष है, वह प्रमेय, प्रमाता (आत्मा) और प्रमा (स्वयं अपने स्वरूप) को विषय करती है । द्रव्य, जाति और गुणरूप प्रमेयांश में वह इन्द्रिय के संयोग, संयुक्तसमवाय और समवाय—इन तीन सन्निकर्षों से जनित होती है] ।

प्रभाकर के उस प्रत्यक्ष-लक्षण में जिज्ञासा होती है कि साक्षात् प्रतीति

परसंबन्धिरूपेणैव अग्न्यादीनां भानादसाक्षत्त्वम्—इति चेत्, तर्हि नामादिपर-संबन्धिरूपेण भानात् सविकल्पकस्य असाक्षात्त्वं स्यात्। अथ तत्र परसंबन्धि-रूपभाने सत्यपि स्वरूपधीरप्यस्ति— इत्युच्यते, तर्हि अनुमानादिष्वपि तथाभा-वात् साक्षात्त्वं स्यात्। आत्मस्वात्मनोस्तु सर्वज्ञानेषु प्रत्यक्षत्वकथनं निराक-रिष्यामः, इत्यास्तामेतत्।

कल्पनापोढम् अभ्रान्तं प्रत्यक्षम्—इति बौद्धाः। !कल्पनापोढपदेन सविक-ल्पानां निरासः। अभ्रान्तपदेन निर्विकल्पकेऽपि भ्रमत्वेनाभिमतानां केशोण्डुका-दिज्ञानानामति, तदपि सविकल्पकस्य प्रत्यक्षत्वसाधनादव्याप्तमिति।

क्या है ? यदि कहा जाय कि जिस प्रतीति में विषय वस्तु का स्वरूपेण भान होता है, वह साक्षात्प्रतीति है, जैसे 'अयं घटः'—इत्यादि प्रतीतियों में घटादि का स्वरूपेण ही भान होता है, अतः इन्हें साक्षात्प्रतीति कहते हैं और अनुमित्यादि-प्रतीतियों में वह्न्यादि का स्वरूपेण नहीं, अपि तु धूम-सम्वन्धित्वादिरूपेण भान होता है, अतः इन्हें साक्षात्प्रतीति नहीं कहा जाता।' तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तव तो सविकल्पक प्रत्यक्ष को भी साक्षात्प्रतीति नहीं कह सकेंगे, क्योंकि उसमें भी नामादि विकल्प-सम्वन्धित्वेन ही घटादि पदार्थों का भान होता है, स्वरूपेण नहीं। यदि कहा जाय कि सविकल्प में पर-सम्वन्धित्वेन विषय का भान होने पर भी स्वरूपतः भी भान होता है, तव उसी प्रकार अनुमित्यादि में भी साक्षात्व का आपादन किया जा सकता है। सभी ज्ञानों में जो आत्मा (प्रमाता) और स्वरूप (प्रमा) का भान कहा जाता है, उसका भी निराकरण आगे किया जायगा।

वौद्धों का जो कहना है कि "प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्" (न्या० वि० पृ० ४०)। 'कल्पनापोढ' पद के द्वारा सविकल्पक ज्ञान का निरास किया जाता है और 'अभ्रान्त' पद के द्वारा तैमिरिकादिके केश ग्रन्थ्याद्या-कार निर्विकल्पक भ्रम की निवृत्ति की जाती है।

वह वौद्धों का कथन भी उचित नहीं, क्योंकि सविकल्पक को प्रत्यक्ष

यत्पुनर्भूतभविष्यदादिविषयं योगिज्ञानमीश्वरज्ञानं च इन्द्रियसन्निकर्षजत्वाभावेऽपि अपरोक्षमस्ति इति, तत्संग्रहणाय अपरोक्षप्रमाव्याप्तं प्रत्यक्षं इति लक्षयितव्यम् – इति तार्किकैरुक्तम् । तदप्ययुक्तम्, प्रत्यक्षस्य विद्यमानोपलम्भनियमाद् भूतादीनां प्रत्यक्षत्वस्यानुपपत्ते, तस्मादस्मदुक्तं प्रत्यक्षलक्षणं रमणीयम् ।

इन्द्रियव्यतिरिक्तानि द्रव्याण्येषां च जातयः ।
प्रायश्च गुणकर्माणि प्रत्यक्षाणीति वक्ष्यते ॥ ९ ॥

प्रमाण सिद्ध किया जा चुका है, अत. उसमें उनका प्रत्यक्ष-लक्षण अव्याप्त है । [श्री चिदानन्द पण्डित ने भी यही दोष दिया है—"नापि कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्, सविकल्पस्याप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्" (नीति० पृ० ५६) ।

तार्किक गणों का जो कहना है कि योगी एवं ईश्वर का अतीतानागतादिविषयक ज्ञान इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य न होने पर भी प्रत्यक्ष होता है, अतः उसका संग्रह करने के लिए 'अपरोक्षप्रमा-व्याप्तं प्रत्यक्षम्' – ऐसा प्रत्यक्ष का लक्षण करना चाहिए [श्री गङ्गेशोपाध्याय ने कहा है – "प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम् । निर्विकल्पके ईश्वरयोगिप्रत्यक्षे च प्रत्यक्षत्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धम्" (न्या० त० चि० पृ० ५७१) ।

वह तार्किकों का कहना अयुक्त है, क्योंकि प्रत्यक्ष नियमतः वर्तमान विषय का ही ग्राहक होता है, अतीतानागत का नहीं, [जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" (श्लो० वा० पृ० १६०) । चिदानन्द पण्डित ने इसे ही दुहराया है—"प्रत्यक्षस्यासूक्ष्माव्यवहितविद्यमानार्थत्वव्याप्तेः" (नीति० पृ० १३६) । परिशेषतः भाट्टसम्मत प्रत्यक्ष-लक्षण ही रमणीय है । प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय होते हैं – 'इन्द्रिय-भिन्न द्रव्य, द्रव्यगत जातियाँ, गुण और कर्म ।' चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है –

मानमिन्द्रिययोगोत्थमिह प्रत्यक्षमुच्यते ।
द्रव्यं जातिर्गुणः कर्म विषयश्चतुर्विधः ॥ (नीति पृ० ५७)

(२) अनुमानम् –

व्याप्यदर्शनादसन्निकृष्टार्थज्ञानमनुमानम्, यथा पर्वते धूमवत्त्वदर्शनादग्निमत्त्वज्ञानम् । किमत्र धूमस्य व्याप्यत्वम् ? उच्यते—यद्यतो वह्निर्न वर्तते तत्तस्य व्याप्यम् । धूमश्च दहनादन्यत्र न वर्तत इति धूमस्य व्याप्यत्वम् । दहनश्च धूमादन्यत्रापि वर्ततेऽङ्गारावस्थायामिति तस्य व्यापकत्वमेव । तदियमग्निधूमयोरन्योन्यव्याप्त्यभावाद्विषमव्याप्तिः । क्वचित्तु समव्याप्तिरप्यस्ति यथा कृतकत्वानित्यत्वयोः । तत्र खलु कृतकानां सर्वेषामनित्यत्वमस्ति, अनित्यानां सर्वेषां कृतकत्वमप्यस्तीति समव्याप्तिरेव ।

का पुनरियं व्याप्तिः ? उच्यते –स्वाभाविकः संवन्धो व्याप्तिः । स्वाभावि-

---

(२) अनुमान –

व्याप्य-दर्शन-जनित असन्निकृष्टार्थविषयक ज्ञान को अनुमान कहा जाता है, जैसे—पर्वत में धूमवत्त्व के दर्शन से जनित अग्निमत्त्व का ज्ञान । यहाँ धूम में अग्नि की व्याप्यता क्या है ? जो पदार्थ जिसके विना नहीं रहता, वह उसका व्याप्य कहा जाता है, धूम अग्नि को छोड़ कर नहीं रहता, अतः धूम में अग्नि की व्याप्यता मानी जाती है । जो जिसके विना भी रह जाता है, उसको उसका व्यापक कहा जाता है, अग्नि धूम के विना भी निर्धूम अङ्गारों में रह जाती है, अतः अग्नि को धूम का व्यापक माना जाता है, व्याप्य नहीं । यहाँ धूम में ही अग्नि की व्याप्ति रहती है, अग्नि में धूम की नहीं, अतः इस व्याप्ति को विषम व्याप्ति कहते हैं । जो व्याप्ति परस्पर दो पदार्थों में रहती है, उसे समव्याप्ति कहा जाता है, जैसे –कृतकत्व और अनित्यत्व में, क्योंकि सभी घटादि कृतक (जन्य) पदार्थों में अनित्यत्व और सभी अनित्य पदार्थों में कृतकत्व रहता है । वार्तिककार ने उभय विधि व्याप्ति (श्लो० वा० पृ० ३४८ में) दिखाई है—

यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनतोऽपि वा भवेत् ।
स व्याप्यो व्यापकस्तस्य समो वाऽप्यधिकोऽपि वा ॥

व्याप्ति का लक्षण क्या है ? स्वाभाविक सम्वन्ध को व्याप्ति और

कत्वं चोपाधिराहित्यम्। उपाधिरिति च साध्यस्य साक्षात्प्रयोजकं हेत्वन्तर-मुच्यते। तत्सद्भावे हि तद्दत्तमेव साध्यसंबन्धं क्वचिल्लभमानः प्रस्तुतो हेतुः स्वयमेवासाधको भवति। तद्यथा---अग्नीषोमीयहिंसा अधर्मः, हिंसात्वाद्, बाह्य-हिंसादिवद्—इत्यवैदिकानां सांख्यानां च प्रयोगः। तत्र निषिद्धत्वमुपाधिः। तदेव ह्यधर्मत्वस्य साक्षात्प्रयोजकम्। बाह्यहिंसानामपि च निषिद्धत्वकृतमेवाध-

---

उपाधि-रहित सम्वन्ध को स्वाभाविक कहा जाता है। चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है—"साध्येन साधनस्य निरुपाधिकोऽन्वयः" (नीति-पृ० १३७)। साध्य के साक्षात् प्रयोजक हेत्वन्तर को उपाधि कहते हैं। जहाँ पर वैसा उपाधिरूप हेत्वन्तर होता है, वहाँ उसमें वस्तुतः रहने वाले व्याप्तिरूप साध्य-सम्वन्ध का आरोप करके वादी ने जिस हेतु का प्रयोग साध्य की सिद्धि के लिए किया है, वह साध्य का साधक (सोपाधिक होने के कारण) नहीं होता, जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

अन्ये परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा॥
निषिद्धत्वेन हिंसानामधर्मत्वं प्रयुज्यते।
तदभावे न तत्सिद्धिर्हिंसात्वादप्रयोजकात्॥

(श्लो० वा० पृ० ३५१-५२)

अर्थात् ऐसे हेतु जो पर-प्रयुक्त (उपाधि-प्रयुक्त या औपाधिक) व्याप्ति के आश्रय (सोपाधिक) होते हैं, ऐसे हेतु भले ही पक्ष में दृष्ट हों, साध्य के साधक नहीं होते, जैसे कि किसी अवैदिक या साङ्ख्याचार्य के द्वारा प्रयोग किया गया—'अग्नीषोमीयहिंसा, अधर्मः, हिंसात्वाद्, वाह्य-हिंसावत्।' इस अनुमान में 'निषिद्धत्व' उपाधि है, क्योंकि निषिद्धत्व' धर्म ही वह हेत्वन्तर है, जो कि अधर्मत्व का साक्षात् प्रयोजक होता है, वाह्य हिंसा में भी वही अधर्मत्व का साधक होता है, क्योंकि 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—इत्यादि निषेध वाक्यों के द्वारा वाह्यहिंसा निषिद्ध होती है, अतः 'निषिद्धत्व' में रहनेवाली अधर्मत्व-व्याप्ति को लेकर प्रयुक्त

र्मत्वमिति क्रतुहिंसाया निषिद्धत्वाभावे हिंसात्वमात्रेणाधर्मत्वं न सिध्यतीति।

साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्त उपाधिः—इति तस्य लक्षणम्। निषिद्धत्वं हि साधनभूतहिंसात्वदेशे सर्वत्र न वर्तते, क्रतुहिंसायां निषिद्धत्वाभावात्। साध्यभूतेन चाधर्मत्वेन निषिद्धत्वस्य समव्याप्तिरस्ति—निषिद्धानां सर्वेषामप्यधर्मत्वाद्, अधर्मभूतानां च सर्वेषां निषिद्धत्वादिति।

तत्सामग्रीकत्वं महानसत्वं पर्वतान्यत्वं चाग्न्यनुमितौ उपाधिर्मा भूदिति तद्विशेषणत्रितयम्। अत्र यदि साध्यसमव्याप्त उपाधिरित्येवोच्येत, तर्हि धूमवत्त्वेनाग्निमत्त्वे साध्यमाने अग्निसामग्रीकत्वमुपाधिः स्यात्। अस्ति हि तस्याग्निना समव्याप्तिः, अतस्तन्निवृत्त्यर्थमुक्तं साधनाव्यापक इति। अग्निसामग्री हि साधन-

---

हिंसात्व हेतु अग्नीषोमीय-हिंसा में अधर्मत्व का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें निषिद्धत्व नहीं, अपितु "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत"—इस विधि वाक्य के द्वारा विहितत्व रहता है।

उपाधि का लक्षण चिदानन्द पण्डित ने किया है—"सर्वत्र साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्याप्तत्वम्" (नीति. पृ. १३६)। 'निषिद्धत्व' धर्म साधनभूत हिंसात्व का अव्यापक है, क्योंकि यत्र-तत्र हिंसात्वम्, तत्र-तत्र निषिद्धत्वम्'—इस प्रकार की व्यापकता अग्नीषोमीय-हिंसा में न रहने के कारण) निषिद्धत्व में नहीं रहती और साध्यभूत अधर्मत्व की समव्याप्ति निषिद्धत्व में रहती है, अतः निषिद्धत्व में उक्त उपाधि का लक्षण घट जाता है। 'पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वात्'—इस सद्धेतु में तत्सामग्रीकत्व, महानसत्व और पर्वतान्यत्व धर्म उपाधि न बन जायँ इस लिए उक्त उपाधि-लक्षण में 'साधनाव्यापकत्व', 'साध्यव्यापकत्व' और व्याप्तिगत 'समत्व'—ये तीन विशेषण लगाए गए हैं। यदि 'साध्यसमव्याप्त उपाधिः'—इतना ही लक्षण किया जाता, तब अग्नि-साधक धूम हेतु में अग्निसामग्रीकत्व धर्म उपाधि हो जाता, क्योंकि यत्र-यत्र अग्निमत्त्वम्, तत्र-तत्र अग्नि-सामग्री-युक्तत्वम्। यत्र-यत्र अग्निसामग्रीवत्त्वम्, तत्र-तत्र अग्निमत्त्वम्—इस प्रकार का साध्यसमव्याप्तत्व घट जाता है]।

भूतस्य धूमस्य व्यापिकैव । धूमे सति सर्वत्राग्निसामग्रया अवश्यं भावात् । यदि तु साधनाव्यापक इत्येवोच्येत, तर्हि तत्रैव महानसत्वमुपाधिः स्यात् । न हि धूमे सति सर्वत्र महानसत्वमस्तीति साधनाव्यापकत्वस्य भावात् । अतस्तन्निवृत्त्यर्थं साध्यव्यापकत्वमाश्रयणीयम् । न हि महानसत्वस्याग्निव्यापकत्वमस्ति, मठादिष्वग्निसद्भावेऽपि तदभावात् । अथ यदि साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक उपाधिरित्येवोच्येत, तथापि पर्वतेतरत्वमुपाधिः स्यात्, पर्वतेतरत्वं विनापि पर्वते धूमस्य दर्शनेन साधनाव्यापकत्वाद्, अग्निमत्त्वेन पूर्वमवधारितानां सर्वेषामपि पर्वतेतरत्वेन साध्यव्यापकत्वस्यापि सद्भावाद्; अतस्तन्निवृत्त्यर्थं समशब्दः । न हि तस्याग्निना समव्याप्तिरस्ति, पर्वतेतरेषां सर्वेषां

उसकी निवृत्ति के लिए साधनाव्यापकत्व कहा है। साधनाव्यापकत्व अग्निसामग्रीकत्व में नहीं, क्योंकि जहाँ-जहाँ धूम रहता है, वहाँ-वहाँ अवश्य ही अग्नि और अग्नि की सामग्री रहती है, अतः उसमें धूम की व्यापकता ही है, अव्यापकता नहीं। यदि 'साधनाव्यापक उपाधिः'-- इतना ही कहते तब उसी हेतु में 'महानसत्व' धर्म उपाधि हो जाता, क्योंकि धूम के रहने पर सर्वत्र महानसत्व रहता ही है—ऐसा नहीं, अतः वह साधन का अव्यापक है। उसकी व्यावृत्ति के लिए साध्य-व्यापकत्व कहना आवश्यक है, महानसत्व में अग्निरूप साध्य का व्यापकत्व नहीं रहता, क्योंकि मठादि में अग्नि का सद्भाव होने पर भी महानसत्व का अभाव होता है। यदि 'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापक उपाधिः'— इतना ही कहते, तव 'पर्वत-भिन्नत्व' धर्म युक्त हेतु में उपाधि हो जाता, क्योंकि पर्वत-भिन्नत्व के न रहने पर भी पर्वत में धूम देखा जाता है, अतः वह साधन का अव्यापक है और अग्निरूप साध्य का व्यापक भी, क्योंकि पर्वत में तो अग्नि का सन्देह ही है, निश्चय नहीं, अग्नि का जहाँ-जहाँ महानसादि में निश्चय है, वहाँ-वहाँ सर्वत्र पर्वत-भिन्नत्व है। पर्वत-भिन्नत्व की निवृत्ति के लिए केवल साध्य-व्यापकत्व न कह कर साध्य-समव्यापकत्व कहा गया है। समव्यापकत्व का अर्थ होता है—'व्यापकत्वे सति

अग्निमत्त्वाभावादिति ।

अन्यत्र वा विशेषणकृत्यं दर्शयितव्यम्—यदि साध्यसमव्याप्त एवोपाधिः स्यात्, तर्हि शब्दोऽनित्यः जन्यत्वाद्, घटवद् इत्यत्र सकर्तृकत्वमुपाधिः स्याद्, अनित्यत्वसकर्तृकत्वयोः समव्याप्तिसद्भावात् । अतस्तन्निवृत्त्यर्थमुक्तम्—साधनाव्यापक इति । सकर्तृकत्वं हि साधनाभिमतस्य जन्यत्वस्यापि व्यापकमिति साधनव्यापकत्वाद् अनुपाधित्वम् । साधनाव्यापकस्यैवोपाधित्वे तु तत्रैव सावयवत्वं घटत्वम्—इत्यादिरुपाधिः किं न स्यात् ? न हि जन्यानामपि गुणादीनां सावयवत्वं घटत्वं वा अस्तीति साधनाव्यापकत्वस्य सद्भावाद्, अतः साध्यव्या-

---

व्याप्यत्व ।' पर्वत-भिन्नत्व में अग्नि का व्यापकत्व रहने पर भी 'यत्र-तत्र पर्वत-भिन्नत्वम् , तत्र-तत्र अग्निमत्त्वम्' —इस प्रकार पर्वत-भिन्नत्व में अग्नि की व्याप्यता या अग्नि में पर्वत-भिन्नत्व की व्यापकता नहीं रहती, क्योंकि पर्वत से भिन्न सर्वत्र जलाशयादि में (अग्नि का सद्भाव नहीं ।

अथवा उक्त उपाधि-लक्षण-घटक पदों का प्रयोजन अन्य स्थल पर तार्किक रक्षा (पृ० ६६–६७) के अनुसार इस प्रकार दिखाना चाहिए —यदि साध्य के समव्याप्त धर्म को ही उपाधि माना जाय, तब 'शब्दोऽनित्यः, जन्यत्वाद् , घटवत्'— यहाँ पर 'सकर्तृकत्व' धर्म उपाधि बन जाता, क्योंकि अनित्यत्व और सकर्तृकत्व की समव्याप्ति लोक-प्रसिद्ध है, अतः सकर्तृकत्व की व्यावृत्ति करने के लिए कहा—'साधनाव्यापकः' । 'सकर्तृकत्व' धर्म साधनभूत जन्यत्व का भी व्यापक ही है, अव्यापक नहीं, फलतः साधन का व्यापक होने के कारण उक्त स्थल पर 'सकर्तृकत्व' उपाधि नहीं बन सकता । 'साधनाव्यापक उपाधिः'—इतना ही कहने पर वहीं पर 'सावयवत्व' और 'घटत्वादि' धर्म उपाधि हो जाते, क्योंकि 'जन्यत्व' धर्म तो गुण और कर्मादि में भी रहता है, किन्तु वहाँ न सावयवत्व रहता है और न घटत्वादि, अतः सावयवत्वादि में साधनाव्यापकत्व निश्चित है । उनकी निवृत्ति करने के लिए साध्य-व्यापकत्व का भी उपाधि के लक्षण में समावेश करना होगा । सावयवत्व और घट-

पकत्वमप्याश्रयणीयम् । सावयत्वघटत्वादीनां गुणक्रियादावनित्यत्वव्यापकत्वाभावात् । तथापि शब्देतरत्वस्य अनित्यत्वव्यापकत्वाद्, उपाधित्वं स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं समशब्दः । इदं तु अनुमानं व्याप्तिप्रदर्शनमात्रपरमेव, न स्वसिद्धान्तपरमितिवेदितव्यम् ।

ननु 'पर्वतेतरत्वाभावेऽप्यग्निरस्ति चेत्तदायं दोषः स्याद्'—इति तर्कस्यासंभवेन पर्वतेतरत्वस्याग्निव्यापकत्वमेव नास्ति । सत्यम्, तथापि तस्य व्यापक-

---

त्वादि में साध्यभूत अनित्यत्व की व्यापकता नहीं रहती, क्योंकि गुण और क्रियादि में अनित्यत्व के रहने पर भी सावयवत्वादि नहीं रहते। तथापि शब्देतरत्व अनित्यत्व का व्यापक होने से उपाधि बन सकता है, अतः उसका निरास करने के लिए 'सम' शब्द रखा गया है। शब्देतरत्व धर्म साध्यरूप अनित्यत्व का समव्याप्त नहीं, क्योंकि अनित्यत्वेन निश्चित सभी शब्देतर घटादि पदार्थों में अनित्यत्व के रहने पर भी सभी शब्देतर आत्मादि में अनित्यत्व नहीं रहता, 'शब्दोऽनित्यः, कृतकत्वात्'—यह अनुमान केवल तार्किकों की रीति पर व्याप्ति और उपाधि-लक्षण का पद-कृत्य दिखाने के लिए रख दिया गया है, मीमांसा-सिद्धान्त के अनुगुण नहीं, प्रत्युत विरुद्ध है, क्योंकि मीमांसक 'शब्द' को नित्य मानते हैं और उक्त अनुमान के द्वारा शब्द में अनित्यत्व सिद्ध किया जाता है।

शङ्का—जैसे वह्नि में धूम-व्यापकत्व का सन्देह निवृत्त करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है—'यदि वह्न्यभावेऽपि धूमः स्यात्, तदा वह्निजन्यो न स्यात्'। वैसे पर्वतेतरत्व में साध्य-व्यापकत्व का सन्देह दूर करने के लिए 'पर्वतेतरत्वाभावेऽपि यद्यग्निः स्यात्, तदाऽयं दोषः स्यात्'—इस प्रकार का कोई तर्क दिखाया नहीं जा सकता, अतः पर्वतेतरत्व में अग्निरूप साध्य की व्यापकता का निश्चय न हो सकने के कारण उपाधित्व क्योंकर निश्चित होगा? [श्रीनिवासाचार्य ने न्यायपरिशुद्धि की व्याख्या में कहा है—"पक्षेतरत्वादेरनुग्राहकतर्काभावादेव साध्यव्यापकत्वं ग्रहीतुं न शक्यते" (न्या० परि० पृ० १०९)। श्रीवर्धमानोपाध्याय

त्वेनावगमाद् अक्लेशेन तन्निरासार्थं समशब्दः चिदानन्दादिभिराश्रितः ।

समव्याप्तिमतामेव सर्वथापि ह्युपाधिता ।
इति विस्पष्टतार्थं च समशब्दो न दूषणम् ॥ १० ॥

अस्य चोपाधेः साध्यव्यापकत्वाद्यनिश्चये शङ्कितोपाधित्वम् , यथा मैत्रीतनयत्वेनाष्टमगर्भस्य श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहारपरिणाम उपाधिः । अष्ट-

---

ने भी समव्यापकत्व-घटित लक्षण का निराकरण करते हुए कहा है—"नापि साध्यसमव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधित्वम् , विषमव्याप्तस्यानुपाधित्वप्रसङ्गात्" (किर. पृ. ५६५) । अत एव श्रीउदयनाचार्य ने समत्वाघटित ही लक्षण किया है—"कः पुनरुपाधिः ? साध्यप्रयोजकं निमित्तान्तरम् । किं वाऽस्य लक्षणम् ? साधनाव्यापकत्वे सति साध्यव्यापकत्वम्" (आत्म. पृ. ४०३) ।

समाधान—अनुग्राहक तर्क के न होने पर भी पक्षेतरत्व में साध्यव्यापकत्व की आपात प्रतीति को लेकर अतिप्रसङ्ग और समत्व-घटित व्यापकता को लेकर अनायास उस अतिप्रसङ्ग की निवृत्ति देख कर चिदानन्द पण्डित (नीति० पृ० १३), श्री वेङ्कटनाथ (न्या. परि. पृ. १०) तथा श्री वरदराज (ता० र० पृ० ६६) आदि विद्वानों ने समव्यापकत्व-घटित लक्षण ही अपनाया है। साध्य के समव्यापक धर्म ही प्रायः उपाधि होते हैं--इस तथ्य का स्पष्टीकरण करने के लिए 'सम' शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः यह कोई गम्भीर दोष नहीं ॥१०॥

उपाधि दो प्रकार की होती है—(१) निश्चित और (२) शङ्कित। जिस उपाधि के कथित दोनों विशेषण निश्चित होते हैं, वह निश्चित उपाधि होती है, जैसे पूर्वोक्त 'निषिद्धत्व' उपाधि और जहाँ उक्त दोनों विशेषण या उनमें से कोई अन्यतर सन्दिग्ध हो, उसे शङ्कित उपाधि कहते हैं, जैसे श्रीवरदराज कहते हैं—"मैत्रीगर्भत्वेन सप्तमगर्भस्य श्यामत्वे साध्ये शाकाद्याहारपरिणतिः । पक्षभूते हि सप्तमगर्भे श्यामत्वोपाधेः शाकाद्याहारपरिणामस्याभावानिश्चयात् साध्यव्यापकत्वं सन्दिग्धम्"

मपुत्रे च तस्य नास्तित्वे स्थिते एव तस्य साधनाव्यापकत्वं भवेत्। स च तत्रापि शङ्क्यत एव इत्यनिश्चितमेव साधनाव्यापकत्वम्, अतः शङ्कितोपाधिरसाविति।

क्वचिच्च साधनस्य विशेष एव प्रयोजको भवति। यथा 'अयं द्विजो वेदज्ञो भविष्यति, द्विजत्वाद्—इत्यत्र बुद्ध्यादिमद्द्विजत्वमुपाधिरिति।

तस्मादुपाधिमिच्छद्भिः पक्षभूमिमनाप्नुवन्।
सपक्षान् व्याप्नुवन् धर्मो मृग्यतामिति सङ्ग्रहः ॥ ११ ॥

सोऽयमीदृश उपाधिर्धूमस्याग्निसंबन्धे नास्तीति स्वाभाविक एवासौ

(ता० र० पृ० ८०)। अर्थात् मैत्री नाम की स्त्री के आठ पुत्र हैं, उनमें सात श्याम वर्ण के और आठवाँ गौर वर्ण का है, उस आठवें को पक्ष बनाकर कोई श्यामत्व सिद्ध करना चाहता है—"गर्भस्थो मैत्रीतनयः श्यामः, मैत्रीतनयत्वात् पूर्वतनतनयसप्तकवत्'—यहाँ शाकपाक-जन्यत्व उपाधि है, मैत्री पत्तीवाला शाक बहुत खाती थी, अतः शाकाहार के रस-परिपाक से प्रभावित सात पुत्र श्याम वर्ण के हो गये और आठवें का गर्भ-वास होने पर शाकाहार नहीं हुआ, अतः वह गौर हो गया। यहाँ साधन के आधारभूत अष्टम पुत्र में शाक-पाक-जन्यत्व सन्दिग्धि होने के कारण उपाधि में साधनाव्यापकत्व भी सन्दिग्ध रह जाता है, अतः यह उपाधि सन्दिग्ध कहलाती है] ॥११॥

कहीं-कहीं अनुमान में प्रयुक्त साधन का विशेष रूप ही प्रयोजक (साध्य-साधक) होता है, जैसे "अयं द्विजो वेदज्ञो भविष्यति, द्विजत्वात्'—यहाँ पर केवल 'द्विजत्व' धर्म साध्य का साधक नहीं होता, अपितु बुद्ध्यादियुक्तद्विजत्व, यही धर्म यहाँ उपाधि है, अतः किसी प्रयोग में यदि उपाधि दिखानी हो तो ऐसा धर्म खोजना चाहिए, जो पक्ष में न रहता हो (साधन का व्यभिचारी या अव्यापक हो) और सभी सपक्षों में रहता (साध्य का व्यापक) हो।

कथित उपाधि धूमगत अग्नि-सम्बन्ध (व्याप्ति) में नहीं, अतः यह

संबन्धः । स पुनः स्वाभाविकः संबन्धः कथं गृह्यत इति चेद्, उच्यते—आदौ तावन्महानसादौ भूयो भूयो धूमस्याग्निसंबन्धं पश्यन् क्रमेण च महानसत्वगृहत्वग्रामत्वादीनुपाधित्वेनाशङ्क्य व्यभिचारादर्शनेन निरस्यन्नन्यानप्युपाधीन् निपुणं निरूप्य योग्यानुपलम्भेन निराकुर्वन् भूयोदर्शनोपाध्यभावग्रहणजनितसंस्कारसहकृतेनेन्द्रियेण सोऽयमेकरूप एव धूमाग्न्योः स्वाभाविकः संबन्ध इति निश्चिनोतीति ।

प्राभाकरास्तु धूमस्याग्निसंबन्धः सकृद्दर्शनादेवावगम्यत इति सकृद्दर्शनगम्यैव व्याप्तिः । उपाधिशङ्कानिरासार्थमेव तु भूयो दर्शनमर्थ्यते इत्याहुः ।

सम्बन्ध स्वाभाविक है । इस प्रकार के स्वाभाविक सम्बन्ध का ग्रहण कैसे होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि प्रथमतः महानस (रसोई) आदि स्थानों में वार-वार धूम का अग्नि के साथ सहचार देख कर क्रमशः महानसत्व, गृहत्व और ग्रामत्वादि में शङ्कित उपाधिता का व्यभिचारादर्शन के द्वारा एवं अन्यान्य उपाधियों का योग्यानुपलब्धि के माध्यम से निराकरण हो जाता है । इस प्रकार भूयः सहचार-दर्शन और उपाध्यभाव-ग्रहण से जनित संस्कारों का सहयोग लेकर चक्षुरादि इन्द्रियाँ अग्नि और धूम के उक्त स्वाभाविक सम्बन्ध का ज्ञान उत्पन्न करती हैं । [श्री चिदानन्द पण्डित ने भी ऐसा ही कहा है—शङ्कितोपाध्यभावावगमे सति यस्य येन यादृशः सम्वन्धो दृष्टान्तधर्मिषु दृष्टः, तस्य तेन सह तादृशं सम्वन्धं भूयोदर्शनजनितसंस्कारसहकृतमक्षमेव निरुपाधिकत्वेन निश्चिनोति" (नीति० पृ० १३८) । वार्तिककार भी कहते हैं—

"भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः ।
ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयोः ॥"

(श्लो० वा० पृ० ३५०)

प्राभाकर गण जो कहते हैं कि धूम का अग्नि के साथ सम्वन्ध-ग्रहण सकृत् (एकवार के) दर्शन से ही हो जाता है । उपाधि-शङ्का का निरास करने के लिए भूयोदर्शन अपेक्षित होता है, श्री शालिकनाथ मिश्र कहते

तदयुक्तम्, अनुमानाङ्गभूत एव संबन्धो व्याप्तिरित्युच्यते, निरुपाधिकत्व-विशिष्टस्यैव च संबन्धस्यानुमानाङ्गत्वं न धूमाग्निसंबन्धमात्रस्य। निरुपाधिकत्वावधारणं च भूयोदर्शनसाध्यमेव इति तैरप्युक्तम्, अतो भूयोदर्शनगम्यैव निरुपाधिकसंबन्धरूपा व्याप्तिः।

ननु न भूयोदर्शनमात्रेण निरुपाधिकत्वावधारणम्, तस्य मैत्रीतनयत्वश्यामत्वयोरपि भावात्। सत्यम्, अत एवाह चिदानन्दः—न केवलं भूयोभिर्दर्शनैस्तादृशमवधारणं सिध्यतीति प्रमाणोत्पत्त्यनुगुणस्तर्कोऽपि तत्र सहकारीति।

हैं—"कथमनौपाधिकत्वावगमः ? प्रयत्नेनान्विष्यमाणे औपाधिकत्वानवगमात्। तच्चैतद् भूयोदर्शनायत्तमिति मन्वाना आचार्या भूयोदर्शनमादृतवन्तः" (प्र० पं० पृ० ०५)।

उक्त प्राभाकर-मत युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि अनुमान के अङ्गभूत सम्बन्ध को ही व्याप्ति कहा जाता है, निरुपाधिकत्व-विशिष्ट सम्बन्ध को ही अनुमान का अङ्ग माना जाता है, सामान्य सम्बन्ध को नहीं। निरुपाधिकत्व का निश्चय भूयोदर्शन से होता है—ऐसा प्राभाकर गणों ने भी कहा है, अतः भूयोदर्शन के द्वारा ही निरुपाधिक सम्बन्धरूप व्याप्ति का निश्चय होता है। [चिदानन्द पण्डित ने भी प्राभाकर मत का निराकरण करते हुए कहा है—"एतेन सकृद्दर्शनगम्यत्वं व्याप्तेरपास्तम्, प्रथमदर्शने शङ्कितोपाध्यनवगमेन निरुपाधिकान्वयानवगतेः" (नीति० पृ० १३८)।

शङ्का—भूयोदर्शनमात्र से निरुपाधिकत्व का अवधारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि भूयोदर्शन तो मैत्री-पुत्रत्व और श्यामत्व के सहचार में भी है, किन्तु वह व्याप्ति नहीं कहलाता।

समाधान—उक्त शङ्का के समाधान में श्री चिदानन्द पण्डित ने कहा है—"न केवलं भूयोदर्शनैस्तादृशमवधारणं सिध्यतीति प्रमाणोत्पत्त्यनुगुणस्तर्कोऽपि तत्र सहकारी" (नीति० पृ० १३७)। अर्थात् केवल भूयोदर्शन से निरुपाधिक सम्बन्ध का निश्चय नहीं होता, अतः उसके समुचित प्रमापक की उत्पत्ति के लिए अनुग्राहक (मैत्री-तनयत्व और श्यामत्व की

कः पुनस्तर्कः ? उच्यते—प्रमाणेन साध्यमानस्यार्थस्य अन्यथात्वशङ्कायां तन्निरासार्थम् अन्यथात्वे दोषकथनं तर्कः। अत एवानिष्टप्रसङ्गस्तर्क इति तार्किकाः। अयमेव बाधक इति चोच्यते। यथा यद्यत्राग्निर्न स्यात्, तर्हि धूमोऽपि न स्यादित्यादि। अस्य च तर्कस्य पञ्च अङ्गानि, यदाहुः—

औपाधिक व्याप्ति निवृत्त्यर्थ) तर्क की अपेक्षा होती है।

कः पुनस्तर्कः ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि किसी प्रमाण के द्वारा साध्यमान पदार्थ में अन्यथात्व शङ्का की निवृत्ति के लिए अन्यथात्व-पक्ष में दोष-प्रसक्ति का नाम तर्क है, अत एव तार्किकों ने तर्क का लक्षण किया है—

तर्कोऽनिष्टप्रसङ्गः स्यादनिष्टं द्विविधं मतम्।
प्रामाणिकपरित्यागस्तथेतरपरिग्रहः ॥
(ता० र० पृ० १८५)

[अर्थात् अनिष्ट-प्रसङ्ग को तर्क कहते हैं, अनिष्ट दो प्रकार का होता है—(१) प्रामाणिक पदार्थ का परित्याग और (२) अप्रामाणिक अर्थ का ग्रहण। जैसे 'विमतमुदकं पिपासाशामकम्, विशिष्टोदकत्वात्, मत्पीतोदकवत्'—इस अनुमान में साध्यानङ्गीकारवादी के लिए प्रयुक्त 'यद्युदकं पीतं पिपासां न शमयेत्, तर्हि पिपासुना न पीयेत'—इस तर्क में प्रामाणिक (प्रत्यक्ष-सिद्ध) पान का निषेध होने से प्रामाणिक अर्थ का परित्याग होता है और 'विमतमुदकं परस्यान्तर्दाहकं न भवति'—इस प्रयोग में साध्य न मानने पर प्रयुक्त 'यद्युदकं पीतं परकीयमन्तरधक्ष्यत्, तदा मामपि दहेत्'—इस तर्क में उदकगत अप्रामाणिक (अत्यन्ताप्रसिद्ध) अन्तर्दाहकत्व को स्वीकार करना पड़ता है]।

सोपाधिकत्व की आशङ्का का निवर्तक होने के कारण उक्त तर्क को बाधक भी कहा जाता है, आचार्य उदयन कहते हैं—"किं बाधकम् ? अन्वयव्यतिरेकविषयभूयोदर्शनसाहाय्यकमाचरन्ननूत्तरस्तर्कः" (आत्म० पृ० ४०५)। 'यद्यत्राग्निर्न स्यात्, तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'। इस तर्क के पाँच अङ्ग माने जाते हैं, जैसा कि श्री वरदराज ने कहा है—

व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये ।
अनिष्टाननुकूलत्वे इति तर्काङ्गपञ्चकम् ।। इति ।

अत्र साध्यवैपरीत्यमग्न्यभावादिकमारोप्य तेन लिङ्गभूतेन धूमाभावाद्यनिष्टप्रसञ्जनं हि तर्केण क्रियते । तत्र प्रसञ्जकस्याहार्यलिङ्गस्य प्रसञ्जनीयेन व्याप्तिरेष्टव्या । तथा प्रतितर्कैरप्रतिघातः । प्रसञ्जनीयविपर्यये पर्यवसानम्—एवं चेदेवं स्यात्, न चैवमिति । प्रसञ्जनीयस्य चानिष्टत्वं प्रसिद्धम् । अननुकूलत्वं

व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये ।
अनिष्टाननुकूलत्वे इति तर्काङ्गपञ्चकम् ।।
(ता० र० पृ० १८७)

(१) व्याप्ति, (२) तर्काप्रतिहति, (३) विपर्यय में पर्यवसान, (४) अनिष्टत्व और (५) अननुकूलत्व ।

(१) **व्याप्ति**—यद्यत्राग्निर्न स्यात् , तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'—यहाँ पर साध्य के विपरीत साध्याभाव का आरोप करके जो लिङ्गाभावरूप अनिष्ट का प्रसञ्जन किया जाता है, वहाँ साध्याभावरूप प्रसञ्जक (लिङ्ग) और लिङ्गाभावरूप प्रसञ्जनीय (साध्य) की व्याप्ति अनिवार्य है, अन्यथा उनका साध्य-साधनभाव नहीं हो सकेगा ।

(२) **तर्काप्रतिहति**—प्रतितर्क के द्वारा अप्रतिघात । विपरीत तर्क के द्वारा वाधित तर्क सत्तर्क नहीं, अपितु तर्काभास होता है, अतः तर्क या तर्क के द्वारा साधित साग्नित्वादि अर्थ का प्रतितर्क से बाध न होना आवश्यक है ।

(३) **विपर्ययपर्यवसान**—'यद्यत्राग्निर्न स्यात् , तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'—इस तर्क का पर्यवसान साधनाभाव के विपर्यय में ही होता है—यस्मान्नात्र धूमाभावः, तस्माद् धूमस्य सत्त्वम्, तस्मान्नात्राग्न्यभावः ।

(४) **अनिष्टत्व**—प्रसञ्जनीय धूमाभाव को पर्वत में मानना कभी इष्ट नहीं होता अतः प्रसञ्जनीय का अनिष्ट होना आवश्यक है ।

(५) **अननुकूलत्व**—प्रतिवादी के अभिमत अर्थ का साधक न

प्रतिपक्षासाधकत्वमिति ।

अङ्गवैकल्ये च तर्काभासत्वं भवति । व्याप्त्यभावे यथा—यद्यग्निमत्त्वं न स्यात्, तर्हि पर्वतत्वमपि न स्यादिति । तर्कप्रतिहतौ यथा—यदीयं मेघोन्नतिर्वृष्टिमती न स्यात्, तर्हि निविडापि न स्यादिति तर्कस्य यदीयं वृष्टिमती स्यात्, तर्हि वातोद्रेकवती न स्यादिति तर्केण प्रतिहतिः । विपर्ययपर्यवसानाभावे यथाशब्दोऽनित्यः कृतकत्वादिति मीमांसकं प्रति प्रयोगे यद्यनित्यो न स्यात्, तर्हि कृतकोऽपि न स्यादिति तर्कः । तत्र कृतकश्चायमिति पर्यवसाययितुं न शक्यते, मीमांसकपक्षे शब्दस्य कृतकत्वाभावात् । इष्टत्वमप्यत्रैव, कृतकत्वा-

---

होने के कारण वादी के अनुकूल होते हुए भी तर्क प्रतिवादी के अननुकूल ही होता है ।

कथित पाँच अङ्गों में से प्रत्येक का अभाव होने पर पाँच प्रकार का ही तर्काभास हो जाता है, जैसा कि तार्किकरक्षाकार ने कहा है—

"अङ्गान्यतमवैकल्ये तर्काभासता भवेत्" (ता० र० पृ० १८८) जैसे कि (१) उक्त व्याप्ति का अभाव होने पर 'यद्यग्निमत्त्वं न स्यात्, तर्हि पर्वतत्वमपि न स्यात्'—यहाँ अग्निमत्त्वाभाव रूप प्रसञ्जक और पर्वतत्वाभावरूप प्रसञ्जनीय की कोई व्याप्ति (यत्र यत्र अग्निमत्त्वाभावः, तत्र तत्र पर्वतत्वाभाव) सम्भव नहीं, क्योंकि सभी पर्वतों में तो अग्नि होती नहीं, जिस पर्वत में अग्नि नहीं, वहाँ भी पर्वतत्व ही रहता है, पर्वतत्वाभाव नहीं । (२) 'यदीयं मेघोन्नतिर्वृष्टिमती न स्यात्, तर्हि निविडापि न स्यात्'—यह तर्क 'यदीयं वृष्टिमती स्यात्, तर्हि वातोद्रेकवती न स्यात्'—इस प्रतितर्क से वाधित होने के कारण तर्काभास है, क्योंकि वह सघन (गहरी) घटा भी नहीं वरसती, जो वायु के घोड़े पर सवार होकर भागती जा रही हो, अतः उसमें वृष्टिमत्त्व-साधक तर्क तर्काभास ही है । (३) मीमांसक के प्रति प्रयुक्त 'शब्दोऽनित्यः, कृतकत्वात्'—इस अनुमान की पुष्टि में प्रदर्शित 'यदि शब्दोऽनित्यो न स्यात् , तदा कृतकोऽपि न स्यात्'—ऐसे तर्क का पर्यवसान विपर्यय में नहीं किया जा सकता, क्योंकि मीमां-

भावस्य तं प्रतीष्टत्वात् । अनुकूलत्वे यथा—'अनुमेयं कर्म, कर्मत्वात्, आदित्यकर्मवद्—इत्यत्र अन्यथा कर्मैव न सिध्येदिति तर्कः । स च प्रत्यक्षवादिनामप्यनुकूलः, तैरपि प्रत्यक्षत्वं साधयित्वा अन्यथा कर्मैव न स्याद्—इति वक्तुं शक्यत्वादिति ।आत्माश्रयत्वादयश्च दोषाः तर्क एवान्तर्भूताः अनिष्टप्रसङ्गरूपत्वात् ।

स्वेनैव स्वस्य सिद्धिर्या तदात्माश्रयदूषणम् ।
अनेनान्यस्ततश्चायमित्यन्योन्याश्रयं भवेत् ॥ १२ ॥

सक के मतानुसार शब्द में कृतकत्व नहीं, नित्यत्व माना जाता है। (४) मीमांसक को शब्द में कृतकत्वाभाव इष्ट ही है, अनिष्ट नहीं। (५) प्रसञ्जनीय पदार्थ में प्रतिवादी की अननुकूलता न होने पर तर्काभास का स्वरूप इस प्रकार है--'क्रिया आनुमेया, क्रियात्वाद्, आदित्यक्रियावत्--इस प्रयोग में 'अन्यथा क्रियैव न सिध्येत्'--ऐसा तर्क तर्काभास है, क्योंकि क्रिया के प्रत्यक्ष माननेवाले वादी को भी वैसा कहना अनुकूल ही है--'प्रत्यक्षा क्रिया अन्यथा क्रियैव न सिध्येत् ।

आत्मतत्त्वविवेककार ने जो कहा है--"स च आत्माश्रयेतरेतराश्रयचक्रकानवस्थानिष्टप्रसङ्गभेदेन पञ्चविधः" (आ० वि० पृ० ४०४) और इसी का जो अनुवाद तार्किकरक्षाकार ने किया है--"आत्माश्रयादिभेदेन तर्कः पञ्चविधः स्मृतः" (ता० र० पृ० १८६) ।

वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि आत्माश्रयादि चारों दोष अनिष्टप्रसङ्गरूप हैं और अनिष्ट-प्रसङ्ग तर्क का स्वरूप ही है। [श्री मणिकण्ठ मिश्र ने भी ऐसा ही माना है--"तदयमात्माश्रयान्योऽन्याश्रयचक्रकानवस्थानिष्टप्रसङ्गभेदेन पञ्चविध इति केचित् । तन्न, आत्माश्रयादीनामप्यनिष्टप्रसङ्गान्तर्भूतत्वात्, तथा हि--'स्वस्याव्यवहितस्वापेक्षणमात्माश्रयः' (न्या० र० पृ० २७) इत्यादि । अन्योऽन्याश्रयादि के वे ही स्वरूप यहाँ भी दिखाए गये हैं--] । किसी पदार्थ की उसी से सिद्धि (उत्पत्ति, स्थिति और ज्ञप्ति) मानने पर आत्माश्रय होता है, उसका उद्भावन इस प्रकार होता है--"यद्ययं घटः एतद्घटजन्यः स्यात् , तदा एतद्घटाद्यकालवृत्तिर्न

अनेनान्यस्ततश्चान्यस्ततोऽसाविति चक्रकम् ।
अतीतास्पृष्टमन्यान्यग्रहणं त्वनवस्थितिः ॥ १३ ॥
गौरवं लाघवं चेति तर्कौ सार्वत्रिकावुभौ ।
गौरवं कल्पनाधिक्यं लाघवं त्वल्पकल्पना ॥ १४ ॥
दोषप्रसङ्गरूपत्वं गौरवस्यैव विद्यते ।
साध्ये गुणकथाद्वारा लाघवस्य प्रसङ्गता ॥ १५ ॥

स्यात्' अथवा 'यद्ययं घट एतद्घटजनकः स्यात्, तदा एतद्घटनियत-पूर्ववर्ती स्यात्' ॥ ११ ॥ दो पदार्थों की परस्पराश्रित सिद्धि को अन्योऽन्याश्रय कहा जाता है, जैसा कि महाभाष्यकार कहते हैं—"सतामादैचां संज्ञया भवितव्यम्, संज्ञया चादैचो भाव्यन्ते--तदितरेतराश्रयं भवति, इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते, तद्यथा नौर्नावि बद्धा नेतरेतर-त्राणाय भवति" (म० भा० पृ० १६६) ॥ १२ ॥ एक पदार्थ की सिद्धि दूसरे से, दूसरे की सिद्धि तीसरे से और तीसरे की सिद्धि प्रथम पदार्थ से मानने पर चक्रक दोष प्रसक्त होता है, तीसरे पदार्थ की सिद्धि प्रथम से न मानकर चतुर्थ से, चतुर्थादि की पञ्चमादि से मानी जाय, तब अनवस्था दोष होता है ॥ १३ ॥ गौरव और लाघव नाम के दोनों तर्क-प्रकार सार्वत्रिक होते हैं। कल्पनाधिक्य को गौरव तथा अल्प कल्पना को लाघव कहते हैं ॥ १४ ॥ [जो मणिकण्ठ मिश्र ने कहा है—"कल्पना-गौरवं न तर्केऽन्तर्भवति एवं कल्पनालाघवमपि, वैपरीत्यमेव तु दूषणम्" अर्थात् गौरव दोष होने पर भी तर्क का प्रकार नहीं और लाघव गुण है, दोष नहीं, इसके विपरीत अलाघव ही दोष होता है, वह अनिष्ट है, उसका प्रसञ्जन अनिष्ट-प्रसञ्जनरूप तर्क हो सकता है, लाघव नहीं। (न्या० र० पृ० ३६)। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि] यद्यपि दोष-प्रसङ्ग-रूपता सीधे-सीधे गौरव दोष में ही होती है, तथापि साधनीय पदार्थ में निहित लाघवरूप गुण में भी अनिष्ट-प्रसङ्गता का उद्भावन हो सकता है—'यदि अयं लघुमार्गो नानुस्रियेत, तदा साध्यं न सिध्येत्'। अथवा

साध्याभावानुवादेन दोषः साध्ये गुणोऽपि वा ।
यत्रानुकूलतर्कोऽसौ साध्यसिद्धावनुग्रहात् ॥ १६ ॥
साध्यस्यैवानुवादेन यदनिष्टप्रसञ्जनम् ।
स तर्कः प्रतिकूलः स्यात् साध्यसिद्धिनिरोधनात् ॥ १७ ॥

स चायं तर्को व्याप्तिग्रहणवेलायामनुमानोत्थानसमये वा व्यभिचाराशङ्कां निरस्य व्याप्तिं शोधयन् अनुमानस्यानुग्राहको भवति ।

ननु 'यद्यग्निर्न स्यात्' तर्हि धूमोऽपि न स्याद्'-इत्यनेनैव तर्केण व्यभिचाराशङ्का न निवर्तते , अग्न्यभावेऽपि धूमः किं न स्याद्—इति शङ्कायाः पुनरपि अनपायात् । सत्यम् , अत एव शङ्काव्याघातपर्यन्तं तर्कमार्गेणैव गन्तव्यम्—इति तार्किकाः । इह च यद्यग्न्यभावेऽपि धूमः स्यात्, तर्हि कारणं विनापि

साध्यगत गुण साध्याभाव का दोष होता है, अतः अनिष्ट-प्रसङ्गता का आपादन किया जा सकता है । वस्तुतः आनर्थक्यापत्ति होने पर लाघव भी दोष हो जाता है, जैसा कि न्यायसुधाकार का कहना है—"अत्राप्युपात्ते लघूपाये गुरुरूपाश्रयणानुपपत्तिमाशङ्क्य आनर्थक्यपरिहारायोपात्तेऽपि लघौ गुरोराश्रयणम्" (न्या० सु० पृ० ५०-५१)। जहाँ पर कथित अनुकूल तर्क का प्रदर्शन होता है, वहाँ उसका फल साध्य-सिद्धि का अनुग्रह (पोषण) होता है और जहाँ पर साधनीय अर्थ का अनुवाद करके अनिष्ट-प्रसञ्जन का विधान किया जाय, वह तर्क प्रतिकूल होता है, क्योंकि उससे साध्य-सिद्धि का अनुग्रह नहीं, प्रत्युत निरोध होता है ॥ १५-१७ ॥
उक्त तर्क व्याप्ति-ग्रहण या अनुमानोत्थान के समय साध्य और साधन की व्यभिचार-शङ्का को निरस्त कर व्याप्ति का अवदात स्वरूप निखारता हुआ अनुमान का अनुग्राहक होता है ।

शङ्का—'यद्यत्राग्निर्न स्यात्, तर्हि धूमोऽपि न स्यात्'—इस प्रकार के तर्क से व्यभिचार-शङ्का निवृत्त नहीं होती, क्योंकि 'अग्न्यभावेऽपि धूमः किं न स्यात्'—इस प्रकार की व्यभिचाराशङ्का फिर भी हो जाती है ।

कार्यजननमङ्गीकृतं स्याद्—इति तर्के प्रयुक्ते तदपि किं न स्यादिति शङ्का न लोकविदामङ्कुरति ।

ननु तथापि धूमस्याग्निः कारणम्—इति कुतो निर्णीयत इति शङ्का नापैति । मैवम् , यद्यग्निः कारणं न स्यात्, तर्हि कारणान्तरानुपलम्भेन धूमस्य निष्कारणत्वमेव प्रसजेदिति तर्के सति समस्तविजयात् । तदेवं तर्के व्यभिचारशङ्कायां सर्वतो निरुद्धायाम् उपाध्यन्तरशङ्काकथापि विधूतैव ।

समाधान—तर्क के द्वारा व्यभिचार-शङ्का एक वार निवृत्त होकर फिर भी हो जाती है, अत एव तार्किकों ने कहा है कि तव तक तर्क-प्रयोग करते रहना चाहिए, जब तक प्रतिवादी के सामने कोई व्याघात उपस्थित नहीं होता। [श्री उदयनाचार्य ने कहा है—"व्याघातावधिराशङ्का" (न्या० कु० ३।७)। अर्थात् व्यभिचार-शङ्काओं की प्रवृत्ति तव तक हो सकती है, जव तक प्रतिवादी पर प्रवृत्त्याद्यनुपपत्तिरूप वाध अवतीर्ण नहीं होता । तर्क-प्रयोक्ता के द्वारा यद्यग्न्यभावेऽपि धूमः स्यात्, तर्हि कारणं विनापि कार्यं जायेत'—ऐसा प्रयोग करने पर प्रतिवादी यदि शङ्का करता है कि 'कारणं विनापि कार्यं किं न जायेत ?' तव इस शङ्का की निवृत्ति करने के लिए वादी व्याघात-तर्क प्रस्तुत करता है—'यदि कारणं विनाऽपि कार्यं स्यात् , तर्हि शब्दप्रयोगं विनापि अर्थवोधः स्यात् , शब्दोच्चारणे तव प्रवृत्तिर्न स्यात्' —इस व्याघात को सुनकर प्रतिवादी की शङ्काओं का प्रवाह अवरुद्ध हो जाता है]। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि "यद्यग्न्यभावेऽपि धूमः स्यात् , तदा कारणं विनापि कार्यजननमङ्गीकृतं स्यात्'—इस प्रकार का तर्क-प्रयोग हो जाने पर 'तदपि किं न स्यात्'—ऐसी शङ्का लौकिक व्यवहार में अङ्कुरित नहीं होती ।

शङ्का—उक्त तर्क का प्रयोग कर देने पर भी 'अग्नि में धूम की कारणता का निर्णय कैसे होगा ? ऐसी आशङ्का वनी ही रहती है, अतः न तो अग्न्यनुमान का उदय हो सकता है और न तर्क में उस की अनुग्राहकता सिद्ध होती है ।

ततश्चादृश्योपाधिशङ्का सर्वथा दुर्वारेति चार्वाकदुर्वादोऽपि निर्वासित इति।

अथवोपाधिशङ्कैव तर्कैर्निष्कास्यते स्फुटम्।
उपाधिर्मानयोग्यो वा तदयोग्योऽथवा भवेत् ॥ १८ ॥
अयोग्यश्चेन्न शङ्क्येत योग्यश्चेत् किं न दृश्यते।
अनुमानादिगम्यश्चेल्लिङ्गादिः किं न दृश्यते ॥ १९ ॥

इत्यादि।

ततश्च—

शङ्काव्याघातपर्यन्तमेवं सर्वानुमास्वपि।
तर्कजालं प्रयोक्तव्यमत्यल्पं चेदमुच्यते ॥ २० ॥

समाधान—'यद्यग्निः कारण न स्यात्, तर्हि धूमस्य कारणान्तरानुपलम्भेन अकरणत्वमेव प्रसजेत'—ऐसे तर्क का प्रयोग हो जाने पर सभी समस्याएँ सुलझ जाती हैं। सशक्त तर्क के द्वारा व्यभिचार-शङ्का के सर्वथा निवृत्त हो जाने पर उपाध्यन्तर की शङ्का का नाम तक नहीं लिया जा सकता। अतः चार्वाक का 'दृश्य उपाधि की शङ्का के निवृत्त हो जाने पर अदृश्य उपाधि की शङ्का दूर नहीं हो सकती'—ऐसा दुर्वाद भी निरस्त हो जाता है। तर्कों के द्वारा उपाधि की शङ्का बिल्कुल मिटा दी जाती है, उपाधि चाहे प्रमाण–योग्य हो या प्रमाणायोग्य ॥१८॥ उपाधि यदि अयोग्य है, तब उस की शङ्का ही नहीं उठ सकती और उपाधि यदि योग्य है, तब वह दृश्य ही होगी। यदि दृश्य नही, अनुमेय है, तब उस के लिङ्ग का भान होना चाहिए। [उपाधि-विधूनन के पश्चात् कोई भी शङ्का नहीं हो सकती—ऐसा तार्किकरक्षाकार ने भी (ता० र० पृ० १९८ पर) बड़े ऊहापोह से कहा है] ॥ १९ ॥

तर्क सभी प्रमाणों के अनुग्राहक होते हैं, अतः जो यह कहा जाता है कि 'सभी अनुमानों में तर्कप्रकर का प्रयोग तब तक करते रहना चाहिए, जब तक व्याघात दोष न लग जाय।' वह कहना सङ्गत नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष और शब्दादि सभी प्रमाण तर्क की सहायता के विना

यतः　　प्रत्यक्षशाब्दादिप्रमाणान्यखिलान्यपि ।
तर्कं विना न जीवन्ति प्रत्यक्षे तावदीक्षताम् ॥ २१ ॥

अयं घट इति प्रत्यक्षं हि सुगतकथितपरमाणुगोचरतापराणोदिना तर्केणानुगृहीतमेवावयविगोचरं भवति । यदि परमाणुगोचरता स्यात्, तर्हि एकत्वेन महत्त्वेन चावभासो न स्याद्--इति तर्कः । तथा अयं गौरिति प्रत्यक्षमपि यद्यत्यन्तभिन्नविषयं स्यात्, तर्हि इदंगोत्वे इति प्रतीतिः स्याद्—इति तर्केणानुगृहीतमेवाभेदस्यापि ग्राहकं भवति इत्यादि ।

एवं शाब्देऽपि ब्रूमः—अध्ययनविधिरेव तावद्यदि स्वर्गफलकः स्यात्, तर्हि दृष्टार्थत्वे संभवति अदृष्टग्रहणाद् गौरवं स्याद्—इति तर्कानुग्रहेण अर्थज्ञानफलबोधको भवति । 'यद्यर्थज्ञानफलकः स्यात्, तर्हि विधिवैयर्थ्यं स्याद्—

जीवित नहीं रह सकते। जैसे कि प्रत्यक्ष प्रमाण में तर्क इस प्रकार है—'अयं घटः'--यह प्रत्यक्ष प्रमाण बौद्ध-कथित परमाणु-पुञ्ज-विषयकत्व के निवर्तक तर्क से अनुगृहीत होकर ही घटरूप अवयवी को सिद्ध कर सकता है। वहाँ पर 'यदि उक्तप्रत्यक्षं परमाणुपुञ्जविषयकं स्यात्, तर्हि एकत्वेन महत्त्वेन च विषयावभासो न स्यात्'—ऐसा तर्क विवक्षित है। उसी प्रकार 'अयं गौः'—यह प्रत्यक्ष 'यद्यत्यन्तभिन्नविषयकं स्यात्, तर्हि इदंगोत्वे इति प्रतीतिः स्यात्'—इस प्रकार के तर्क की सहायता से ही अभेद का भी ग्राहक होता है।

[बौद्धगण अवयव-समूह से अतिरिक्त अवयवी नहीं मानते, जैसा कि श्रीप्रज्ञाकर कहते हैं--"अवयवसमाहारमात्रमवयवी नापरस्तस्मान्नान्येऽवयवाः" (प्र. वा. पृ. ५५४)। तार्किकादि उनके मत का निराकरण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अनेक अवयवों से भिन्न एक अवयवी सिद्ध किया करते हैं]।

शब्द प्रमाण का भी 'अध्ययनविधिरेव यदि स्वर्गफलकः स्यात्, तर्हि दृष्टार्थत्वे सम्भवति अदृष्टग्रहणाद् गौरवं स्यात्'—इस तर्क की सहायता से उक्त विधि वाक्य में अर्थ-ज्ञानरूप फल की बोधकता सिद्ध करता है।

इति प्रतिकूलतर्कश्च तत्र तत्र निरसनीयः। तथा—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥

इति स्मृतिः यद्यध्यापनविधिः स्यात्, तर्हि तु यो द्विजः तमाचार्यं प्रचक्षते इत्यंशेनैकवाक्यता न स्याद्'—इति तर्केण आचार्यलक्षणपरता निश्चीयतेऽस्याः स्मृतेः। तथा "अक्ताः शर्करा उपदधाति"—इत्यत्र यदि घृतेनाञ्जनं न स्यात्,

---

[श्री पार्थसारथि मिश्र ने भी अध्ययन-विधि की अर्थज्ञानार्थता में वैसा ही तर्क प्रस्तुत किया है—"शब्दश्चेदध्यापनौपयिकतया विदध्यात् नार्थज्ञानार्थता सिध्येत्" (शा. दी. पृ. १०)]। 'यदि अर्थज्ञानफलकः स्यात्, तर्हि विधिवैयर्थ्यं स्यान्'—इस प्रकार के प्रतिकूल तर्क का निराकरण आचार्यों ने किया है, जैसे—

"उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते॥" (मनु० २।१४०)

[जो ब्राह्मण अपने शिष्य का उपनयन संस्कार करके उसे कल्प (यज्ञ-प्रक्रिया के बोधक ग्रन्थ) और रहस्य (उपनिषत्) ग्रन्थों के सहित वेद का सविधि अध्यापन करता है, उस ब्राह्मण को आचार्य कहते हैं]। 'उक्तं स्मृतिवाक्यं यदि अध्यापनविधिः स्यात्, तर्हि यो द्विजः तमाचार्यं प्रचक्षते इत्यंशेनैकवाक्यता न स्यात्'—इस तर्क की सहायता से शब्द प्रमाण उक्त स्मृति वाक्य में आचार्यलक्षण-बोधकत्व सिद्ध करता है। [पार्थसारथि मिश्र ने उक्त प्रतिकूल तर्क का परिहार इस प्रकार किया है —

"दृष्टप्रयोजनाभावे ह्यदृष्टं परिकल्प्यते।
दृष्टमेव त्विह ज्ञानं विधेश्च नियमार्थता॥
तत्सिद्धं नियमार्थत्वाज्ज्ञानार्थक्यं विधेर्भवेत्।
तेन दृष्टार्थतालाभादर्थज्ञानार्थता स्थिता॥
(न्या० र० मा० पृ० २०-२१)

उसी प्रकार "अक्ताः शर्करा उपदधाति" (तै० ब्रा० ३।१२।५)

तर्हि "तेजो वै घृतम्"—इति वाक्यशेषो विरुध्येत—इति तर्काद् घृताञ्जनपरता साध्यते इति।

एवं सर्वत्र तर्कौघैरर्थाभासनिरासतः।
वाक्यार्थस्थापनी सर्वा मीमांसा तर्करूपिणी ॥ २२ ॥

उक्तं च मनुना—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥ इति।

यहाँ पर 'यदि घृतेनाञ्जनं न स्यात्, तर्हि "तेजो वै घृतम्" (तै० ब्रा० ३।१२।५) इति वाक्यशेषो विरुध्येत'—इस तर्क के द्वारा यह निश्चित हो जाता है कि उक्त (अक्ताः शर्करा उपदधाति) वाक्य का तात्पर्य घृताञ्जन में है। [कतिपय चयन यागों में सुवर्ण की ईंटों से आहवनीयादि अग्नियों के लिए स्थण्डिल (चबूतरा) वनाया जाता है, सुवर्ण के दुर्लभ होने पर छोटे कंकड़ों को चिकना कर चुनना विहित है—"अक्ताः शर्करा उपदधाति।" यहाँ सन्देह होता है कि कंकड़ों को किस द्रव्य से स्निग्ध किया जाय ? इस सन्देह का निवर्तक सूत्र है—"सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात्" (जै० सू० १।४।२३)। अर्थात् "अक्ताः शर्करा उपदधाति"—इस विधि वाक्य के शेष भाग में आज्य (घृत) की स्तुति की गई है, अतः उसके आधार पर आज्य या घृत से स्निग्ध कर कंकड़ों का चयन करना चाहिए। सिद्धान्त सूत्र के द्वारा एक तर्क ही प्रस्तुत किया गया है, जिसका स्वरूप ऊपर दिखाया जा चुका है]। इस प्रकार मीमांसा के प्रायः सभी अधिकरणों में तर्कों के द्वारा अर्थाभास का निरास कर वैदिक वाक्यों के वास्तविक अर्थ का निरूपण किया जाता है, अतः सम्पूर्ण मीमांसा शास्त्र तर्करूप ही होता है ॥ २२ ॥ मनु ने भी कहा है—

"आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥
(मनु० १२।१०६)

एवमुपमानार्थापत्यभावेष्वपि तत्र तत्र तर्कापेक्षणमूहितव्यम् ।

तस्मात्सर्वप्रमाणानां तर्कोऽनुग्राहकः स्थितः ।
साध्ये विपर्ययाशङ्काविच्छेदस्तदनुग्रहः ॥ २३ ॥
अस्याविज्ञाततत्त्वोऽर्थः सन्दिग्धो विषयो मतः ।
हेतुरारोपितं लिङ्गं फलं तत्त्वार्थनिर्णयः ॥ २४ ॥
तदेवं तत्त्वसिध्यर्थम् अन्यथानिष्टवर्णने ।
प्रसरत्यसदारोप –तत्साधनपरम्परा ॥ २५ ॥
तत्रचारोपवादेऽपि सिद्धान्तत्वभ्रमः क्वचित् ।
वेदश्चेदीश्वराधीनस्तर्हीशोऽपि न सिध्यति ॥ २६ ॥
इत्युक्तावीश्वराभावः सिद्धान्त इति मन्वते ।
असंभाव्यस्य चारोपादसंतोषः क्वचिद्भवेत् ॥ २७ ॥

जो व्यक्ति वेदशास्त्राविरोधी मीमांसादिरूप तर्कों के द्वारा श्रुतियों और स्मृतियों का विचार करता है, वही धर्म का रहस्य जान सकता है, अन्य व्यक्ति नहीं ।

इसी प्रकार उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि प्रमाणों के सहायक तर्कों की भी कल्पना कर लेनी चाहिए । अतः यह सिद्ध हो गया कि तर्क सभी प्रमाणों का अनुग्राहक होता है, उसी की कृपा से साधनीयार्थ की विपर्ययाशङ्का निवृत्त होती है ॥ २३ ॥ तर्क के विषयादि का निर्धारण तार्किकरक्षा (पृ० १०) में इस प्रकार किया गया है कि इसका अज्ञात और सन्दिग्ध पदार्थ विषय, आरोपित (प्रसञ्जक) हेतु और तत्त्वार्थ-निर्णय फल माना जाता है ॥ २४ ॥ अतः तत्त्वार्थ की सिद्धि करने तथा अन्यथा मानने पर अनिष्ट-प्रसक्ति करने के लिए असदारोप (धूमाभावादि असत् पदार्थों का आरोप) तथा उसके साधनीभूत (वह्न्यभावरूप) प्रसञ्जक का प्रयोग करना आवश्यक है ॥ २५ ॥ आरोपात्मक तर्कों के प्रयोग में कहीं-कहीं सिद्धान्त-गत भ्रम भी हो जाता है, जैसे कि अपौरुषेय वेद-वादी मीमांसक के 'वेदश्चेदीश्वराधीनः स्यात्,

अपकर्षाप्रतिष्ठश्चेत्परमाणुस्तथा सति ।
अनन्तावयवारम्भान्मेरुसर्षपयोर्द्वयोः ।
स्यात्तुल्यपरिमाणत्वमित्याद्युक्तिर्यथा भवेत् ॥ २८ ॥
तत्र चास्य प्रमाणस्य तर्कोऽयं तस्य सिद्धये ।
अन्यदुक्तमिति व्यक्तं विविञ्चन्नैव मुह्यति ॥ २९ ॥
तस्मात्तर्कप्रकारोऽयं प्रसङ्गप्रापितोऽपि सन् ।
अत्यन्तमुपकारीति विस्तरात्प्रस्तुतो मया ॥ ३० ॥

तदेवं तर्कसहायेन भूयो दर्शनेनैव निरुपाधिकसंबन्धोऽवधार्यते ।

भूयो दर्शनतः शक्या दृश्योपाधिनिराक्रिया ।
अदृश्योपाधिशङ्का तर्कैरेव निरस्यते ॥ ३१ ॥

तर्हि ईश्वरोऽपि न सिध्येत्'—ऐसा तर्क-प्रयोग करने पर कुछ लोगों को भ्रम हो जाता है कि मीमांसा-सिद्धान्त में ईश्वर का अभाव है। इसी प्रकार कहीं असम्भाव्य पदार्थ का आरोप करने पर असन्तोष भी हो जाता है, जैसे ऐसा कहना—यदि 'परमाणु में अवयवों के अपकर्ष की विश्रान्ति न मानकर अनन्त अवयव-परम्परा मानी जाती है, तब समान रूपेण अनन्तावयवों से आरब्ध होने के कारण महान् सुमेरु पर्वत और सर्षप (सरसों के नन्हें से दाने) का समान परिमाण होना चाहिए' ॥२८॥ कथित सिद्धान्तगत भ्रमादि की निवृत्ति के लिए यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि केवल अपौरुषेयत्वादि-साधक शब्दादि प्रमाण के समर्थन में उक्त तर्क प्रस्तुत किया गया है, वह कोई सिद्धान्त-स्थापन नहीं किया गया ॥ २९ ॥ यद्यपि यहाँ तर्क का मुख्य प्रकरण नहीं, तर्क केवल प्रसङ्गतः प्राप्त है, तथापि महत्त्वपूर्ण एवं अत्यन्त उपकारी होने के कारण तर्क विस्तृतरूप में प्रस्तुत किया गया है ॥ ३० ॥

इस प्रकार तर्क की सहायता से भूयोदर्शन के द्वारा निरुपाधिक सम्बन्ध का निश्चय किया जाता है। उसमें भूयोदर्शन से केवल दृश्य उपाधि का निराकरण होता है, अदृश्य उपाधि की शङ्का तो तर्क के

इति विभागः । अतः सिद्धा व्याप्तिः ।

बौद्धास्तु तादात्म्यतदुत्पत्तिभ्यामेव व्याप्तिसिद्धिरित्याहुः । यथा शिंशपात्वस्य वृक्षत्वेन व्याप्तौ तादात्म्यं धूमस्याग्निना व्याप्तौ तदुत्पत्तिः इति । तन्न । कृत्तिकोदयरोहिण्यासत्त्योर्व्याप्तौ तदुभयाभावात् । तस्मान्निरुपाधिकत्वावधरणादेव व्याप्तिसिद्धिः ।

द्वारा ही निरस्त होती है ॥ ३१ ॥ अतः व्याप्ति सिद्ध हो जाती है ।

वौद्ध गण जो कहते हैं कि तादात्म्य और तदुत्पत्ति—इन दो सम्बन्धों के द्वारा ही साध्य और साधन की व्याप्ति सिद्ध होती है । जैसे—वृक्षत्व के साथ शिंशपात्व की व्याप्ति 'तादात्म्य' और अग्नि के साथ धूम की व्याप्ति 'तदुत्पत्ति' से निश्चित होती है । [श्री धर्मकीर्ति ने कहा है—"स च प्रतिबन्धः साध्येऽर्थे लिङ्गस्य वस्तुतः तादात्म्यात् तदुत्पत्तेश्च" (न्या० बि० पृ० ११३) । 'अयं वृक्षः, शिंशपात्वात्'—यहाँ पर शीशम में वृक्षत्व की सिद्धि इस लिए हो जाती है कि शिंशपा भी एक वृक्ष-विशेष है, सामान्य और विशेष में तादात्म्य या अभेद होता है, वस्तुतः दोनों में अभेद होने पर भी कल्पनारूढ़ भेद को लेकर उनमें साध्य साधनभाव माना जाता है । 'अयमग्निमान् धूमवत्त्वात्'—यहाँ पर धूम से अग्नि की सिद्धि इसलिए होती है कि धूम अग्नि से उत्पन्न होता है, कार्य के द्वारा कारण की सिद्धि लोक-प्रसिद्ध है] ।

वह बौद्धों का कथन उचित नहीं, क्योंकि कृष्ण-जन्माष्टमी को रात में रोहिणी (२७ नक्षत्रों में चौथे) नक्षत्र के दर्शन की अभिलाषा लिए कोई व्यक्ति आकाश में पूर्वी क्षितिज पर आँखें लगाए खड़ा है । कृत्तिका (तीसरे नक्षत्र) का उदय होते ही अनुमान कर लेता है कि रोहिणी आसन्न है—'अयमाकाशभागः रोहिण्यासत्तिमान् कृत्तिकोदयवत्त्वात्' । इस प्रकार कृत्तिकोदय और रोहिणी की आसत्ति में जो व्याप्ति है, वह न तो तादात्म्य से प्रयुक्त होती है और न तदुत्पत्ति से । उसमें कथित वौद्ध-लक्षण अव्याप्त हो जाता है । परिशेषतः निरुपाधिकत्व के निश्चय

व्याप्तिर्नियमः प्रतिबन्धोऽव्यभिचारस्तथाविनाभावः ।
व्याप्यं पुनर्नियम्यं गमकं लिङ्गं च साधनं हेतुः ।
इत्युभयोः पर्याया इति तस्य तु दर्शनं त्रिविधम् ॥ ३२ ॥

व्याप्तिग्रहणवेलायां धूमदर्शनं प्रथमम् । पर्वतोपान्तगतस्य धूमदर्शनं द्वितीयम् । ततश्च व्याप्तिस्मरणानन्तरं तादृशो धूमोऽत्रास्तीति यदनुसंधानं तत्तृतीयम् । तदत्र व्याप्यदर्शनमभिमतं तदनन्तरमेव वह्निज्ञानस्योत्पत्तेरिति ।

असन्निकृष्टपदेन पुनः किमुच्यते ? अपरिच्छिन्नमिति ब्रूमः, तदुक्तम्—

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम् ।
ताद्रूप्येण परिच्छित्तिस्तद्विपर्ययतोऽपि वा ॥

से ही व्याप्ति की सिद्धि होती है। 'व्याप्ति', 'नियम', 'प्रतिबन्ध', 'अव्यभिचार', और 'अविनाभाव'—ये व्याप्ति के पर्याय हैं। 'व्याप्य', 'नियम्य', 'गमक', 'लिङ्ग', 'साधन' और 'हेतु'—ये लिङ्ग के पर्याय हैं ॥ ३२ ॥ लिङ्ग का दर्शन तीन बार होता है—पहला व्याप्ति-ग्रहण के समय लिङ्ग-दशन, जैसे—महानसादि में धूम-दर्शन, दूसरा पक्ष में लिङ्ग-दर्शन, जैसे पर्वत में धूम-दर्शन, तीसरा स्मर्यमाण व्याप्ति-विशिष्ट लिङ्ग-दर्शन, जैसे व्याप्ति-स्मरण के अनन्तर 'तादृशो धूमोऽत्रास्ति'। यही तृतीय लिङ्ग-दर्शन व्याप्य-दर्शन अभिमत है, क्योंकि उसी के अनन्तर वह्नि की अनुमिति उत्पन्न होती है।

भाष्यकार ने जो कहा है—"एकदेशदर्शनाद् एकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः" (शा० भा० पृ० ३६)। वहाँ पर 'असन्निकृष्ट' पद से क्या विवक्षित है ? इस प्रश्न का उत्तर है—'अज्ञात और अबाधित अर्थ', जैसा कि वार्तिककार ने कहा है—

असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम् ।
ताद्रूप्येण परिच्छित्तिः तद्विपर्ययतोऽपि वा ॥

(श्लो० वा० पृ० ३६२)

[अर्थात् भाष्यस्थ 'असन्निकृष्ट' पद के द्वारा साध्य या साध्याभाव के

पूर्वं सत्त्वेन परिच्छिन्ने ह्यग्न्यादौ पुनरनुमानं अनुवादः स्यात् । असत्त्वेन परिच्छेदे च बाधितत्वेनाप्रामाण्यमेव, इति तदुभयनिवर्तनार्थं असन्निकृष्टपदमिति ।

अत्र चार्वाकाः—अग्निविशेषस्यानुमेयत्वे व्याप्त्यसिद्धिः अग्निसामान्यस्यैव धूमसामान्येन व्याप्तेः । सामान्यस्यानुमेयत्वे तु तस्य पूर्वमेव परिच्छिन्नत्वात् सिद्धसाधनत्वम् । तथा च असन्निकृष्टपदमप्ययुक्तम् । तदुक्तम्—

अनुमाभङ्गपङ्केऽस्मिन्निमग्ना वादिदन्तिनः ।
विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाधनम् ॥ इति ।

निश्चय की व्यावृत्ति की जाती है]। क्योंकि यदि पर्वत में पहले से ही अग्न्यादि का निश्चय है, तब उसकी अनुमिति अनुवादमात्र होकर रह जाती है, प्रमा नहीं कहला सकती और अग्न्यभाव का निश्चय होने पर अग्नि बाधित हो जाती है, अतः बाधितार्थविषयक होने के कारण वह्न्यनुमिति प्रमा नहीं हो सकती, अतः सत्त्वेन या असत्त्वेन उभयतः वह्नि-निश्चय की निवृत्ति करने के लिए अनधिगताबाधितार्थक 'असन्निकृष्ट' पद रखा गया है ।

शङ्का—चार्वाकों का जो कहना है कि पर्वत में अग्निविशेष (पर्वतीय अग्नि) अनुमित्सित है, किन्तु उसके साथ महानसादि में धूम का सहचार निश्चित नहीं, क्योंकि वहाँ अग्निसामान्य में ही धूमसामान्य की व्याप्ति गृहीत होती है । यदि अग्निसामान्य को ही अनुमेय माना जाता है, तब उसका तो व्याप्ति-ग्रहण के समय ही निश्चय होने के कारण सिद्ध-साधन दोष हो जाता है, अतः 'असन्निकृष्ट' पद भी अयुक्त है, जैसे कि कहा गया है—

विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता ।
अनुमाभङ्गपङ्केऽस्मिन् निमग्ना वादिदन्तिनः ॥

[अर्थात् विशेष (पर्वतीय) अग्नि में धूम का अनुगम व्याप्ति-ग्रह नहीं और सामान्य अग्नि की पहले से ही सिद्धि होने के कारण सिद्ध-साधनता दोष होता है, अतः इस अनुमान-भङ्गरूप कीचड़ में अनुमानवादी दिग्गज

अत्रोच्यते—न तावत्सामान्ययोरेव केवलयोर्व्याप्तिसिद्धिः। तथा सति धूमत्वेन वह्नित्वं स्वतःसंबद्धमिति व्याप्तिग्रहः स्यात्। तथा च वह्नित्वजाति-संबन्धाद् धूमत्वमेव वह्निः स्याद्, अतो विशेषद्वारेणैव सामान्ययोर्व्याप्तिः सिध्यति। विशेषश्च तत्र तत्र विभिन्नत्वान्न नियतो निरूपयितुं शक्यत इति अनियतविशेषालिङ्गितयोर्व्याप्तिरिति स्थितिः। ततश्च पर्वतवर्तितया दृष्टो धूमोऽनियतविशेषालिङ्गितमग्निं पर्वतेऽनुमापयति। इह च यद्यप्यनियतविशेषा-लिङ्गितमग्निसामान्यं व्याप्तिवेलायामेव गृहीतं तदेव चानुमेयं तथापीदानीं पर्वतेऽग्निरस्ति इति देशकालविशेषस्यापि अनुमीयमानत्वात् तस्य च पूर्वमप्रा-सत्वात् सिद्धसाध्यत्वस्य अनवकाश एव।

फँस कर रह गये हैं]।

समाधान—चार्वाकों का उक्त आक्षेप संगत नहीं, क्योंकि केवल 'वह्नित्व' और 'धूमत्व' जातियों का ही व्याप्तिग्रह नहीं होता, वैसा मानने पर 'वह्नित्वं धूमत्वेन सम्बद्धम्'—ऐसा व्याप्ति-ग्रह होना चाहिए। वैसा व्याप्ति-ग्रह मानने पर धूमत्व को भी वह्नित्व जाति का सम्बन्धी होने से वह्नि मानना पड़ेगा, अतः विशेष पदार्थों के द्वारा ही सामान्य पदार्थों की व्याप्ति सिद्ध होती है, चिदानन्द पण्डित भी ऐसा ही कहते हैं—"सामान्ययोर्विशेषोपधानेनैव व्याप्तेः" (नीति० पृ० १३९)। अग्न्यादि में पर्वतीयत्वादि विशेषताओं का अनुगम सम्भव नहीं, अतः पर्वतीयत्वादि धर्मों से अनालिङ्गित (अविशेषित) वह्नि और धूम की व्याप्ति माननी होगी। फलतः पर्वतवृत्तितया दृष्ट धूम पर्वतीयत्वादि विशेषणानाक्रान्त वह्नि का ही पर्वत में अनुमापक होता है। यद्यपि पर्वतीयत्वादि धर्म-रहित अग्नि सामान्य का ग्रहण व्याप्ति-ग्रहण-काल में ही हो जाता है और वही अनुमेय भी है, तथापि 'इदानीं पर्वतेऽग्निरस्ति'—इस प्रकार देश और काल विशेष का भी अनुमान अभीष्ट होता है, वह पहले ज्ञात न होने के कारण सिद्ध-साध्यता दोष को कोई अवकाश नहीं मिलता। [पार्थसारथि मिश्र ने भी कहा है—अवगतस्यापि सामान्यस्य देशान्तर-

व्याप्तिश्च पक्षधर्मत्वमनुमाङ्गं द्वयं विदुः ।
व्याप्त्या ह्युक्तप्रकारेण वह्निसामान्यवेदनम् ॥ ३३ ॥
धूमस्य शैलनिष्ठत्वरूपा या पक्षधर्मता ।
तया पर्वतसंबन्धो वह्नेरप्यवगम्यते ॥ ३४ ॥ इति

गुरुस्त्वाह—धूमवतो देशस्य वह्निमत्त्वमप्यस्तीति व्याप्तिवेलायामेव गृहीतत्वाद् धूमवत्त्वमेव पर्वतस्येदानीमपूर्वं ग्रहीतव्यम् । अग्निमत्त्वं तु तस्य पूर्वगृहीतमेवावगम्यते इति । तदयुक्तम्, धूमवत्त्वं तावत्पर्वतस्येदानीमेव गृह्यत इत्युक्तम् । अतः कथं धूमवत्त्वप्राप्तिं विनात्र वह्निमत्त्वप्राप्तिः पूर्वमासीदित्यविचार-

---

कालान्तरसम्बन्धस्यागृहीतस्य ग्रहणादुपपन्नं प्रमेयत्वम्" (शा. दी. पृ. ६३)] ।

व्याप्ति और पक्षधर्मता—दोनों ही अनुमान के अङ्ग माने जाते हैं, व्याप्ति के द्वारा उक्त रीति से वह्नि सामान्य का ज्ञान होता है । धूम में जो पर्वतवृत्तिता है, उसे ही पक्षधर्मता कहा जाता है, उसके द्वारा वह्नि में पर्वत का सम्बन्ध गृहीत होता है ।

आचार्य प्रभाकर का जो कहना है कि व्याप्ति-ग्रहण के समय ही धूमवान् देश में वह्निमत्त्व भी गृहीत हो जाता है, अतः पर्वत में धूमवत्त्वरूप अगृहीत अर्थ को विषय करने के कारण अनुमिति को प्रमा कहा जाता है [शालिकनाथ मिश्र ने कहा है—"नन्वेवं सम्बन्धनियमावसायसमय एव यावद्धूमादिभावितया अग्न्यादिसम्बन्धस्यावगमाद्, धूमादिसत्तानिश्चयादधिकं निश्चेतव्यं नावशिष्यते इत्यनुमानं न प्रमाणं स्यात् । सत्यं स्यादेतद् यद्यनधिगतार्थगन्तृत्वं भवेत् प्रमाणलक्षणम्" (प्र.पं.पृ. २०५)]।

वह प्राभाकर मत संगत नहीं, क्योंकि उनका जो यह कहना है कि पर्वत में धूमवत्त्व तो पहले ज्ञात नहीं था, अभी ही ज्ञात हुआ है । यदि धूमवत्त्व का ज्ञान पहले नहीं हुआ, तब धूमवत्त्वावच्छेदेन वह्निमत्त्व का ज्ञान पहले कैसे होगा, अतः धूमवान् देश में वह्निमत्त्व का ज्ञान पहले से है और धूमवत्त्व पहले से गृहीत न होकर अनुमिति के द्वारा

यतो गुरोरयमुन्माद इति ।

अतः सिद्धं असन्निकृष्टज्ञानस्यानुमानत्वम् । अत्र च प्रागुक्तप्रकारेण प्राकट्य-रूपानुमितिकरणत्वादेव ज्ञानस्यानुमानत्वमुक्तम् । ज्ञानरूपानुमितिकरणत्वाच्च धूमादेरप्यनुमानत्वमस्त्येव इति ।

तच्चानुमानं त्रिविधं अन्वयव्यतिरेकि, केवलान्वयि, केवलव्यतिरेकि चेति । द्वेधा हि व्याप्तिः अन्वयव्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिश्चेति । तत्र साधनस्य सद्भावे साध्यस्यापि सद्भावः अन्वयव्याप्तिः, साध्यस्याभावे साधनस्याप्यभावो व्यतिरेक-व्याप्तिः । व्यतिरेके च व्याप्यव्यापकभावोऽन्वयाद्विपरीतो भवति । अन्यभावो

गृहीत होता है—ऐसा कहना नितान्त व्याहत है। [चिदानन्द पण्डित ने इसी तथ्य का कुछ विशदरूप में स्पष्टीकरण किया है—"ये पुनरनुमानस्य गृहीतग्राहित्वमाचक्षाणा धूमवतो वह्निमत्त्वस्य प्रागेव प्राप्तत्वाद् धूमवत्त्व-मेव प्रमाणापेक्षमित्याहुः, तेषां सकलदेशकालव्यापितया धूमवत्त्वं प्रागप्राप्तम् ? प्राप्तं वा ? प्राप्तं चेत् प्राप्तत्वादेव वह्निमत्त्ववत् तदपि न प्रमाणमपेक्षते। अथ न प्राप्तम्, तर्हि धूमवत्त्वप्राप्तिनिबन्धना वह्नि-मत्त्व प्राप्तिरपि नासीदिति कुतो गृहीतग्राहित्वम् ?" (नीति. पृ. १४०) ।

इस प्रकार वह्न्यादि असन्निकृष्ट पदार्थों के ज्ञान में अनुमानत्व (अनुमितित्व) सिद्ध हो गया। अनुमिति के कारण को अनुमान कहा जाता है। पूर्वोक्त प्राकट्यरूप अनुमिति का करण होने से ज्ञान अनुमान और वह्न्यादिविषयक ज्ञानरूप अनुमिति का करण होने के कारण धूमादि को अनुमान कहा जाता है।

प्रदर्शित अनुमान के तीन भेद होते हैं—(१) अन्वयव्यतिरेकी, (२) केवलान्वयी, (३) केवलव्यतिरेकी। इस भेद का कारण यह है कि व्याप्ति दो प्रकार की होती है—(१) अन्वय व्याप्ति और (२) व्यतिरेक व्याप्ति। साधन का सद्भाव होने पर साध्य का सद्भाव अन्वय व्याप्ति और साध्य का अभाव होने पर साधन का अभाव व्यतिरेकव्याप्ति कहलाता है। व्यतिरेकों (अभावों) का व्याप्य-

ह्यत्र व्याप्यः । धूमाभावश्च व्यापक इति ।

अग्नेर्भावस्य भूयस्त्वात्तदभावोऽल्पतां व्रजेत् ।
धूमभावस्य चाल्पत्वात्तदभावो महत्तरः ॥ ३५ ॥

इति वैपरीत्यस्योपपत्तिः । तत्र यस्योभयविधा व्याप्तिरस्ति तदन्वयव्यतिरेकि । यथा धूमानुमानादि । तत्र हि धूमस्याग्न्यन्वयो महानसादौ दृश्यते । अग्न्यभावे धूमाभावश्च महाह्रदादौ दृश्यते, तदन्वयव्यतिरेकित्वम् । यस्य पुनरन्वयव्याप्तिरेवास्ति तत्केवलान्वयि, यथा—ज्ञानं ज्ञानान्तरप्रकाश्यम्, वस्तुत्वाद्, घटवद्—इत्यादि । अत्र हि ज्ञानप्रकाश्यत्वाभावे वस्तुत्वाभावो न

व्यापकभाव अन्वय से विपरीत होता है, जैसे वह्नि व्यापक और धूम व्याप्य होता है किन्तु वह्न्यभाव व्याप्य और धूमाभाव व्यापक हो जाता है । इसका कारण यह है कि अधिक देश में रहनेवाले को व्यापक और अल्पदेश में रहने वाले को व्याप्य कहते हैं । अग्निरूप भाव पदार्थ धूम की अपेक्षा अयःपिण्डादि अधिक देश में रहने के कारण व्यापक और उसका अभाव अल्प देश में रहता है, अतः व्याप्य हो जाता है । धूमरूप भाव पदार्थ वह्नि की अपेक्षा अल्प देश में रहने के कारण व्याप्य और उसका अभाव अधिक देश में रह जाने के कारण व्यापक हो जाता है ॥ ३५ ॥ इस प्रकार का वैपरीत्य वार्तिककार ने भी दिखाया है —

"व्याप्यव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते ।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते ॥"

(श्लो. वा. पृ. ३८५)

(१) जिस अनुमान में उभय विध व्याप्ति सुलभ होती है, उसे अन्वय-व्यतिरेकी कहते हैं, जैसे—धूम से अग्नि का अनुमान । धूम का अग्नि के साथ अन्वय महानसादि में और अग्नि का अभाव होने पर धूम का अभाव महाह्रदादि में देखा जाता है ।

(२) जिस अनुमान में केवल अन्वय व्याप्ति होती है, वह केवलान्वयी है, जैसे "ज्ञानं ज्ञानान्तरप्रकाश्यम्, वस्तुत्वाद्, घटवत्'—इत्यादि ।

क्वचिदपि दर्शयितुं शक्यः, सर्वेषामप्यर्थानां ज्ञानप्रकाश्यत्वात्। अतो व्यतिरेकव्याप्त्यभावः। यस्य तु व्यतिरेकव्याप्तिरेवास्ति तत्केवलव्यतिरेकि। यथा—सर्वं ज्ञानं स्वप्रकाशं ज्ञानत्वात्। यस्य स्वप्रकाशत्वं नास्ति, तस्य ज्ञानत्वमपि नास्ति, यथा घटस्य इति। अत्र हि यस्य स्वप्रकाशत्वं तस्य ज्ञानत्वमप्यस्तीति क्वचिद्दर्शयितुमशक्यत्वाद्, अन्वयव्याप्तिर्नास्ति। स चायं केवलव्यतिरेकी हेतुरवीतहेतुरिति चोच्यते।

तं च कौमारिलाः प्रायो नेच्छन्ति व्यतिरेकिणम्।
तत्स्थाने चाभिषिञ्चन्ति पञ्चमीं प्रमितिं पुनः॥ ३६॥
क्वचित्प्रसिद्धमन्यत्र साध्यते ह्यनुमानतः।
स्वप्रकाशत्वधर्मो हि सिद्धो नान्यत्र कुत्रचित्॥ ३७॥
तेन तत्साधने पक्षो ह्यप्रसिद्धविशेषणः।

यहाँ पर ज्ञान-प्रकाश्यत्व का अभाव होने पर कहीं पर भी वस्तुत्वाभाव नहीं दिखाया जा सकता, क्योंकि सभी पदार्थ ज्ञान-प्रकाश्य होते हैं, अतः यहाँ व्यतिरेकव्याप्ति का अभाव है।

(३) जिस अनुमान में व्यतिरेक व्याप्ति ही होती हैं, उसे केवलव्यतिरेकी कहते हैं, जैसे—सर्वं ज्ञानं स्वप्रकाशम्, ज्ञानत्वात्। यहाँ पर केवल व्यतिरेक व्याप्ति ही है—'यस्य स्वप्रकाशत्वं नास्ति, तस्य ज्ञानत्वमपि नास्ति, यथा घटस्य'। यहाँ पर 'यस्य स्वप्रकाशत्वम्, तस्य ज्ञानत्वम्'—इस प्रकार की अन्वय व्याप्ति कहीं भी नहीं दिखाई जा सकती। इस प्रकार का व्यतिरेकी हेतु अवीत हेतु भी कहा जाता है।

उनमें व्यतिरेकी अनुमान को भाट्टगण नहीं मानते, उसके स्थान पर अर्थापत्ति नाम के पञ्चम प्रमाण को अभिषिक्त करते हैं॥ ३६॥

यह एक साधारण नियम है कि कहीं प्रसिद्ध साध्य की अनुमान के द्वारा अन्यत्र सिद्धि की जाती है 'ज्ञानं स्वप्रकाशम्'—यहाँ पर 'स्वप्रकाशत्व' धर्म अन्यत्र कहीं भी प्रसिद्ध नहीं, अतः स्वप्रकाशत्व की सिद्धि करने पर पक्ष में 'अप्रसिद्धविशेषणता' दोष है, अत एव दुष्टपक्षक व्यतिरेकी अनु-

एवं च दुष्टपक्षोऽयं व्यतिरेकी निवार्यताम् ॥ ३८ ॥
यच्चानुकूलतर्के सत्यप्रसिद्धविशेषणः ।
न दोष इति भाषन्ते तार्किकास्तदसङ्गतम् ॥ ३९ ॥
तर्को हि नाप्रसिद्धार्थं क्वचित्साधयितुं क्षमः ।
अतोऽप्रसिद्धतादोषस्तर्के सत्यपि दुस्त्यजः ॥ ४० ॥ इति ।

ननु 'वेद्यत्वं क्वचिदत्यन्तं नास्ति, धर्मत्वात्, यथा घटत्वं पटादिषु— इत्यनेनानुमानेन वेद्यत्वविरहरूपे स्वयंप्रकाशत्वे सामान्यतः प्रसिद्धे पुनर्विशेषेण पक्षे साध्यते इति नाप्रसिद्धविशेषणत्वं पक्षस्य । तदुक्तम्—

सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धेऽपि विशेषणे ।
कथं कथय पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः ॥ इति ।

मान उपेक्षणीय है ॥ ३७–३८ ॥ यह जो तार्किक लोग कहा करते हैं कि अनुकूल तर्क के रहने पर अप्रसिद्धविशेषणता दोष नहीं माना जाता, जैसा कि श्री गङ्गेशोपाध्याय ने कहा है—"अत एव यावदेवानुकूलतर्को नावतरति, तावदेव दशाविशेषेऽसाधारण्यं दोष इत्युक्तम्" केवल व्यतिरेकी पृ० १४२८)। वह कहना युक्त नहीं, क्योंकि तर्क भी अत्यन्ताप्रसिद्ध अर्थ को सिद्ध कर देने में कभी सक्षम नहीं होता, अतः अनुकूल तर्क के रहने पर भी व्यतिरेकी अनुमान के साध्याप्रसिद्धि या अप्रसिद्धविशेषणता दोष का परिहार नहीं किया जा सकता।

शङ्का—जैसे केवलान्वयी प्रकरण में श्री गङ्गेशोपाध्याय ने अभिधेयत्वादि केवलान्वयी धर्मों के अभाव की प्रसिद्धि में सन्देह उठाया है—अभिधेयत्वं कुतोऽपि व्यावृत्तम्, धर्मत्वाद्, गोत्ववत्" (केवलान्वयी पृ० १३४७), वैसे ही श्री चित्सुखाचार्य ने वेद्यत्वाभावात्मक स्वप्रकाशत्व की प्रसिद्धि—"वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात्, शौक्ल्यवत्"—इस सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा करते हुए कहा है—

सामान्यतोऽनुमानेन प्रसिद्धोऽपि विशेषणे ।
कथय कथं पक्षोऽयमप्रसिद्धविशेषणः ॥ (त० प्र० पृ० २१)

अस्तु वा तर्ह्येवम्—

अत एव चिदानन्दः केवलव्यतिरेकिणम् ।
नैव साक्षान्निराचक्रे नापि साक्षादुपाददे ॥ ४१ ॥
तस्मात्सामान्यतः सिद्धिहीनाश्चेद्व्यतिरेकिणः ।
सर्वथा वारणीया इत्येतत्तावद्व्यवस्थितम् ॥ ४२ ॥
इह च स्वप्रकाशत्वे नास्ति सामान्यतोऽनुमा ।
वस्तुत्वादेर्हि धर्मस्य नात्यन्तं नास्तिता क्वचित् ॥ ४३ ॥

अत्र चान्वयव्यतिरेकिहेतोः पञ्च रूपाणि—पक्षधर्मत्वम्, सपक्षे सत्त्वम्,

---

अर्थात् 'अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, अनुभूतित्वाद्, यन्नैवं तन्नैवम्, यथा घटः'—इस अनुमान में अप्रसिद्धविशेषणतारूप पक्ष-दोष का उद्भावन नहीं किया जा सकता, क्योंकि उक्त सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा साध्य की सामान्यतः प्रसिद्धि हो जाती है और प्रसिद्ध-स्थल की विशेषतः जिज्ञासा होने पर अनुभूति में स्वप्रकाशत्व-साधक उक्त केवल व्यतिरेकी अनुमान का प्रयोग किया जाता है।

समाधान—कथित सामान्यतोदृष्ट अनुमान के द्वारा खपुष्पादि अत्यन्त अयोग्य और अप्रसिद्ध पदार्थों की सिद्धि नहीं की जा सकती, अपितु योग्य वस्तु की ही सिद्धि सम्भावित है, अत एव चिदानन्द पण्डितादि विद्वानों ने अपने (नीतितत्त्वाविर्भाव) ग्रन्थ में केवलव्यतिरेकी का न तो साक्षात् निराकरण किया है और न उसे स्वीकार किया है, इसलिए ऐसी व्यवस्था करनी उचित है कि जिन केवलव्यतिरेकी अनुमानों की साध्य-प्रसिद्धि कथमपि नहीं की जा सकती, वे अवश्य निराकरणीय हैं, जैसे कि 'अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, वस्तुत्वात्'—ऐसे अनुमानों में वस्तुत्वादि धर्मों का नास्तित्व (अभाव) कहीं भी प्रसिद्ध नहीं किया जा सकता, अतः ज्ञान में स्वप्रकाशत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

अन्वयव्यतिरेकी अनुमान के हेतु में पाँच रूप (धर्म) होते हैं—(१) पक्षवृत्तित्व, (२) सपक्षवृत्तित्व, (३) विपक्षावृत्तित्व,

विपक्षाद्व्यावृत्तत्वम्, अबाधितविषयत्वम्, असत्प्रतिपक्षत्वं चेति । तत्र जिज्ञासितसाध्यः पर्वतादिः पक्षः, तन्निष्ठत्वं हेतोः पक्षधर्मत्वम् । निश्चितसाध्यो महानसादिः सपक्षः, तत्र वर्तमानत्वं सपक्षे वृत्तित्वम् । निश्चितसाध्याभावो महाह्रदादिर्विपक्षः, तत्र अवर्तमानत्वं विपक्षाद्व्यावृत्तिः । साध्यस्याबाधितत्वं अबाधितविषयत्वम् । प्रतिहेत्वभावोऽसत्प्रतिपक्षत्वम् इति ।

केवलान्वयिनस्तु विपक्षाद्व्यावृत्तिर्नास्ति, विपक्षाभावाद् , अतस्तस्य चत्वारि रूपाणि । केवलव्यतिरेकिणः सपक्षे सत्त्वं नास्ति, सपक्षाभावात् । यदि तु सपक्षे सत्यपि पक्षमात्रवृत्तिर्हेतुः स्यात्, तर्ह्यसाधारणो नाम हेत्वा-

---

(४) अबाधितविषयत्व और (५) असत्प्रतिपक्षत्व । [श्री वरदराज भी कहते हैं—"रूपाणि च पक्षधर्मत्वम्, सपक्षसत्त्वम्, विपक्षाद् व्यावृत्तिः, अबाधितविषयत्वम् , असत्प्रतिपक्षत्वम्" (ता० र० पृ० १७८)]। अग्न्यादि साध्य की अनुमित्सा जहाँ होती है, ऐसे पर्वतादि धर्मी पक्ष कहलाते हैं, उनकी धूमादि हेतुओं में आधेयता या वृत्तिता ही पक्षवृत्तित्व है । साध्य की सत्ता जहाँ निश्चित होती है, ऐसे महानसादि सपक्ष कहे जाते हैं, उनमें हेतु की वर्तमानता ही सपक्षवृत्तित्व है । साध्याभाव जहाँ निश्चित होता है, ऐसे महाह्रदादि विपक्ष कहे जानेवाले पदार्थों में हेतु की अवर्तमानता विपक्षावृत्तित्व है । जिस हेतु का साध्यरूप विषय अबाधित होता है, उसमें अबाधितविषयकत्व रहता है । हेतु-सम्बन्धी साध्य के विपरीत अर्थ के साधक हेतु को प्रति हेतु या सत्प्रतिपक्ष कहते हैं, उसका अभाव ही असत्प्रतिपक्षत्व है । [तार्किकरक्षाकार (ता० र० पृ० ७६) ने भी पक्षादि के ऐसे ही लक्षण किए हैं—

पक्षः साध्यान्वितो धर्मी, साध्यजातीयधर्मवान् ।
सपक्षोऽथ विपक्षस्तु साध्यधर्मनिवृत्तिमान् ॥] ।

केवलान्वयी में विपक्षावृत्तित्व धर्म नहीं रहता, क्योंकि उसका कोई विपक्ष नहीं होता, अतः उसमें चार ही रूप रहते हैं । केवलव्यतिरेकी में सपक्षवृत्तित्व नहीं रहता, क्योंकि उसका कोई सपक्ष नहीं होता । यदि

भास एव स्यात् । यथा—नित्या भूः गन्धवत्त्वाद्—इति । अत्र हि नित्यत्वेन सपक्षभूतानामाकाशादीनां सद्भावेऽपि भूमात्रवृत्ति गन्धवत्त्वम् । अतः असति सपक्षे पक्षमात्रवृत्तिः केवलव्यतिरेकी—इति लक्षयन्ति तार्किकाः ।

पक्षमात्रस्थितं सिध्येत्पक्षमात्रस्थहेतुना ।
अन्यत्र स्थितमाक्रष्टुं तद्गतस्यैव पाटवम् ॥ ४४ ॥ इति ।

अतः सपक्षे सत्त्वाभावाच्चतूरूप एव व्यतिरेकी । तत्सिद्धं द्वैविध्यं त्रैविध्यं च अनुमानस्य ।

तच्च पुनरपि द्वेधा दृष्ट सामान्यतो दृष्ट चेति । तत्र—

सपक्ष के होने पर भी हेतु उसमें न रह कर केवल पक्ष में रहता है, तव वह सद्धेतु न होकर 'असाधारण' नाम का हेत्वाभास हो जायगा, जैसे—'पृथिवी नित्या, गन्धवत्त्वात्' । यहाँ पर नित्यत्वेनाभिमत आकाशादिरूप सपक्ष के रहने पर भी गन्धवत्त्व हेतु उसमें नहीं रहता, अतः 'असति सपक्षे पक्षमात्रवृत्तिः केवलव्यतिरेकी—ऐसा लक्षण तार्किकगण किया करते हैं [श्री वरदराज कहते हैं—"सपक्षे सति चाभासः स्यादसाधारणस्त्वसौ । सपक्षे सति तत्रावर्तमानः पक्षमात्रवर्ती हेतुरसाधारणानैकान्तिको नाभासः स्यात्, यथा—भूर्नित्या गन्धवत्त्वादिति । अत्र हि गगनादिषु सपक्षेषु सत्स्वपि तत्रावर्तमानं पक्षभूतभूमिमात्रवर्ति गन्धवत्त्वमाभासो भवति, अविद्यमानसपक्षः केवलव्यतिरेकीत्युक्तमेवेति भावः" (ता. र. पृ. ९८)]।

पक्षमात्रवृत्ति हेतु के द्वारा साध्यकी पक्षमात्र में स्थिति सिद्ध होती है, जबकि अन्यत्र स्थित पदार्थ को पक्ष में सिद्ध करना हेतु की योग्यता मानी जाती है । फलतः सपक्ष में सत्त्व न होने के कारण केवल व्यतिरेकी भी शेष चार रूपों से युक्त होता है । अतः अनुमान के केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी और अन्वयव्यतिरेकी नाम के तीन या केवलान्वयी और अन्वयव्यतिरेकी नाम के दो भेद सिद्ध हो गये ।

वही अनुमान प्रकारान्तर से दो प्रकार का होता है—(१) दृष्टम्, (२) सामान्यतो दृष्टम् । इनमें दृष्टैकव्यक्तिविषयक अनुमान को हमलोग

दृष्टैकव्यक्तिविषयं दृष्टमिष्टं हि मादृशाम्।
कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यनुमितिर्यथा ॥ ४५ ॥
एवं सामान्यतो व्याप्तिदृष्ट्या यत्रानुमीयते।
तद्धि सामान्यतो दृष्टं यथा वह्न्यनुमादिकम् ॥ ४६ ॥

तार्किकादयस्तु प्रत्यक्षयोग्यार्थविषयमग्न्याद्यनुमानं दृष्टम्, अतीन्द्रियार्थविषयं चक्षुराद्यनुमानं सामान्यतो दृष्टम्—इत्याहुः। तदयुक्तम्, अतीन्द्रियार्थानामनुमातुमशक्यतया चक्षुरादीनाप्यर्थापत्त्यैव साध्यमानत्वात्। तथाहि—

दृष्ट कहते हैं, जैसे कि कृत्तिका नक्षत्र के उदय को देख कर रोहिणी नक्षत्र की आसत्ति अनुमित होती है। [श्री चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं—"तत्तु द्विविधम्—दृष्टं सामान्यतो दृष्टं चेति। तत्र दृष्टैकविषयं दृष्टम्, यथा स्वरेण पुत्रानुमानम्" (नीति. पृ. १४०)। अर्थात् हेतुविशेष से साध्यविशेष की सिद्धि जिस अनुमान में की जाती है, उसे दृष्ट या विशेषतो दृष्ट कहा जाता है, जैसे पुत्र का स्वर वह विशेष हेतु है, जो कि अन्य पुरुष में नहीं होता या कृत्तिका का उदय ही वह विशेष हेतु है, जिसके पश्चात् रोहिणी का उदय होता है।

जहाँ पर सामान्य हेतु के द्वारा सामान्य साध्य की सिद्धि होती है, उसे सामान्यतो दृष्ट कहते हैं, जैसे धूम सामान्य से अग्नि सामान्य की अनुमिति ॥ ४६ ॥

तार्किकगण जो प्रत्यक्ष-योग्य अग्न्यादिविषयक अनुमान को दृष्ट और चक्षुरादि अतीन्द्रिय पदार्थविषयक अनुमान को सामान्यतो दृष्ट कहते हैं, जैसा कि भाष्यकार ने अनुवादरूप में कहा है—तत्तु द्विविधं प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं सामान्यतोदृष्टसम्बन्धं च। प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं यथा धूमाकृतिदर्शनाद् अग्न्याकृतिविज्ञानम्। सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं यथा देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्यगतिस्मरणम्" (शा. भा. पृ. ३६–३७)।

तार्किकों का वह कहना अयुक्त है, क्योंकि अतीन्द्रिय पदार्थों का अनुमान नहीं किया जा सकता, चक्षुरादि पदार्थों की सिद्धि अर्थापत्ति से

व्याप्त्येकशरणं तावदनुमानमिति स्थितम् ।
तद्व्याप्तिदर्शितान्मार्गाच्चलितुं क्षमते कुतः ॥ ४७ ॥
ततश्च व्याप्तिविज्ञाने यादृशं वस्तु विद्यते ।
तादृगेवानुमातव्यं यथोष्णो भास्वरोऽनलः ॥ ४८ ॥
न चातीन्द्रियवस्तूनां प्राग्दृष्टाकारयोगिता ।
दृश्यत्वं तेजसां दृष्टं चक्षुषस्तदसंभवात् ॥ ४९ ॥
अत एव हि सर्वत्राप्यत्यन्तादृष्टसाधने ।
विशेषबाधकं नाम दोषं घोषयितास्महे ॥ ५० ॥
तस्माद्रूपादिसंदर्शनान्यथानुपपत्तितः ।
चक्षुराद्याः प्रसाध्यन्ते न तेष्वनुमितिर्मता ॥ ५१ ॥

ही होती है, अनुमान से नहीं, क्योंकि अनुमान का एक मात्र सहारा है—व्याप्ति, व्याप्ति के विषय में कहा जा चुका है कि व्याप्य और व्यापक पदार्थों के सामान्यतः या विशेषतः भूयोदर्शन से व्याप्ति साध्य होती है, जैसा कि वार्तिककार ने (श्लो. वा. पृ. ३५० पर) कहा है—

भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः ।
ज्ञायते भेदहानेन क्वचिच्चापि विशेषयोः ॥
कृत्तिकोदयमालक्ष्य रोहिण्यासत्तिक्लृप्तिवत् ।

अतीन्द्रिय पदार्थों का तो कभी भी दर्शन नहीं होता, अतः अनुमान अपने ही ऐन्द्रियक स्थल पर अटल है, अतीन्द्रिय-स्थल पर उसके चलने की क्षमता नहीं ॥ ४७ ॥ अतः व्याप्ति-ज्ञान में जैसी वस्तु अवभासित होती है, वैसी ही अनुमान से गृहीत हो सकती है, जैसे—अग्नि उष्ण और भास्वर (प्रकाशक) है ॥ ४८ ॥ अग्न्यादि प्रत्यक्ष-दृष्ट पदार्थों का भूयोदर्शन और आकारानुगम-योगिता जैसी होती, वैसी चक्षुरादि अतीन्द्रिय पदार्थों में सम्भव नहीं ॥ ४९ ॥ अत एव सर्वत्रादृष्ट साधन में विशेष-बाधक नाम का दोष घोषित किया जाता है ॥५०॥ अतः रूपादिविषयक ज्ञान की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति के द्वारा चक्षुरादि की सिद्धि होती

तच्चानुमानं स्वार्थपरार्थभेदेनापि द्विविधमाहुः। यत्र स्वयमेव धूमादिकं दृष्ट्वा व्याप्त्यादिनिरूपणेनानुमीयते तत्स्वार्थम्।

यदा पुनः स एवार्थः परवाक्येन बोध्यते।
तदा परार्थमित्याहुस्तयोरेतावती भिदा॥ ५२॥

है, किसी हेतु के द्वारा उनकी अनुमिति नहीं॥ ५१॥

कथित अनुमान दो प्रकार का कहा जाता है--(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। जहाँ पर कोई व्यक्ति स्वयं धूमादि को देख कर व्याप्त्यादि का स्मरण करता और अग्न्यादि का अनुमान करता है, उस अनुमान को स्वार्थानुमान कहते है और जब उसी पदार्थ का बोध प्रतिज्ञादि वाक्यों की सहायता से दूसरे को कराता है, तब उसको परार्थानुमान कहते हैं—यह उक्त दोनों अनुमानों का अन्तर है॥ ५२॥ [श्री पार्थसारथि मिश्र भी कहते हैं—"यस्तु प्रतिपन्नमर्थं परमनुमानेन प्रतिपिपादयिषति, तेन साधनं प्रयोक्तव्यम्, येन वाक्येन यस्यानुमानबुद्धिरुत्पद्यते, तत्साधनमित्युच्यते" (शा. दी. पृ. ६४)। आचार्य धर्मकीर्ति ने भी वैसा ही कहा है, किन्तु उनके व्याख्याकार श्री धर्मोत्तर का वक्तव्य नितान्त स्पष्ट है—"परार्थानुमानं शब्दात्मकम्, स्वार्थानुमानं तु ज्ञानात्मकम्। स्वस्मायिदं स्वार्थम्—येन स्वयं प्रतिपद्यते, तत्स्वार्थम्, येन परं प्रतिपादयति, तत् परार्थम्" (धर्मोत्तर० पृ० ८८)। जिस धूम-दर्शन के द्वारा स्वयं पुरुष पर्वत में अग्नि का ज्ञान करता है, वह धूम-दर्शन स्वार्थानुमान और जिन प्रतिज्ञादि वाक्यों की सहायता से दूसरे पुरुष को पर्वत में अग्नि का बोध कराया जाता है, उन खण्ड वाक्यों या उनके संकलित कलेवर (महावाक्य) को परार्थानुमान कहा जाता है]। परार्थानुमानभूत महावाक्य के अवयवभूत खण्ड वाक्यों की संख्या में विवाद है, जैसा कि पार्थसारथि मिश्र (शा० दी० पृ० ६४ पर) कहते हैं—

तच्च पञ्चतयं केचिद् द्वयमन्ये वयं त्रयम्।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम्॥

तत्र परार्थानुमानवाक्यं पञ्चावयवमिति तार्किकाः—प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः। यथा—अयं पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वाद्, यो यो धूमवान् स सोऽग्निमान्, यथा महानसः, धूमवांश्चायम्, तस्मादग्निमानेव इति। अत्र परं बोधयितुं पक्षवचनं प्रतिज्ञा, पर्वतोऽग्निमान्—इति। साधनत्वावेदकं लिङ्गवचनं हेतुः, धूमवत्त्वाद्—इति। व्याप्ति प्रदर्शनपुरःसरं दृष्टान्ताभिधानमुदाहरणम्, यो यो धूमवान्, स सोऽग्निमान् यथा महानसः—इति। सिद्धव्याप्तिकस्य पक्षे उपनयनमुपनयः, धूमवांश्चायम्—इति। सहेतुकं पक्षस्य पुनर्वचनं निगमनम्। तस्मादग्निमान्—इति।

अत्र ब्रूमः—

प्रतिज्ञया निगमनं हेतुनोपनयस्तथा।
गतार्थं इति कः कुर्यात्पञ्चावयवघोषणम्॥ ५३॥

तार्किकगण जो पाँच अवयव मानते हैं—(१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु, (३) उदाहरण, (४) उपनय और (५) निगमन। जैसे—(१) अयं पर्वतोऽग्निमान्, (२) धूमवत्त्वात्, (३) यो यो धूमवान्, स सोऽग्निमान् यथा महानसः, (४) धूमवांश्चायम, (५) तस्मादग्निमान्। यहाँ पर दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए प्रयुक्त पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं, जैसे—पर्वतोऽग्निमान्। साधनत्वावेदक लिङ्ग-वचन को हेतु कहा जाता है, जैसे धूमवत्त्वात्। व्याप्ति-प्रदर्शनपूर्वक दृष्टान्ताभिधान को उदाहरण कहते हैं, जैसे—यो यो धूमवान्, स सोऽग्निमान्, यथा महानसः। निश्चितव्याप्तिक हेतु का पक्ष में प्रदर्शन उपनय कहलाता है, जैसे—धूमवांश्चायम्। सहेतुक पक्ष का पुनवर्चन निगमन कहा जाता है, जैसे—तस्मादग्निमान्।

तार्किकों का वह कहना उचित नहीं, क्योंकि प्रतिज्ञा के द्वारा निगमन और हेतु के द्वारा उपनय गतार्थ हो जाता है, अतः पाँच अवयवों की घोषणा सम्भव नहीं॥ ५३॥ अतः हम (भाट्टगण) पुनरुक्ति को सहन न कर तीन ही अवयव मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण अथवा

तस्मात् द्व्यवयवं ब्रूमः पौनरुक्त्यासहा वयम् ।
उदाहरणपर्यन्तं यद्वोदाहरणादिकम् ॥ ५४ ॥

सौगतास्त्वाहुः—यो धूमवान्, सोऽग्निमान् यथा—महानसः । धूमवांश्चायम्—इत्येतावदुक्तौ तस्मादग्निमान् इति अर्थात्सिध्यति । अत उदाहरणो-

---

उदाहरण, उपनय और निगमन ॥ ५४ ॥ [महर्षि अक्षपाद ने पाँच अवयव माने हैं—"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः" (न्या० सू० १।१।३२) । न्यायभाष्यकार ने दश अवयववाद की भी चर्चा की है—"दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये सञ्चक्षते—(१) जिज्ञासा, (२) संशय, (३) शक्यप्राप्ति, (४) प्रयोजन, (५) संशयव्युदास" (न्या० भा० १।१।३) इनके साथ प्रतिज्ञादि को मिला देने पर दस अवयव हो जाते हैं। युक्तिदीपिकाकार ने दस अवयवों की सुन्दर व्यवस्था की है—"तस्य पुनरवयवाः जिज्ञासासंशयप्रयोजनशक्यप्राप्तिसंशयव्युदासाश्च व्याख्याङ्गम्, प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपसंहारनिगमनानि परप्रतिपादनाङ्गम्" (युक्ति० १।२।६) । वैशेषिकभाष्यकार भी पञ्चावयववादी हैं—"प्रतिज्ञापदेशनिदर्शनानुसन्धानप्रत्याम्नायाः" (प्र० भा० पृ० ११४) किन्तु क्रान्तिकारी वैशेषिकपुंगव श्री वादिवागीश्वर ने उनमें पुनरुक्ति देखकर केवल दो अवयवों की स्थापना की है—"वयं तन्न बुध्यामहे, साधनानुपयुक्तवचनस्याधिकत्वात् । प्रतिवादिना हि साधनजिज्ञासा कृता—'किं प्रमाणमिति' । तत्र यावदङ्गविशिष्टं साधनम्, तावद् वक्तव्यम् । अङ्गे च द्वे एव—व्याप्तिपक्षधर्मत्वे, न हि ततोऽधिकं प्रवृत्त्यङ्गम्" (म० म० पृ० ८५)]।

बौद्ध ग्रन्थकार जो कहते हैं—यो धूमवान् सोऽग्निमान्, यथा महानसः, धूमवांश्चायम्—इन केवल दो अवयवों के प्रयोग मात्र से 'तस्मादग्निमान्'—यह अनुमिति पर्यवसित हो जाती है, अतः उदाहरण और उपनय नाम के दो अवयव ही पर्याप्त हैं [आचार्य दिङ्नाग ने कहा है—"पक्षहेतुदृष्टान्तवचनैर्हि प्राश्निकानामप्रतीतोऽर्थः प्रतिपाद्यते"

पनयो द्वावेवावयवौ इति । तदपि साध्यांशे अध्याहारदोषप्रसङ्गादपास्तम् ।

तदेवं पौनरुक्त्येन तथाध्याहारदोषतः ।
तर्कबौद्धमते हित्वा वयं त्र्यवयवे स्थिताः ॥ ५५ ॥

तत्रोदाहरणान्तं यथा—पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वाद्, यो धूमवान् सोऽग्निमान्, यथा—महानसः इति । उदाहरणादिकं यथा—यो धूमवान् सोऽग्निमान्, यथा—महानसः, धूमवांश्चायम् , तस्मादग्निमान्—इति ।

अथ प्रतिज्ञाहेत्वोश्च दृष्टान्तस्य च दूषणम् ।
क्रमेण कथ्यतेऽस्माभिर्यद्वेद्यं वादिनां पुरः ॥ ५६ ॥

(न्या० प्र० पृ० १) । इस पर श्री पार्श्वदेव ने स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है—सौगतमते तु न पञ्चावयवमपीष्यते किन्तु तन्मते हेतुपुरःसर एव प्रयोगः क्रियते, ततो हेतुदृष्टान्तयोरेव साधनावयवत्वं न पक्षस्य। न साधनावयवत्वादस्य लक्षणमुच्ये किन्तु शिष्यस्य सम्यक्त्वलक्षणपरिज्ञानार्थम्" (न्या० प्र० वृ० पं० पृ० ४२)]।

बौद्धों का वह कथन भी अधूरा है, क्योंकि प्रतिज्ञा या निगमन के विना पक्ष में साध्य का ज्ञान कैसे होगा ? उसका अध्याहार करना होगा, अतः इस अध्याहार-प्रसङ्ग दोष के कारण बौद्ध-मत भी ग्राह्य नहीं हो सकता ।

निष्कर्ष यह है कि पञ्चावयववाद में पुनरुक्ति और केवल दो अवयवों को मानने में साध्य का अध्याहार-प्रसङ्ग दोष होता है, अतः तार्किक और बौद्ध—इन दोनों के मतों का त्याग करके हम (भाट्टगण) तीन अवयव मानते हैं—(१) उदाहरण-पर्यन्त या (२) उदाहरणादि । उनमें (१) उदाहरण-पर्यन्त हैं—'पर्वतोऽग्निमान्, धूमवत्त्वाद् यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा—महानसः' । (२) उदाहरणादि इस प्रकार हैं—'यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा—महानसः, धूमवांश्चायम्, तस्मादग्निमान् ।'

अव प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त के दोष क्रमशः कहे जाते हैं, जिनका ज्ञान वादिगणों के लिए आवश्यक है ।

१—प्रतिज्ञाभासाः —

तत्र परप्रतिपादनार्थं पक्षवचनं हि प्रतिज्ञा । जिज्ञासितधर्मविशिष्टश्च पक्ष इत्युक्तम् । ततश्च तद्रूपपरिच्छेदात्तद्विपरीतपच्छेदाद्वा अन्यत्राप्रसिद्धत्वाद्वा यो न जिज्ञासितो धर्मः, तद्विशिष्टस्य न पक्षत्वम्—इति सिद्धविशेषणो बाधितविशेषणोऽप्रसिद्धविशेषणश्च पक्षाभासा एवेति तदावेदकं वचनमपि प्रतिज्ञाभास एव । तद्यथा—वह्निरुष्ण इति सिद्धविशेषणः, वह्निरनुष्ण इति बाधितविशेषणः, क्षित्यादिकं सर्वज्ञकर्तृकं इत्यप्रसिद्धविशेषणः, घटादिषु क्वचिदपि सर्वज्ञकर्तृत्वस्याप्रसिद्धत्वात् ।

बाधकप्रमाणभेदेन बाधितविशेषणत्वावान्तरविशेषो द्रष्टव्यः । तत्र वह्निरनुष्ण इति प्रत्यक्षबाधः पूर्वमुक्तः । अनुमानस्यापि यदा प्रबलत्वं स्पष्ट भवति

१—प्रतिज्ञाभास –

दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए प्रयुक्त पक्षवचन को प्रतिज्ञा कहा गया है । जिज्ञासित धर्म-विशिष्ट धर्मी को पक्ष कहते हैं, अतः धर्मी में साध्य या साध्याभाव का पहले से निश्चय होने अथवा साध्य के अन्यत्र अप्रसिद्ध होने पर न तो साध्य जिज्ञासित होता है और न उससे विशिष्ट धर्मी को पक्ष कह सकते हैं, इस प्रकार सिद्धविशेषणक, बाधितविशेषणक और अप्रसिद्धविशेषणक पक्ष पक्षाभास कहे जाते हैं और उनके बोधक प्रतिज्ञा वाक्यों को प्रतिज्ञाभास कहते हैं। जैसे 'वह्निरुष्णः'––यह सिद्धविशेषणक, 'वह्निरनुष्णः'––यह बाधितविशेषणक और 'क्षित्यादिकं सर्वज्ञकर्तृकम्'––यह अप्रसिद्धविशेषणक है, क्योंकि किसी भी घटादि कार्य में सर्वज्ञकर्तृकत्व प्रसिद्ध नहीं, वार्तिककार का (श्लो० वा० पृ० ८१ पर) स्पष्ट उद्घोष है––

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः ।
निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना ।।

साध्य का बाध प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों से होता है, अतः बाधक के भेद से बाधितविषयकत्व के अवान्तर छः भेद हो जाते हैं, जैसे प्रत्यक्ष-

तदानुमानबाधः, यथा—मन इन्द्रियं न भवति, अभूतात्मकत्वाद्, दिगादिवद्'-इति। अत्र इन्द्रियत्वेन मनसोऽनुमीयमानत्वात् मनोधर्मिग्राहकेणैवानुमानेन तस्यानिन्द्रियत्वं बाधितम्। एवं शीघ्रभाविनामनुमानानां सर्वत्र बाधकत्वं द्रष्टव्यम्।

शाब्दबाधो यथा—'यागादयः स्वर्गसाधनं न भवन्ति, क्रियात्वाद्, गमनवद्—इति। अत्र स्वर्गकामो यजेत इत्यादिवाक्यैर्यागादेः स्वर्गसाधनत्वबोधनात् तदभावः शाब्दबाधितः। यथा वा—स्पृश्यं नरास्थि प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खवद्—इति।

गौर्गवयसदृशो न भवति, प्राणित्वाद्, पुरुषवद्—इत्यत्रोपमानबाधः। देवदत्तो बहिर्नास्ति, तत्रादृश्यमानत्वाद्—इत्यत्रार्थापत्तिबाधः, अर्थापत्त्या

बाध कहा जा चुका है—'वह्निरनुष्णः'। एक अनुमान से जब दूसरा अनुमान प्रबल हो जाता है, तब अनुमान से दूसरे साध्य का बाध होता है, जैसे- 'मनोऽनिन्द्रियम्' अभूतात्मकत्वाद्, दिगादिवत्–इस अनुमान का साध्य उस अनुमान के द्वारा बाधित होता है, जो कि इन्द्रियत्व हेतु के द्वारा मन की सिद्धि करता है। इसी प्रकार शीघ्रगामी अनुमानों के द्वारा सर्वत्र मन्थरगामी अनुमानों का बाध होता है।

शब्द प्रमाण से भी बाध होता है, जैसे कि 'यागादयः स्वर्गसाधनं न भवन्ति, क्रियात्वाद्, गमनवत्'—यहाँ पर "स्वर्गकामो यजेत"—इत्यादि वाक्यों के द्वारा यागादि में स्वर्ग-साधनता का बोध कराया जाता है, अतः स्वर्ग-साधनत्वाभावरूप साध्य का शब्द प्रमाण से बाध हो जाता है। अथवा जैसे 'नरास्थि, स्पृश्यम्, प्राण्यङ्गत्वात्, शङ्खवत्'—यहाँ पर "नारं स्पृष्ट्वाऽस्थि सस्नेहं स्नात्वा विप्रो विशुध्यति" (मनु० ५।८७) इत्यादि आगमों के द्वारा नर-कपाल में अशुचित्व बोधित होता है, अतः यह आगम उक्त शुचित्वानुमान का बाधक है।

'गौर्गवयसदृशो न भवति, प्राणित्वात्, पुरुषवत्'—इत्यादि स्थलों पर उपमान प्रमाण से बाध होता है, क्योंकि वह गौ में गवय-सादृश्य का

वहिरभावस्य वाधितत्वात् । रूपवान् वायुः, द्रव्यत्वात्, पृथिवीवद्—इत्यत्रा-नुपलम्भबाधः । अन्येऽपि प्रतिज्ञादोषाः सन्ति—

यावज्जीवमहं मौनीत्युक्तो हि स्वोक्तिवाधनम् ।
नेन्दुश्चन्द्रगिरा वाच्य इति लोकविरुद्धता ॥ ५७ ॥
शब्दादेः प्रागनित्यत्वमुक्तं येनैव तेन तु ।
नित्यत्वे पुनरुक्ते स्यात्पूर्वसंजल्पवाधनम् ॥ ५८ ॥ इति ।

साधक माना जाता है । 'देवदत्तो वहिर्नास्ति, तत्राहश्यमानत्वात्'—यहाँ अर्थापत्ति से वहिर्नास्तित्वरूप साध्य का बाध होता है । 'वायुः रूपवान्, द्रव्यत्वात्, पृथिवीवत्'—यहाँ पर अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा वायुगत रूपवत्ता का बाध होता है । कथित दोषों से अतिरिक्त प्रतिज्ञा के अन्य दोष भी हैं, जैसे—'यावज्जीवमहं मौनी'—यहाँ स्व-वचन-विरोध और 'इन्दुः चन्द्रपदप्रतिपाद्यो न भवति'—यहाँ पर लोकविरोध है। जिस व्यक्ति ने पहले शब्द में अनित्यत्व कहा है, वही व्यक्ति यदि अव शब्द में नित्यत्व कहता है, तव पूर्व वचन का विरोध होता है ['आचार्य दिङ्नाग ने सब मिला कर पक्षाभास के नौ भेद किये हैं—(१) प्रत्यक्षविरुद्धः, (२) अनुमानविरुद्धः, (३) आगमविरुद्धः, (४) लोकविरुद्धः, (५) स्ववचनविरुद्धः, (६) अप्रसिद्धविशेषणः, (७) अप्रसिद्ध-विशेष्यः, (८) अप्रसिद्धोभयः, (९) प्रसिद्धसम्वन्धश्च" (न्या० प्र० पृ० २)। चिदानन्द पण्डित ने केवल इतना ही कहा है—सिद्धविशेषणः, वाधितविशेषणः, अप्रसिद्धविशेषणः पक्षाभासा एवेति तदावेदकं वचनमपि प्रतिज्ञाभास एव" (नीति० पृ० ४१)। वार्तिककार ने तो विस्तार-पूर्वक प्रतिज्ञाभासों का निरूपण (श्लो० वा० पृ० ३९५ से) किया है—

अग्राह्यता तु शब्दादेः प्रत्यक्षेण विरुध्यते ।
तेषामश्रावणत्वादि विरुद्धमनुमानतः ॥
नहि श्रावणता नाम प्रत्यक्षेणावगम्यते ।
साऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां गम्यते वधिरादिषु ॥

२—हेत्वाभासाः —

व्याप्तः साधनधर्मो हेतुः। असिद्धो विरुद्धोऽनैकान्तिकोऽसाधारणश्चेति चत्वारस्तदाभासाः।

(१) तत्र असिद्ध उच्यते—

> **हेतोर्व्याप्तिमतः पक्षसंबन्धित्वेन वेदनम्।**
> **सिद्धिरित्युच्यते हेतुसंपूर्तिस्तावतैव हि ॥ ५९ ॥**
> **तेषामेकतमांशस्याप्यभावे स्यादसिद्धता।**
> **हेतोर्व्याप्तेश्च पक्षस्य संबन्धस्य ग्रहस्य च ॥ ६० ॥**

तत्र हेतुस्वरूपस्यैवासिद्धौ स्वरूपासिद्धिः, यथा—बुद्धो मोहरहितः, सर्वज्ञत्वाद्—इत्यत्र सर्वज्ञत्वं नाम नास्माकं क्वचित्सिद्धम्। अस्य विशेषणासिद्धो

> त्रिधा शब्दविरोधः स्यात् प्रतिज्ञादिविभागतः।
> प्रतिज्ञापूर्वसञ्जल्प—सर्वलोकप्रसिद्धितः ॥ इत्यादि]।

२—हेत्वाभास—

चिदानन्द पण्डित के अनुसार ही व्याप्त साधन धर्म को हेतु कहा जाता है, उसके (१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकान्तिक और (४) असाधारण नाम के चार हेत्वाभास होते हैं। उनका क्रमशः निरूपण किया जाता है--

(१) असिद्ध—

हेतु की सिद्धि (क्षमता) का अभाव असिद्धि कहलाता है, व्याप्ति-विशिष्ट हेतु का पक्ष-वृत्तित्वेन ज्ञान ही सिद्धि पदार्थ है, क्योंकि उक्त तीनों (व्याप्ति, पक्षधर्मता और ज्ञानरूप) धर्मों के होने पर हेतु की सम्पूर्ति मानी जाती है। उन अंशों में से किसी एक अंश का भी अभाव होने पर असिद्धि दोष होता है, अतः व्याप्ति के अभाव में हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध, पक्षधर्मता के न होने पर सम्बन्धासिद्ध और ज्ञान के न होने पर स्वरूपासिद्ध कहलाता है ॥ ५९-६० ॥ स्वरूपासिद्ध का अर्थ है-- अत्यन्त अप्रसिद्ध, जैसे--'बुद्धो मोहरहितः, सर्वज्ञत्वात्'--यहाँ सर्वज्ञत्व

विशेष्यासिद्ध इति द्वौ भेदौ भवतः। आद्यो यथा—बुद्धो धर्मोपदेष्टा सर्वज्ञत्वे सति शरीरित्वाद्—इति। अन्यस्तु शरीरित्वे सति सर्वज्ञत्वाद्—इति।

व्याप्त्यभावे व्याप्यत्वासिद्धः,। यथा—क्रतुहिंसा अधर्मः, हिंसात्वाद्—इत्यत्र सोपाधिकत्वाद् व्याप्त्यभावः। पक्षाभावे त्वाश्रयासिद्धः। यथा—गगनकुसुमं सुरभि, कुसुमत्वाद्—इति।

हेतोः पक्षसंबन्धाभावे संबन्धासिद्धः, यथा—शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वादिति। यस्य तु पक्षैकदेशे संबन्धो नास्ति, स भागासिद्धः। स एव पक्षव्याप्त्यभावाद् व्याप्त्यसिद्ध इति च क्वचिदुच्यते, यथा—वेदाः पौरुषेयाः, उपाख्यानात्मक-

---

हेतु हमारे मतानुसार अत्यन्त अज्ञात और अप्रसिद्ध है। इसी के दो भेद होते हैं—(१) विशेषणासिद्ध और (२) विशेष्यासिद्ध। (१) 'बुद्धो धर्मोपदेष्टा, सर्वज्ञत्वे सति शरीरित्वात्'—यहाँ पर हेतु का सर्वज्ञत्वरूप विशेषण असिद्ध है और (२) 'बुद्धो धर्मोपदेष्टा, शरीरित्वे सति सर्वज्ञत्वात्'—यहाँ पर हेतु का विशेष्य (सर्वज्ञत्व) अंश असिद्ध है।

व्याप्ति का अभाव होने पर व्याप्यत्वासिद्धि होती है, जैसे—'क्रतुहिंसा अधर्मः, हिंसात्वात्—यहाँ हेतु में सोपाधिकत्व होने के कारण व्याप्यत्वासिद्धि है। पक्ष का न होना ही हेतु की आश्रयासिद्धि है, जैसे—गगनकुसुमं सुरभि, कुसुमत्वात्, चम्पकवत्'—यहाँ पर गगनकुसुमरूप पक्ष का अत्यन्त अभाव है।

जिस हेतु में पक्ष का सम्बन्ध या वृत्तित्व न हो, उसे सम्वन्धासिद्ध कहते हैं, जैसे—शब्दोऽनित्यः, चाक्षुषत्वात्। यहाँ चाक्षुषत्व का शब्दरूप पक्ष के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, अतः यह सम्बन्धासिद्ध है। जिस हेतु का पक्ष के एक भाग से सम्बन्ध नहीं होता, उसे भागासिद्ध कहा जाता है। इस भागासिद्ध को ही पूरे पक्ष में व्याप्त न होने के कारण शास्त्रदीपिकादि (पृ० ६५) में व्याप्यत्वासिद्ध कहा गया है, जैसे—वेदाः पौरुषेयाः, उपाख्यानात्मकत्वात्। यहाँ पर वेद का कुछ भाग ही कथात्मक है, सभी वेद नहीं। जहाँ पर विशिष्टात्मक हेतु के विशेषण भाग का पक्ष

त्वादिति। यदा तु विशेषणस्य विशेष्यस्य वा पक्षसंबन्धो नास्ति, तदा विशेषणासिद्धविशेष्यासिद्धौ भवतः, यथा—अनित्यं गगनं, जन्यत्वे सति द्रव्यत्वादिति, द्रव्यत्वे सति जन्यत्वाद् इति च। यत्र तु विशेषणं व्यावर्त्याभावाद् व्यर्थमेवेति संबन्धानर्हं भवति, स व्यर्थविशेषणासिद्धः, यथा—घटोऽनित्यः, द्रव्यत्वे सति कृतकत्वादिति। एवं कृतकत्वे सति द्रव्यत्वादिति व्यर्थविशेष्यासिद्धः। यदा तु हेतुः पक्षसंवन्धित्वेन न प्रयुज्यते किन्तु आश्रयान्तरसंवन्धित्वेन, तदा व्यधिकरणासिद्धः, यथा—अनित्यो घटः, तद्गुणस्य कृतकत्वादिति। अत्र न घटाश्रितं कृतकत्वं किं तु तद्गुणाश्रितमिति व्यधिकरणासिद्धः। यत्र पक्षाद्व्यतिरेकाभावेन पक्षसंबन्धित्वं नास्ति, स व्यतिरेकासिद्धः, यथा—अनित्यं

के साथ सम्वन्ध नहीं होता, उस हेतु को विशेषणासिद्ध कहते हैं, जैसे—'गगनम् अनित्यम्, जन्यत्वे सति द्रव्यत्वात्'—यहाँ जन्यत्वरूप विशेषण भाग का गगन से सम्वन्ध नहीं, क्योंकि गगन नित्य होता, जन्य नहीं। जिस हेतु के विशेष्य अंश का पक्ष से सम्वन्ध नहीं, उसे विशेष्यासिद्ध कहा करते हैं, जैसे—'गगनम्, अनित्यम्, द्रव्यत्वे सति जन्यत्वात्'—यहाँ विशेष्यभूत जन्यत्व पक्ष में नहीं रहता। जिस हेतु के विशेषण का कोई व्यावर्त्य नहीं होता, उसे व्यर्थविशेषणासिद्ध कहा जाता है, जैसे—'घटोऽनित्यः, द्रव्यत्वे सति कृतकत्वात्'—यहाँ पर द्रव्यत्वरूप विशेषण का कोई व्यावर्त्य या प्रयोजन न होने के कारण वैयर्थ्य निश्चित है। इसी प्रकार 'घटोऽनित्यः, कृतकत्वे सति द्रव्यत्वात्'—यहाँ हेतु व्यर्थविशेष्यासिद्ध है, क्योंकि उसका विशेष्यभूत द्रव्यत्व भाग निरर्थक है। जब ऐसे हेतु का प्रयोग किया जाता है, जो पक्ष-सम्बन्धी न होकर अन्य-सम्वन्वी होता है, तव उसे व्यधिकरणासिद्ध कहा जाता है, जैसे—'घटोऽनित्यः, तद्गुणस्य कृतकत्वात्'—यहाँ कृतकत्वरूप हेतु घट में न रह कर उसके गुण में रहता है, अतः व्यधिकरणासिद्ध है। जिस हेतु का पक्ष से व्यतिरेक (भेद) नहीं होता, उसे व्यतिरेकासिद्ध कहते हैं, जैसे—'गगनम् अनित्यम् गगनत्वात्—यहाँ पर गगनरूप पक्ष से व्यतिरिक्त गगनत्वरूप हेतु

गगनं गगनत्वादिति । अत्र गगनस्वरूपादन्यद् गगनत्वं नाम नास्तीति । एषां स्वरूपादीनामज्ञानेऽज्ञानासिद्धः संदिग्धासिद्धो वा भवति, यथा देवदत्तो बहुधनो भविष्यति, तद्धेतुभूतादृष्टशालित्वादिति । अत्र तादृशादृष्टसद्भावे प्रमाणं नास्तीत्यज्ञातत्वम् । एवम् अग्निमान् पर्वतः, धूमवत्त्वाद्—इत्येतावत्प्रयोगेऽनुपदर्शितव्याप्तिकत्वाद् व्याप्त्यज्ञानासिद्धः । एवमेव सन्दिग्धविशेषणासिद्धादयोऽप्यज्ञातासिद्धभेदा ऊहितव्याः ।

तार्किकास्तु पक्षे हेतुस्वरूपाभाव एव स्वरूपासिद्धिरिति संबन्धासिद्धस्य स्वरूपासिद्धत्वमाहुः, तदयुक्तम्, सर्वज्ञत्वादेः स्वरूपमेव क्वचिदपि नास्ति चाक्षुषत्वादेस्तु पक्षसंबन्धमात्रं नास्तीति पृथक्त्वप्रतीतेः ।

नहीं, अतः वह व्यतिरेकासिद्ध कहा जाता है। जिस हेतु के रूपादि का ज्ञान नहीं होता, उसे अज्ञानासिद्ध या सन्दिग्धासिद्ध कहते हैं। जैसे—'देवदत्तो बहुधनो भविष्यति, तद्धेतुभूतादृष्टशालित्वात्—यहाँ कथित अदृष्ट के सद्भाव में कोई प्रमाण नही, अतः इसमें अज्ञातत्व है। इसी प्रकार 'पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्'—इतना ही प्रयोग करने पर व्याप्ति का उपदर्शन न होने के कारण हेतु को व्याप्यत्वासिद्ध कहते हैं। इसी प्रकार अज्ञातासिद्धि के विशेष प्रकार सन्दिग्धविशेषणासिद्धादि की कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए।

तार्किकगण अपने स्वरूपासिद्ध का लक्षण करते हैं—'पक्षे हेतुस्वरूपाभावः', फलतः हम जिसे सम्बन्धासिद्ध कहते हैं, वही उनका स्वरूपासिद्ध ठहरता है, जो कि संगत नहीं, क्योंकि स्वरूपासिद्ध वह हेतु है, जिसका लोक में स्वरूप ही सिद्ध या प्रसिद्ध न हो, जैसे सर्वज्ञत्वादि हेतु और 'शब्दोऽनित्यः चाक्षुषत्वात्'—यहाँ चाक्षुषत्व हेतु स्वरूपतः अप्रसिद्ध नहीं, रूपादि में प्रसिद्ध है, अतः शब्दरूप पक्ष के साथ उसका सम्बन्ध न होने के कारण उसे सम्बन्धासिद्ध ही कहा जा सकता है, स्वरूपासिद्ध नहीं, अतः सम्बन्धासिद्ध से स्वरूपासिद्ध का महान् अन्तर होने के कारण दोनों को एक नहीं माना जा सकता।

एते चासिद्धभेदाः यदान्यतरस्यैव वादिनोऽसिद्धा भवन्ति तदान्यतरासिद्धा इत्युच्यन्ते। तत्र 'बुद्धो मोहरहितः, सर्वज्ञत्वाद्—इत्युक्तोऽस्माकमेवासिद्धः। एवमुभयोरप्यसिद्धौ उभयासिद्धता वेदितव्याः, यथा—शशो हिंस्रः, विषाणित्वादिति।

(२) **अथ विरुद्धः —**

स च बाधक इत्येवं वार्तिके व्यपदिश्यते।
द्विधा चासौ स्वरूपस्य विशेषस्य च बाधनात् ॥ ६१ ॥

तत्र साध्यविपरीतव्याप्तः साध्यस्वरूपविरुद्धः, यथा—'शब्दो नित्यः कृतकत्वा-

---

कथित असिद्ध-भेद जब किसी एक वादी की दृष्टि में ही असिद्ध होते हैं, तब उन्हें अन्यतरासिद्ध कहते हैं, जैसे—'बुद्धो मोहरहितः, सर्वज्ञत्वात्'—यह केवल मीमांसक की दृष्टि में असिद्ध है। दोनों वादियों की दृष्टि में असिद्ध होने पर उभयासिद्ध कहे जाते हैं, जैसे—'शशो हिंस्रः, विषाणित्वात्' [श्री दिङ्नाग ने असिद्ध के चार भेद दिखाए हैं—(१) उभयासिद्धः, (२) अन्यतरासिद्धः', (३) सन्दिग्धासिद्धः, (४) आश्रयासिद्धः (न्या० प्र० पृ० ३)। श्री पार्थसारथि मिश्र ने पाँच प्रकार की असिद्धि बताई है—(१) स्वरूपासिद्धि, (२) सम्बन्धासिद्धि, (३) व्यतिरेकासिद्धि, (४) आश्रयासिद्धि (५) व्याप्तयसिद्धि (शा० दी० पृ० ६५)। श्री चिदानन्द पण्डित भी पाँच ही भेद मानते हैं—(१) स्वरूपासिद्धः, (२) आश्रयासिद्धः, (३) सम्बन्धासिद्धः, (४) व्यतिरेकासिद्धः, (५) भागासिद्धः (नीति० पृ० १४१)। इन्होंने पार्थसारथि मिश्र के समान भागासिद्ध को व्याप्यत्वासिद्ध नहीं माना है]।

(२) **विरुद्ध—**

विरुद्ध को ही वार्तिककार ने बाधक कहा है, वह दो प्रकार का होता है—"साध्यस्वरूपबाधः, साध्यविशेषबाधः। [चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है—बाधको द्विविधः—(१) साध्यस्वरूपबाधकः, (२) तद्वि-

दिति। अत्र नित्यत्वविपरीतेन अनित्यत्वेन व्याप्तं कृतकत्वमिति नित्यत्वं प्रति विरुद्धत्वात् तस्य बाधकं भवति। साध्यविशेषस्य विपरीतेन विशेषेण व्याप्तो विशेषविरुद्धः, यथा क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, घटवद् इति। अत्र साध्यस्य क्षित्यादिकर्तुरशरीरित्वं नाम विशेषः। तस्य विपरीतेन शरीरित्वरूपेण विशेषेण व्याप्तं घटादिषु कार्यत्वमिष्टम्—इत्यशरीरित्वस्य बाधकं भवति।

अशरीरित्वबाधे च कर्तृमत्तापि बाध्यते।
प्रत्यक्षात्सशरीरत्वविशेषे बाधिते सति॥ ६२॥
अशरीरित्वमादाय स्थास्यामीति कृतोद्यमा।
कर्तृमत्ता हि तस्यापि बाधे नश्येन्निराश्रया॥ ६३॥

शेषबाधकः" (नीति० पृ० १४१)]। जो हेतु साध्य से व्याप्त न होकर साध्याभाव से व्याप्त होता है, उसे साध्यस्वरूपविरुद्ध कहते हैं, जैसे—शब्दोऽनित्यः, कृतकत्वात्—यहाँ नित्यत्व के विपर्ययभूत अनित्यत्व से व्याप्त होने के कारण कृतकत्व हेतु नित्यत्व का विरोधी होने के कारण उसका बाधक होता है। साध्यविशेष—विपरीत विशेष से व्याप्त हेतु को विशेषविरुद्धः कहा जाता है, जैसे—क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद् घटवत् —यहाँ साध्यभूत क्षित्यादि के कर्त्ता की एक विशेषता है—अशरीरित्व, उसके साथ 'कार्यत्व' हेतु की व्याप्ति गृहीत नहीं, अपितु उसके विपरीत शरीरित्वाभाव विशेषण से युक्त कर्तृत्व की व्याप्यता कार्यत्व में घटादिस्थल पर गृहीत होती है, अतः वह अशरीरित्व का बाधक है। अशरीरित्व का बाध होने पर अशरीरित्व-विशिष्ट कर्तृत्व का भी बाध हो जाता है। नैयायिक लोग जो यह कहा करते हैं कि 'क्षित्यादि में शरीरी कर्त्ता का प्रत्यक्षतः बाध देखकर अशरीरित्व-विशिष्ट कर्त्ता की सिद्धि पर्यवसित होती है।' वह उनका कहना युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि क्षित्यादि का कोई अशरीरी कर्त्ता भी उपलब्ध नहीं होता, अतः यहाँ सकर्तृकत्व-रूप हेतु साध्य का विरोधी ही ठहरता है, इस दोष को न जाननेवाले

इत्थं साध्यविरोधित्वादेष दूषणमेव नः।
तमीदृशमजानद्भ्यस्तार्किकेभ्योऽयमञ्जलिः ॥ ६४ ॥

सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः। विपक्षेऽपि वर्तमान इति यावत्। स एव साधारण इति चोच्यते। यथा—अनित्यः शब्दः, प्रमेयत्वाद् इति। अत्र हि प्रमेयत्वं नित्येष्वपि वर्तत इत्यनैकान्तिकम्। यत्र तु विपक्षवृत्तित्वं सन्दिग्धम्; स सन्दिग्धानैकान्तिकः, यथा—क्षणिका भावाः सत्त्वाद्—इत्यत्र अक्षणिकत्वेऽपि सत्त्वस्य बाधाभावाद् विपक्षवृत्तिः शङ्किता भवति।

सति सपक्षे पक्षमात्रवृत्तिरसाधारणः, यथा—नित्या भूः गन्धवत्त्वादिति। केचित्पुनराहुः—असाधारणोऽपि अनैकान्तिक एव। यथा खल्वन्वयस्य विपक्षेऽपि वर्तनात् प्रमेयत्वस्य व्यभिचारित्वम्, एवं व्यतिरेकस्यापि स्वस्थानभूतं

तार्किकों को केवल नमस्कार है। इस पर विशेष विचार श्री चिदानन्द पण्डित ने नीतितत्त्वाविर्भाव के ईश्वरवाद में किया है॥ ६२–६४॥

सव्यभिचार हेतु को अनैकान्तिक कहते हैं, सव्यभिचारिता का अर्थ है—विपक्ष में रहना। इसको 'साधारण' नाम से भी अभिहित किया जाता है। इसका उदाहरण है—'शब्दोऽनित्यः, प्रमेयत्वात्। यहाँ प्रयुक्त प्रमेयत्व हेतु आकाशादि नित्य पदार्थों में भी रहने के कारण अनैकान्तिक है। जिस हेतु में विपक्षवृत्तित्व निश्चित न होकर सन्दिग्ध होता है, उसे सन्दिग्धानैकान्तिक कहते हैं, जैसे—'सर्वे भावा क्षणिकाः सत्त्वात्'—यहाँ पर अक्षणिक पदार्थों में भी सत्त्व का बाध न होने के कारण हेतु में विपक्षवृत्तित्व सन्दिग्ध है, अतः यह सन्दिग्धानैकान्तिक है।

सपक्ष के रहने पर भी जो हेतु पक्षमात्रवृत्ति होता है, उसे असाधारण कहा जा चुका है, जैसे—पृथिवी नित्या, गन्धवत्त्वात्। वरदराजादि (तार्किक) विद्वान् असाधारण हेतु को भी जो अनैकान्तिक मानते हुए कहते हैं कि जैसे जिस हेतु का अन्वय (भाव) अपने क्षेत्र (सपक्ष) का अतिक्रमण कर विपक्ष में रह जाता है, ऐसा 'प्रमेयत्व' हेतु व्यभिचारी होता है, वैसे ही हेतु का व्यतिरेक (अभाव) जब अपने विपक्षरूप क्षेत्र का

विपक्षमतिक्रम्य सर्वेषु सपक्षेष्वपि वर्तमानाद् गन्धवत्त्वस्यापि व्यभिचारित्वमस्तीति ।

सत्यं किंत्वन्वयस्यैव स्वस्थानादतिलङ्घनम् ।
व्यभिचारतया ख्यातं क्लिष्टस्त्वदुदितः क्रमः ॥ ६५ ॥
तेन साधारणस्यैव व्यभिचारित्वमीरितम् ।
हेत्वाभासान्तरत्वेन चासाधारण ईरितः ॥ ६६ ॥
यद्वा त्वदुक्तमार्गेण तस्यापि व्यभिचारतः ।
अनैकान्तिकतैवास्तु नास्माकं काचन क्षतिः ॥ ६७ ॥
तस्मात्त्रेधा चतुर्धा वा हेत्वाभासा व्यवस्थिताः ।
पञ्चधा तार्किकाः प्राहुः षोढान्ये तदसङ्गतम् ॥ ६८ ॥

असिद्धविरुद्धानैकान्तिकप्रकरणसमकालात्ययापदिष्टभेदेन पञ्चधा इति तार्किकाः । अप्रयोजकः षष्ठ इति केचित् । अनध्यवसित एव षष्ठ इति भास-

---

अतिक्रमण कर सभी सपक्षों में रह जाता है, तब वह व्यभिचारी होता है, गन्धवत्त्व हेतु ऐसा ही है (द्रष्टव्य ता. र. पृ. २१७) ।

वह तार्किकों का कहना पूर्णतया संगत नहीं, क्योंकि हेतु के अन्वय (भाव) का अपनी सपक्षभूत सीमा का उल्लङ्घन ही लोक में व्यभिचार कहा जाता है, और आप (तार्किकों) की ऊहा कुछ क्लिष्ट कल्पना भी है, अतः साधारण हेतु को ही हमने व्यभिचारी मान कर असाधारण को पृथक् हेत्वाभास कहा है । अथवा आपकी कल्पना के अनुसार असाधारण को भी सव्यभिचार मान लिया जाय, उससे हमारी कोई क्षति भी नहीं । फलतः चार या पाँच ही हेत्वाभास स्थिर होते हैं । तार्किकगण जो पाँच या छः हेत्वाभास मानते हैं, वह संगत नहीं ॥ ६५–६८ ॥

तार्किकगण पाँच हेत्वाभास कहते हैं—(१) असिद्ध, (२) विरुद्ध, (३) अनैकान्तिक, (४) प्रकरणसम और (५) कालात्ययापदिष्ट । कुछ लोग अप्रयोजक को छठा हेत्वाभास मानते हैं । [श्री वरदराज ने अप्रयोजक के विषय में (ता. र. पृ. २३१ पर) कहा है—

र्वज्ञः । तत्र प्रतिहेतुमान् हेतुः प्रकरणसमः सत्प्रतिपक्ष इति चोच्यते । यथा—अप्रत्यक्षो वायुः, अरूपवत्त्वात् मनोवत् । प्रत्यक्षो वायुः, स्पर्शवत्त्वाद् , घटवदिति । सोऽयमुक्तेष्वेवान्तर्भावयितव्यः । तथाहि—तुल्यवलं विरुद्धहेतुद्वयं तावन्न संभवति । तथा सति एकस्यैव वस्तुनोऽनुमानद्वयवलप्रापितविरुद्धरूपद्वयप्रसङ्गात् । प्रवलदुर्वलयोर्विरोधे दुर्वलस्य प्रवलापहृतविषयत्वेन वाधितविशेषणत्वाभिधं पक्षदूषणमेवेदम्, किं हेत्वाभासान्तरकथया ?

पञ्चैव कथमाभासा विद्यते ह्यप्रयोजकः ।
इति पर्यनुयोगोऽयं तार्किकस्य न युज्यते ॥
यस्यानुकूलतर्कोऽस्ति स एव स्यात्प्रयोजकः ।
तदभावेऽन्यथासिद्धस्तस्याः स हि निवारकः ॥] ।

आचार्य भा सर्वज्ञ अनध्यवसित को साथ लेकर छः हेत्वाभास गिनाते हैं—"असिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः" (न्या. भू. पृ. ३०८) । इनमें प्रकरणसम उस हेतु को कहते हैं, जिसका प्रतिहेतु (साध्याभाव-साधक) विद्यमान हो । प्रकरणसम को ही सत्प्रतिपक्ष भी कहते हैं । इसका उदाहरण है—'वायुः अप्रत्यक्षः, अरूपवत्वात् मनोवत् ।' वायुः प्रत्यक्षः, स्पर्शवत्त्वाद्, घटवत् ।' इस प्रकरणसम को पृथक् हेत्वाभास मानना व्यर्थ है, क्योंकि मीमांसकाभिमत तीन या चार हेत्वाभासों में वह अन्तर्भुक्त हो जाता है । वस्तुतः समान वलवाले दो विरुद्ध हेतु एकत्र हो ही नहीं सकते, यदि माने जाते हैं, तब उन दो सदनुमानों के द्वारा प्रसाधित पदार्थ विरुद्ध दो आकारों का मानना होगा । यदि उन दोनों साधनों में प्रवल-दुर्वलभाव है, तब दुर्वल के वाधित हो जाने पर 'वाधितविशेषणत्व' नाम का पक्ष-दोष ही ठहरता है, उसे पृथक् हेत्वाभास मानने की क्या आवश्यकता ? [चिदानन्द पण्डित ने भी ऐसा ही कहा है—प्रकरणसमत्वं तु दूषणान्तरं न सम्भवति, प्रवलदुर्वलयोर्विरोधे दुर्वलस्य प्रवलापहृतविषयत्वाद् वाधितविशेषणत्वस्यप्राप्तेः, तुल्यवलयोस्तु विरोधस्यैवानुपपत्तेः" (नीति० पृ० १४२)] ।

ननु हेत्वोर्विशेषानवगमवेलायां आभिमानिकतुल्यबलत्वसंभवात् तादात्मिकं प्रकरणसमत्वम् । मैवम्, तदापि बाधितविशेषणत्वस्य सन्देहावस्थैव भवतु । न तु जात्यन्तरमन्वेषणीयम् । अन्यथा सन्दिग्धासिद्धादीनामपि अन्यत्वं स्यात् । अथवा संशयहेतुरनैकान्तिकः इति अनैकान्तिकस्य लक्षणमाश्रीयते । साधारणधर्मादसाधारणधर्माद्विप्रतिपत्तेश्च संशयो भवति । यथा साधारणाद् ऊर्ध्वत्वात् स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ? इति । असाधारणाच्च गन्धवत्त्वात् पृथिवी नित्या ? अनित्या वा ? इति । वादिविप्रतिपत्तेश्च शब्दो नित्योऽनित्यो वा ? इति । तत्र विप्रतिपत्तिहेतुकः संशयः प्रतिसाधनप्रयोगे प्राप्त इति अनैकान्ति॰

शङ्का—जब एकत्र-प्रयुक्त दो विरोधी हेतुओं में कोई विशेषता (न्यूनाधिकभाव) का भान नहीं होता, तब उनमें आभिमानिक तुल्यबलता सम्भावित है। [श्री वरदराज कहते हैं—"वास्तवतुल्यबलत्वाभावेऽपि अगृह्यमाणविशेषत्वेनाभिमानसिद्धसाम्येन प्रतिप्रमाणेन प्रतिरोधो विवक्षितः" (ता० र० पृ० २२१)]।

समाधान—तब भी सन्देहावस्थ बाधितविशेषणत्व नाम का पक्षदोष ही माना जा सकता है, सन्देहमात्र को लेकर उसे विजातीय दोषान्तर नहीं मान सकते, अन्यथा सन्दिग्धासिद्धादि को भी अतिरिक्त दोष मानना पड़ेगा। अथवा 'संशयहेतुरनैकान्तिकः'—ऐसा अनैकान्तिक का लक्षण माना जा सकता है और संशय होता है—साधारण या असाधारण धर्म के दर्शन अथवा विप्रत्तिपत्ति वाक्य से, जैसे कि स्थाणु और पुरुष के ऊर्ध्वत्वरूप साधारण धर्म को देख कर संशय होता है—स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ? पृथिवीगत गन्धवत्त्वरूप असाधारण धर्म के ज्ञान से पृथिवी नित्या ? अनित्या वा ? ऐसा संशय होता है। वादिगणों के विप्रतिपत्ति ('शब्दो नित्यः श्रावणत्वात्', शब्दो अनित्यः, कार्यत्वात्—इस प्रकार के विरुद्धार्थक) वाक्यों को सुन कर शब्दो नित्यो ? अनित्यो वा ? इस प्रकार का संशय हो जाता है। सत्प्रतिपक्ष-स्थल पर यही विप्रतिपत्तिहेतुक संशय प्राप्त होता है, अतः अनैकान्तिक में प्रकरणसम का अन्तर्भाव

केष्वेव प्रकरणसमोऽन्तर्भावयितव्यः ।

तस्य चास्य सत्प्रतिसाधनस्य एकेनैव हेतुना प्रतिकूलसाधने विरुद्धाव्यभिचारी नाम अवान्तरजातिः । यथा—क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवद्—इत्यत्र क्षित्यादिकमीश्वरकर्तृकं न भवति, कार्यत्वाद् घटवदिति । अत्र हि कार्यत्वं घटादिषु सकर्तृकत्वेनेव ईश्वरकर्तृकत्वाभावेनापि अव्यभिचरितम् । ईश्वरकर्तृकत्वाभावश्च सकर्तृकत्वमुखेन ईश्वरं साधयतां तेषां विरुद्ध एवेति विरुद्धाव्यभिचारित्वं कार्यत्वस्य ।

एवं परोदितैरेव पक्षहेतुनिदर्शनैः ।
विरुद्धसाधनेऽस्माकं विरुद्धाव्यभिचारिता ॥ ६८ ॥

कर देना चाहिए । [जैसा कि आचार्य दिङ्नाग कहते हैं—"अनित्यः शब्दः, कृतकत्वाद्, घटवत् । नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति उभयोः संशयहेतुत्वाद् द्वावप्येतावेकोऽनैकान्तिकः समुदितावेव" (न्या० प्र० पृ० ५) । पार्थसारथि मिश्र ने भी कहा है—"अनैकान्तिकत्वं द्विविधम्—सव्यभिचारं सप्रतिसाधनं च । अप्रत्यक्षो वायुर्द्रव्यत्वे सत्यरूपत्वात् । प्रत्यक्षयो वायुर्महत्त्वे सति स्पर्शवत्त्वादिति सप्रतिसाधनत्वादुभयमप्यनिर्णायकं संशयहेतुः, अगृह्यमाणबलाबलत्वादुभयोः" (शा० दी० पृ० ६५)] ।

कथित सत्प्रतिपक्ष के एक-एक हेतु से प्रतिकूल अर्थ की सिद्धि करने पर उसका नाम विरुद्धाव्यभिचारी पड़ता है, जो कि एक अवान्तर जाति है, जैसे—क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, घटवत्' तथा 'क्षित्यादिकम्, ईश्वरकर्तृकं न भवति, कार्यत्वाद्, घटवत्—यहाँ पर कार्यत्व हेतु घटादि में सकर्तृकत्व और ईश्वरकर्तृकत्वाभाव—इन दोनों से अव्यभिचरित है । सकर्तृकत्व के माध्यम से जो लोक ईश्वर की सिद्धि करते हैं, उनके लिए ईश्वरकर्तृकत्वाभाव विरुद्ध है, अतः 'कार्यत्व' हेतु विरुद्धाव्यभिचारी है । इस प्रकार तार्किकादि-प्रयुक्त पक्ष हेतु और दृष्टान्तों के द्वारा विरुद्धार्थ की सिद्धि विवक्षित होने पर हमारी विरुद्धा-

सर्वसत्प्रतिपक्षाणां विरुद्धाव्यभिचारिताम् ।
कदाचिदूचुराचार्या न त्वमुष्यैव केवलम् ॥ ६९ ॥
चिदानन्देन तु व्यक्तमयमेव तथोच्यते ।
यथा तथास्तु नामैतन्नाभासान्तरमत्र नः ॥ ७० ॥

तत्सिद्धं बाधितविशेषणे अनैकान्तिके वा अन्तर्भूतं सत्प्रतिसाधनत्वं नाम दूषणम् ।

भासर्वज्ञस्तु स्वपक्षपरपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसम इत्युक्त्वा तत्र दुर्लभलब्धमेकमुदाहरणं दर्शयति, यथा—शब्दोऽनित्यः, पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्, सपक्षवदिति । अत्र हि शब्दो नित्यः पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वाद्—इत्यपि वक्तुं शक्यमिति ।

व्यभिचारिता अभिनीत हो जाती है । आचार्य कुमारिल भट्ट ने (श्लो० वा० पृ० ३७ : पर) सभी सत्प्रतिपक्षों को विरुद्धाव्यभिचारी कहा है—

यत्राप्रत्यक्षता वायोररूपत्वेन साध्यते ।
स्पर्शात् प्रत्यक्षता वाऽसौ विरुद्धाव्यभिचारिता ॥

श्री चिदानन्द पण्डित की तो विस्पष्ट घोषणा है कि "प्रकरणसमत्वं तु दूषणान्तरं न सम्भवति" (नीति० पृ० १४२) । अतः प्रकरणसम को किसी भी नाम से अभिहित किया जाय, ? यह सर्वथा निश्चित है कि वह कोई पृथक् हेत्वाभास नहीं ॥ ६९–७० ॥ अतः यह सिद्ध हो गया कि 'बाधितविशेषणक' नाम के पक्षाभास या 'अनैकान्तिक' नाम के हेत्वाभास में सत्प्रतिपक्ष समा जाता है, दूषणान्तर नहीं ।

श्री भासर्वज्ञाचार्य ने जो (न्या० भू० पृ० ३१० पर) "स्वपक्षपरपक्षसिद्धावपि त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः"—ऐसा लक्षण करके कहीं से एक दुर्लभ उदाहरण खोज कर (न्या० भू० पृ० ३१९ पर) प्रस्तुत किया है—"अनित्यः शब्दः, पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्' सपक्षवत् ।" यहाँ पर 'शब्दो नित्यः, पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्'—ऐसा भी कहा जा सकता है ।

तदिदमयुक्तम् इह खलु पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वाद्—इत्यस्य अनित्यत्वे साध्ये शब्दघटयोरन्यतरत्वादित्यर्थः। नित्यत्वे तु शब्दाकाशयोरन्यतरत्वादित्यर्थः, अतः कथमेक एव हेतुः पक्षद्वयेऽपि समान इत्युच्यते ?

शब्दसादृश्यमेवात्र विद्यतेऽर्थस्तु भिद्यते।
तस्माद्विरुद्धधर्माभ्यां व्याप्तिर्नैकस्य संभवेत् ॥ ७१ ॥

वह अयुक्त है, क्योंकि अनित्यत्व को साध्य वनाने पर 'पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्' का अर्थ होगा—'शब्दघटयोरन्यतरत्वात्' और नित्यत्व को साध्य वनाने पर 'पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्' का अर्थ 'शब्दाकाशयोरन्यतरत्वात्' होगा, अतः दोनों पक्षों में हेतु का समान त्रैरूप्य क्योंकर कहा जा सकेगा ? [तार्किकप्रवर श्री वरदराज अपने एकदेशी भूषणकार की प्रकरणसमता का निराकरण करते हुए कहते हैं—"तदिदं तावदसम्भवि लक्षणम्, न ह्येकस्यैव हेतोरुभयत्रापि त्रैरूप्यं सम्भवति; नित्यत्वे साध्ये गगनं सपक्षः, इतरत्र तदेव विपक्षः। न त्वेक एव हेतुः सपक्षे तत्र वर्तते, विपक्षाच्च ततो व्यावर्तते चेति सम्भवति। पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वादित्यत्राप्येकदा शब्दाकाशयोरन्यतरत्वादित्यर्थोऽन्यदा शब्दघटयोरन्यतरत्वादित्यर्थः, ततश्च शब्दमात्रमत्रैकं नार्थ इति न किञ्चिदेतत्" (ता० र० पृ० २२३)]। अर्थात् शब्दगत नित्यत्व और अनित्यत्व—इन दोनों पक्षों में प्रयुक्त 'पक्षसपक्षयोरन्यतरत्वात्'—इस शब्द का ही साम्य है, अर्थ का नहीं, [क्योंकि दोनों साध्यों में सपक्ष एक ही नहीं, अपितु अनित्यत्व का सपक्ष घट और नित्यत्व का आकाश, अतः शब्दघटान्यतरत्व और शब्दाकाशान्यतरत्व—दोनों एक क्योंकर होंगे ? शब्दघटान्यतरत्व हेतु विपक्षभूत आकाश से व्यावृत्त है किन्तु शब्दाकाशान्यतरत्व आकाश में वृत्ति। इसी प्रकार शब्दाकाशान्यतरत्व अपने विपक्षभूत घट से व्यावृत्त और शब्दघटान्यतरत्व घट में वृत्ति, फलतः दोनों पक्षों में एक त्रैरूप्य सुलभ नहीं]। अतः नित्यत्व और अनित्यत्व रूप दो विरुद्ध धर्मों की व्याप्ति एक (पक्षसपक्षान्यतरत्व) हेतु में

कथं तर्हि भवान् ब्रूते विरुद्धाव्यभिचारिणम् ।
सत्यं न साध्यते तत्र साक्षात्साध्यविपर्ययः ॥ ७२ ॥
सकर्तृकत्वं वदतामिष्टा हीश्वरकर्तृता ।
सैवात्र वार्यतेऽस्माभिस्तेनार्थात्प्रतिकूलता ॥ ७३ ॥
भवांस्त्वनित्यनित्यत्वे साक्षादेव विरोधिनी ।
एकेन साधयन्नद्य हास्यतामेव यास्यति ॥ ७४ ॥ इति ।

यस्तु बाधितविषयापरपर्यायः कालात्ययापदिष्टो नाम हेत्वाभास उक्तः— अग्निरनुष्णः, अद्रव्यत्वादित्यादिः, सोऽपि बाधितविशेषणो नाम पक्षाभास एव ।

सम्भव नहीं ॥ ७१ ॥

शङ्का—यदि प्रकरणसम हेत्वाभास में विरुद्धार्थ-साधकता नहीं, तब आप मीमांसक भी विरुद्धाव्यभिचारी नाम का हेत्वाभास मानकर उसे विरुद्धार्थ का अव्यभिचारी (व्याप्य या साधक) कैसे माना करते हैं ?

समाधान—विरुद्धाव्यभिचारी में भी साक्षात् विरुद्धार्थ (साध्य का विपर्यय) सिद्ध नहीं किया जाता, अपितु अर्थात् विरुद्धार्थ की साधकता वैसे ही मानी जाती है, जैसे आप (नैयायिक) क्षित्यादि में सकर्तृकत्व इस उद्देश्य से सिद्ध करते हैं कि क्षित्यादि में ईश्वरकर्तृकत्व पर्यवसित हो जाय, अतः हम वही अर्थात् विरुद्धार्थता का निरास आप के कथित प्रकरणसम में कर रहे हैं कि उसे हमारी परिभाषा में विरुद्धाव्यभिचारी भी आप नहीं कह सकते, जैसा कि (न्या० भू० पृ० ३१६ पर) आपने कहा है ॥ ७२–७३ ॥ आप (भासर्वज्ञ) शब्दरूप पक्ष में जो नित्यत्व और अनित्यत्व—दो विरुद्ध धर्मों की सिद्धि एक ही 'पक्षसपक्षान्यतरत्व' हेतु के द्वारा कर रहे हैं, वह आपका उद्यम अनधिकृताधिकार और उपहासास्पद है ॥ ७४ ॥

यह जो आप (तार्किकों) ने बाधितविषयक हेत्वाभास कालात्यापदिष्ट नाम से प्रतिपादित किया है—"प्रमाणबाधितविषयः कालातीतः । तत्र प्रत्यक्षबाधितो यथा—अनुष्णोऽग्निः, द्रव्यत्वात्" (ता० र० पृ०

ननु नो पक्षदोषानेवानुमन्यामहे वयम्।
पक्षदृष्टान्तदोषाणां हेत्वाभासेषु योजनात् ॥ ७५ ॥

तत्र सिद्धविशेषणे तावत्—

पक्षः खल्वाश्रयो हेतोर्न च निश्चितधर्मवान्।
पक्षत्वं भजते तस्मादाश्रयासिद्धिरेव सा ॥ ७६ ॥
तथैव यदि दोषः स्यादप्रसिद्धविशेषणः।
तदापि पक्षतानाशादाश्रयासिद्धिरुच्यताम् ॥ ७७ ॥

किंच—

किं पक्षदोषैः कथितैरिदानीं दृष्टान्तदोषा अपि वक्ष्यमाणाः।
अन्तर्गता एव हि हेतुदोषे न हेतुदोषादपरोऽस्ति दोषः ॥७८॥
तदेवं सर्वदोषेषु हेत्वाभासप्रवेशिषु।
निःसहायः कथं तिष्ठेत्स बाधितविशेषणः ॥ ७९ ॥

२२८-२९)। उसको हमारे चिदानन्द पण्डित ने बाधितविशेषणक नाम का पक्षाभास कहा है—"कालात्ययापदिष्टस्य बाधितविशेषणपर्यायित्वेन पक्षदूषणत्वात्" (नीति० पृ० १४२)।

शङ्का—हम (तार्किकगण) पक्षाभासादि को पृथक् दोष नहीं मानते, अपि तु पक्ष-दोष और दृष्टान्त-दोषों का अन्तर्भाव हेत्वाभासों में ही कर देते हैं। जैसे कि 'सिद्धविशेषणक' नाम का पक्षाभास 'आश्रयासिद्ध' नाम का हेत्वाभास है, क्योंकि पक्ष ही हेतु का आश्रय होता है और जहाँ पर साध्य का निश्चय हो, उसे पक्ष नहीं माना जाता, सन्दिग्धसाध्यवान् ही पक्ष होता है ॥ ७६ ॥ उसी प्रकार 'अप्रसिद्धविशेषणक' नाम का पक्षाभास भी आश्रयासिद्ध ही है, क्योंकि जैसे 'काञ्चनमयपर्वतः' में विशेषणरूप पक्षतावच्छेदक धर्म का अभाव होने के कारण पक्षता नहीं मानी जाती ॥ ७७ ॥ केवल पक्ष-दोष ही हेत्वाभास के अन्तर्भुक्त नहीं होते, वक्ष्यमाण दृष्टान्त-दोष भी हेत्वाभासों में खप जाते हैं, अतः हेतु-दोषों से भिन्न और कोई दोष ही नहीं। इस प्रकार हेत्वाभासों के उदर में

तस्मादितरदोषवद् बाधितविशेषणोऽपि हेत्वाभासतयैव वक्तव्य इति ।

अत्र ब्रूमः—

आभाससङ्करे तावत्पुरः स्फुरितदूषणम् ।
उद्भाव्यमिति सर्वेषां निर्विवादं हि वादिनाम् ॥ ८० ॥
ततश्च पक्षवचने दोषः कोऽपि चकास्ति चेत् ।
पक्षस्यैव स वक्तव्यः किं न्यायं नानुमन्यसे ॥ ८१ ॥
पक्षदुष्टत्वमाश्रित्यैवोक्ता सिद्धविशेषणे ।
त्वयापि ह्याश्रयासिद्धिः किं पुरोभावि तत्र ते ॥ ८२ ॥
एवं साध्यस्याप्रसिद्धिस्तथा बाधितसाध्यता ।
पक्षोक्तावेव निर्भातीत्युचिता पक्षदोषता ॥ ८३ ॥
इत्थं दृष्टान्तदोषाश्च वक्ष्यमाणाः समर्थिताः ।
यो यत्र स्फुरितो दोषः स तस्यैवेति निर्णयात् ॥ ८४ ॥

ही सभी दोषों के प्रविष्ट हो जाने पर 'बाधितविशेषणक' नाम का पक्ष-दोष भी निःसहाय होकर कब तक बाहर खड़ा रह सकेगा ? अतः उसे भी हेत्वाभासता की परिधि में ले लेना चाहिए ।

समाधान - आभासों का सांकर्य उपस्थित होने पर प्रथमतः स्फुरित दोषों का ही पहले उद्भावन करना चाहिए—ऐसी ही सभी वादिगणों की मर्यादा है । हेतु का प्रयोग होने से पहले पक्ष-वचन का उच्चारण किया जाता है, अतः यदि पक्ष-वचन में कोई दोष प्रतीत होता है, तब उसकी उपेक्षा क्यों ? क्या आपने यह न्याय नहीं सुना है कि "प्रथमस्य तथाभावे प्रद्वेषः किंनिबन्धनः" (श्लो० वा० पृ० ६६)। सिद्धविशेषणक पक्ष में दुष्टत्व देख कर ही आपने आश्रयासिद्धि नाम का हेतु-दोष कहा है, ऐसा हेतु-दोषत्व क्या पक्ष-दोषत्व से भी पूर्वभावी है ? इसी प्रकार साध्य का अप्रसिद्धित्व और साध्य का बाध पक्ष-वचन के होने पर ही अवगत होते हैं, अतः उन्हें पक्ष-दोष ही मानना चाहिए ॥ ८२–८३ ॥ इस प्रकार वक्ष्यमाण दृष्टान्त-दोषों का भी पृथक्भाव समर्थित हो जाता है । यह

नावदत्पक्षदोषादीनक्षपादमुनिः पुरा।
तद्भक्तिमोहिता मा मा न्यायं त्यजत तार्किकाः ॥८५॥ इति।

तस्माद् वाधितविशेषणः पक्षाभास एवेति न पञ्चमो हेत्वाभासोऽङ्गीकार्य इति।

ये पुनरनुकूलतर्काभावे हेतोः प्रयोजकत्वं नास्तीति अप्रयोजकं नाम हेत्वाभासान्तरमातिष्ठन्ते, तेऽपि व्याप्यत्वासिद्धमेव तथा मन्यन्ते। सर्वेष्वप्यनुमानेषु अनुकूलतर्कैर्व्यभिचारशङ्कामपास्य निरुपाधिकत्वं साधनीयम्। ततस्तदभावे निरुपाधिकसंवन्धानिश्चयाद्व्याप्त्यसिद्धिरेव। सोऽयं व्याप्त्यसिद्धो हेतुः उपाधिमानिति, अन्यथासिद्ध इति, अप्रयोजक इति, परप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवीति, सन्दिग्धव्याप्तिक इति च व्यपदिश्यते, न त्वाभासान्तरम्।

यत्तु भासर्वज्ञेनोक्तम्—साध्यासाधकः पक्षे एव वर्तमानो हेतुः अनध्यवसितः, यथा— नित्या भूः, गन्धवत्त्वादिति। सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वादित्यादि च।

सार्वभौम न्याय है कि जो दोष जिसमें स्फुरित होता है, वह उसी का दोष माना जाता है। यदि अक्षपाद महर्षि ने पक्षादि के दोष नहीं कहे हैं, तव उनकी भक्ति के आवेश में आकर इस न्याय की तो उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ॥ ८४–८५ ॥ फलतः वाधितविशेषणकत्व पक्षाभास ही है, इसे पृथक् पाँचवाँ हेत्वाभास नहीं माना जा सकता।

जो लोग अनुकूल तर्क के अभाव में हेतु को अप्रयोजक नाम का पृथक् हेत्वाभास मानते हैं, वे भी व्याप्त्यसिद्ध को अप्रयोजक कह देते हैं। सभी अनुमानों में अनुकूल तर्कों के द्वारा व्यभिचार-शङ्का का निरास कर निरुपाधिकता की स्थापना करनी होती है, अतः अनुकूल तर्क के न होने पर व्याप्तिरूप निरुपाधिक सम्वन्ध का निश्चय न हो सकने के कारण व्याप्त्यसिद्धि होती है। ऐसे व्याप्त्यसिद्ध हेतु को 'उपाधिमान्', 'अन्यथासिद्ध', 'अप्रयोजक', 'परप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवी', 'सन्दिग्धव्याप्तिक' आदि नामों से अभिहित किया करते हैं, किसी पृथक् हेत्वाभास को नहीं।

यह जो भा सर्वज्ञ ने (न्या० भू० पृ० ३०६ पर) कहा है—"साध्यासाधकः पक्ष एव वर्तमानोऽनध्यवसितः, यथा—नित्या भूः, गन्धवत्त्वात्।

तत्रादिमः प्रकारोऽसाधारण एव । सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वाद्—इत्यत्र तु सर्वस्य पक्षीकृतत्वात् सपक्षभूतं विपक्षभूतं वा किंचिन्नास्तीति अन्वयव्याप्तिर्व्यतिरेकव्याप्तिर्वा न वक्तुं शक्या इति व्याप्त्यसिद्धिरेवेयं न त्वाभासान्तरम्, इत्यास्तां तावत् । तस्मादस्मदुक्तैव हेत्वाभासव्यवस्था इति ।

३—दृष्टान्ताभासाः—

> साध्यसाधनयोर्व्याप्तिप्रतिपत्तिस्थलं हि यत् ।
> तदुदाहरणं नाम दृष्टान्त इति चोच्यते ॥ ८६ ॥

तद् द्विविधम्, साधर्म्यवैधर्म्यभेदात् । तत्र साधनस्य साध्येनान्वयोपदर्शनं साधर्म्यम्, यथा—यो धूमवान्, सोऽग्निमान्, यथा—महानस इति । साध्याभावस्य साधनाभावेनान्वयोपदर्शनं वैधर्म्यम्, यथा—योऽग्निमान्न भवति, नासौ धूमवान्, यथा—पाथ इति ।

सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वात्—इत्यादि । उनमें प्रथम उदाहरण असाधारण का ही है और 'सर्वं क्षणिकम्, सत्त्वात्'—यहाँ पर सभी पदार्थों को पक्ष बना लिया गया है—अतः उससे भिन्न न तो कोई सपक्ष है और न विपक्ष, अतः अन्वय व्याप्ति और व्यतिरेक व्याप्ति का निश्चय न हो सकने के कारण व्याप्त्यसिद्धि ही है, अन्य हेत्वाभास नहीं । अतः हमने ऊपर जो हेत्वाभास की व्यवस्था की है, वही निर्दुष्ट है ।

३—दृष्टान्ताभास—

दृष्टान्त का स्वरूप चिदानन्द पण्डित ने (नीति० पृ० १४२–४३ पर) इस प्रकार दिखाया है—साध्य और साधन की व्याप्ति के निश्चयस्थल को उदाहरण, दृष्टान्त या निदर्शन कहा करते हैं ॥ ८६ ॥ वह साधर्म्य और वैधर्म्य भेद से दो प्रकार का होता है । साधन का साध्य के साथ अन्वय-प्रदर्शन साधर्म्य कहा गया है, जैसे कि 'यो धूमवान्, सोऽग्निमान्, यथा—महानसः ।' साध्याभाव का साधनाभाव के साथ अन्वय-प्रदर्शन वैधर्म्य है, जैसे—'योऽग्निमान्न भवति, नासौ धूमवान्, यथा जलम् ।'

साध्यहीनः, साधनहीनः, उभयहीनः, आश्रयहीन इति साधर्म्योदाहरणाभासाश्चत्वारः। तद्यथा—नित्यो ध्वनिः अकारणत्वाद्, यदकारणं तन्नित्यम्—इत्यत्र प्रागभाववदिति साध्यहीनः, प्रध्वंसवदिति साधनहीनः, घटवदित्युभयहीनः, नरशृङ्गवदित्याश्रयहीनः। नित्यत्वमत्र अविनाशित्वमेव विवक्षितम्, न कोटिद्वयराहित्यम्।

वैधर्म्योदाहरणाभासा अपि साध्याव्यावृत्तादयश्चत्वारः। यथा—यन्नित्यं न भवति, न तदकारणम्—इत्यत्र यथा—प्रध्वंस इति साध्याव्यावृत्तः, यथा—प्रागभाव इति साधनाव्यावृत्तः, यथा—गगनमित्युभयाव्यावृत्तः, यथा—नरशृङ्गमित्याश्रयहीनः।

अत्र चोभयविधोदाहरणेऽपि अव्याप्त्यभिधानं विपरीतव्याप्त्यभिधानमिति

दृष्टान्ताभास का भी निरूपण चिदानन्द पण्डित के अनुसार ही इस प्रकार है कि साधर्म्योदाहरणाभास चार प्रकार का है—(१) साध्यहीन, (२) साधनहीन, (३) उभय-हीन और (४) आश्रय-हीन। जैसे 'ध्वनिः नित्यः, अकारणत्वाद्, यदकारणम्, तन्नित्यम्'—यहाँ पर (१) 'प्रागभाववत्'—यह साध्य-हीन, (२) 'ध्वंसवत्'—यह साधन-हीन, (३) 'घटवत्'—यह उभय-हीन तथा (४) 'नरशृङ्गवत्'—यह आश्रय-हीन है। नित्यत्व यहाँ अविनाशित्व ही विवक्षित है, कोटिद्वय-राहित्य नहीं।

वैधर्म्योदाहरणाभास भी (१) 'साध्याव्यावृत्त', (२) 'साधनाव्यावृत, (३) 'उभयाव्यावृत्त' और (४) 'आश्रय-हीन' भेद से चार प्रकार का होता है, जैसे 'यन्नित्यं न भवति, न तदकारणम्'—यहाँ पर (१) 'ध्वंसवत्'—यह साध्याव्यावृत्त, (२) 'प्रागभाववत्'—यह साधनाव्यावृत्त' (३) 'गगनवत्'—यह उभयाव्यावृत्त और (४) 'नरशृङ्गवत्'—यह आश्रयहीन है।

कथित उभय विध उदाहरणों में अव्याप्त्यभिधान और विपरीत-व्याप्त्यभिधान—ये दो दोष होते हैं। 'अग्निमान् पर्वतः, धूमवत्त्वाद्,

च द्वौ दोषौ। तत्र अग्निमान् पर्वतः, धूमवत्त्वाद्; यथा—महानसः इत्येतावदुक्ते अव्याप्त्यभिधानम्, यो धूमवान् सोऽग्निमान् इति व्याप्तेरनुक्तत्वात्। तथैव योऽग्निमान्न भवति, नासौ धूमवान् इति व्याप्तिमनुक्त्वैव यथा—महाह्रदः इत्येतावदुक्तेऽपि अव्याप्त्यभिधानम्।

यदा तु यो धूमवान् सोऽग्निमान् इति वक्तव्ये योऽग्निमान् स धूमवान्—इत्युच्यते, तदा विपरीतव्याप्त्यभिधानम्। तथैव योऽग्निमान्न भवति, नासौ धूमवानिति वक्तव्ये यो धूमवान्न भवति नासावग्निमानिति प्रयोगेऽपि द्रष्टव्यमिति।

अनुमानप्रपञ्चोऽयं बहुभिर्बहुधोदितः।
चिदानन्दोक्तरीत्या तु मयैवमिह दर्शितः॥ ८७॥



यथा महानसः'—इतना ही कहने पर अव्याप्त्यभिधान है, क्योंकि 'यो धूमवान्, सोऽग्निमान्'—इस प्रकार व्याप्ति का अभिधान नहीं किया गया। उसी प्रकार 'योऽग्निमान्न भवति, नासौ धूमवान'—इस प्रकार व्याप्ति का अभिधान न कर 'यथा महाह्रदः'—इतना ही कहने पर अव्याप्त्यभिधान व्याप्त्यनभिधान है।

जब कि 'यो धूमवान्, सोऽग्मिान्'—इसके स्थान पर 'योऽग्निमान्, स धूमवान्'—ऐसा कहा जाता है, तब विपरीव्याप्त्यभिधान है। उसी प्रकार 'योऽग्निमान्न, नासौ धूमवान्'—इसके स्थान पर 'यो धूमवान्न भवति, नासावग्निमान्'—ऐसा प्रयोग करने पर भी विपरीतव्याप्त्यभिधान होता है। यह अनुमान का प्रपञ्च अनेक विद्वानों ने विविध प्रकार से कहा है, किन्तु हम (नारायणभट्ट) ने श्री चिदानन्द पण्डित के द्वारा नीति तत्त्वाविर्भाव में कथित रीति से निरूपित किया है॥ ८७॥

(३) शब्दः—

अनुमानतः परस्तादुपमानं वर्णयन्ति तर्कविदः ।
वादिपरिग्रहभूम्ना वयं तु शाब्दं पुरस्कुर्मः ॥ ८८ ॥
तत्र तावत्पदैर्ज्ञातैः पदार्थस्मरणे कृते ।
असन्निकृष्टवाक्यार्थज्ञानं शाब्दमितीर्यते ॥ ८९ ॥

तदिदं शाब्दज्ञानं व्युत्पत्त्यधीनमिति तत्प्रकारमादौ प्रदर्शयामः । बालो हि 'गामानय', 'पुत्रस्ते जातः' इत्यादिवाक्यानन्तरं प्रवृत्तिं हर्षादिकं वा कस्यचिदुपलभ्य तयोर्बुद्धिपूर्वकत्वाद् , गवानयनपुत्रजननाद्यर्थबुद्ध्यनन्तरमेवास्य प्रवृत्ति-

---

(३) शब्द—

अनुमान के अनन्तर उपमान का वर्णन तार्किक किया करते हैं किन्तु अधिक दार्शनिकों के द्वारा अपनाए गए क्रम के अनुसार हम (नारायण भट्ट) शब्द का पहले निरूपण करते हैं ॥ ८८ ॥ ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण हो जाने पर जो असन्निकृष्टार्थविषयक वाक्यार्थज्ञान होता है, उसे शाब्द प्रमाण कहते हैं ॥ ८९ ॥ [भाष्यकारने कहा है—"शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्" (शा० भा० पृ० ३७) । चिदानन्द पण्डित ने वार्तिक के अनुसार उसी का आशय शाब्द सामान्य के लक्षण में बताया है—"विज्ञातेभ्यः पदेभ्यः पदार्थ-स्मृतिमुखेनासन्निकृष्टेऽर्थे यत् ज्ञानम्, तच्छाब्दम्" (नीति० पृ० १४४) । पदों के द्वारा पदार्थों का स्मरण और स्मारित पदार्थों के द्वारा जो वाक्यार्थ-ज्ञान होता है, उसे ही शाब्द प्रमाण कहते हैं] । शाब्द ज्ञान सदैव व्युत्पत्ति के अधीन होता है, अतः व्युत्पत्ति का प्रकार आरम्भ में दिखाया जाता है—वाक्यार्थानभिज्ञ व्युत्पित्सु बालक 'गामानय', 'पुत्रस्ते जातः'—इत्यादि वाक्यों को सुनने के अनन्तर जो व्युत्पन्न श्रोता की गवानयनादि की प्रवृत्ति या मुख-मण्डल पर उभरी हर्ष की रेखाओं को देख कर श्रोतृगत प्रवृत्त्यादि के द्वारा उनके जनक ज्ञान का अनुमान करता है—'अयं श्रोता उक्त शब्दोपस्थापितवाक्यार्थज्ञान-

हर्षादिकं जातमिति बुध्यमानः तादृशार्थबुद्धेश्च शब्दानन्तरमेव जातत्वाद् गामानय इत्यादिशब्दस्य गवानयनाद्यर्थबोधकत्वमवबुध्यते। तदा च पिण्डित एव शब्दः पिण्डितस्यैवार्थस्य बोधकतया ज्ञातः। ततश्च 'गां बधान', 'अश्वमानय'—इत्यादिप्रयोगान्तरेषु पदान्तरयोगत्यागरूपावापोद्वापौ दृष्ट्वा गोशब्दः सास्नादिमतो वाचकः आनयशब्द आनयनक्रियावाचक इत्यादौ पदार्थविवेकमवधारयति।

तच्च पदैः पदार्थबोधनं शब्दशक्तिजन्यत्वादभिधानमेव इति पार्थसारथिप्रभृतयः। शब्दोऽपि संस्कारोद्‌बोधनद्वारेणैव पदार्थं बोधयतीति स्मरणमेव पदार्थज्ञानम्—इति चिदानन्दादयः।

तथा च पदानां प्रत्येकमर्थेषु नियमितानामपि आदितः प्रभृति परिदृष्टमेकविशिष्टार्थज्ञानतात्पर्यं तावदवतिष्ठते। एवं पदार्थज्ञाने स्थिते यत्पुनस्तदनन्तर-

---

वान्, तदनन्तरमेव प्रवर्तमानत्वात्।' बालक यह जानता है कि इस श्रोता की प्रवृत्ति गवानयनाद्यर्थ-ज्ञान के अनन्तर ही हो सकती है और वह अर्थज्ञान उक्त शब्दोच्चारण के अनन्तर ही उत्पन्न हुआ है, अतः वह बालक 'गामानय'—इत्यादि शब्दों में गवानयनाद्यर्थ-बोधकत्व निश्चित कर लेता है। उस समय तक सामूहिक अर्थ की बोधकता ही सामूहिक शब्द में स्थिर होती है, उसके अनन्तर 'गां बधान', 'अश्वमानय'—इत्यादि प्रयोगान्तरों में पदान्तरों के आवाप (ग्रहण) और उद्वाप (त्याग) को देख कर 'गो' शब्द सास्नादिमान् अर्थ का और 'आनय' शब्द आनयन क्रिया का वाचक है—इस प्रकार पदार्थ-विवेक से अवगत हो जाता है।

पदों के द्वारा पदार्थ-बोधन शब्द-शक्ति से जनित होने के कारण शब्द का अभिधान व्यापार ही है—ऐसा पार्थसारथिमिश्रादि कहते हैं और चिदानन्दादि का कहना है कि शब्द भी संस्कारोद्बोधन के द्वारा ही पदार्थ-बोध कराता है, अतः पदार्थ-ज्ञान स्मरणात्मक ही होता है।

यद्यपि प्रत्येक पद का अपना एक नियत ही अर्थ होता है, तथापि आदि से लेकर सभी पदों का एक विशिष्टार्थ में तात्पर्य होता है, क्योंकि

मेकविशिष्टार्थज्ञानरूपं वाक्यार्थज्ञानं जायते तत् पदैरेव वा पदार्थस्मृतिभिर्वा जन्यते इति चिन्तायां पदानां पदार्थबोधोपक्षीणत्वाद् व्यवहितत्वाच्च पदार्था एव स्वसंसर्गरूपं वाक्यार्थं बोधयन्ति इत्ययं तावत्तार्किकादिसाधारणः पक्षः ।

वयं तु पदार्था लक्षणयैव वाक्यार्थं बोधयन्तीति ब्रूमः । वाच्यार्थानुपपत्त्या हि लक्षणा भवति । अत्र च पदैः स्मार्यमाणा गवादिपदार्था यद्यन्योन्यान्वयं विना सामान्यरूपा एवावतिष्ठेरन्, तर्हि पदानां व्युत्पत्तिसमयावधृतमेकविशिष्टार्थबोधतात्पर्यं विरुध्येत इति सामान्यरूपस्य वाच्यस्यानुपपत्तेरन्योन्यान्वयरूपे विशेषे एव पदार्थाः पर्यवस्यन्ति । ततश्च गौरियमानीयमानैव आनयनं च गोसंबद्धमेव इति परस्परान्वयलाभाद् गवानयनरूपवाक्यार्थसिद्धिः ।

पदों से पदार्थ-ज्ञान हो जाने पर जो उसके अनन्तर ही एक विशिष्टार्थ-ज्ञानरूप वाक्यार्थ-ज्ञान उत्पन्न होता है, वह क्या पदों के या पदार्थ-स्मृति के द्वारा उत्पादित होता है—इस प्रकार की चिन्तना में यह निश्चित हो जाता है कि पद तो पदार्थ-बोधन में ही उपक्षीण हो जाते हैं और वाक्यार्थ-बोध से उनका व्यवधान भी है, अतः पदार्थ ही अपने संसर्गरूप वाक्यार्थ के बोधक सिद्ध होते हैं—यही तार्किकादि भी मानते हैं ।

हमारा (नारायणभट्ट का) कहना यह है कि पदार्थ लक्षणा वृत्ति के द्वारा ही वाक्यार्थ का बोध कराते हैं, क्योंकि वाच्यार्थ की अन्यथानुपपत्ति से लक्षणा होती है—पदों के द्वारा स्मर्यमाण गवादि पदार्थ यदि परस्पर अन्वय के बिना ही सामान्यार्थ-पर्यवसाई माने जायँ, तब पदों की व्युत्पत्ति के समय अवधृत एक विशिष्टार्थ में तात्पर्य सम्भव नहीं रह जाता, अतः पदों के वाच्यार्थ की उपपत्ति तभी हो सकती है, जब कि उनका एक विशिष्टार्थ में पर्यवसान हो । अतः गौ और आनयन का परस्पर अन्वय इस प्रकार अवगत हो जाता है कि 'इयमानीयमानैव गौः, गोसम्बद्धमेवेदमानयनम् । फलतः वाक्यस्थ पदों के द्वारा अवगत पदार्थ परस्पर अन्वय का लाभ करते हैं—इस प्रकार भाट्टाभिमत अभिहितान्वय-

तेनात्र पदावगताः पुनः पदार्था मिथोऽन्वयं यान्ति ।
इत्येवमभिहितान्वयसिद्धान्तो दर्शितोऽस्मदादीनाम् ॥ ९० ॥
सकलपदान्तरपूर्ताविंतरपदार्थैः समन्वितं स्वार्थम् ।
सर्वपदानि वदन्तीत्यन्येषामन्विताभिधानमतम् ॥ ९१ ॥

गामानय इति प्रथमश्रवणे हि गवानयनरूपस्यान्वितस्यार्थस्य शब्द एव बोधकतया ज्ञातः । अतस्तदनुसारेण पुनरपि पदानामेवान्वितार्थबोधकत्वं वाच्यम्, न तु पदार्थानाम् । आवापोद्वापाभ्यां हि पदार्थेषु विविच्यमानेष्वपि तत्र तत्र तैस्तैरन्विता एव पदार्था दृष्टा, नत्वेकाकिन इति अन्विते स्वार्थे पदानां शक्तिर्न परित्यज्यते । ननु किं केवलपदार्थबोधः पदेभ्यो नास्त्येव ? अस्तीति ब्रूमः । पदानि तावत्पृथक् पदार्थान् स्मारयन्त्येव । न तु तावता विरमन्ति । स्मारितमेव तु स्वं स्वमर्थं पुनरितरपदार्थान्वितत्वेनाभिधायैव विरमन्तीति राद्धान्तः । अतः पदाभिधेय एवान्वितरूपो वाक्यार्थः, न तु पदार्थगम्यः ।

वाद प्रदर्शित हो जाता है ॥ ९० ॥

शङ्का—प्रभाकर-सम्मत जो अन्विताभिधान वाद है कि सभी पद इतर पदार्थ से अन्वित स्वार्थ का अभिधान करते हैं, शुद्ध अर्थ का नहीं ॥ ९१ ॥ 'गामानय'—इस प्रकार प्रथम वार श्रवण के द्वारा यही अवगत होता है कि 'गो' पद उसी गौ का वोधक है, जो आनीयमान है और 'आनय' पद उसी आनयन क्रिया का वाचक है जो कि गौ में हो रही है । अतः उसी के अनुसार पदों को ही अन्वय-विशिष्ट अर्थ का वाचक मानना न्यायोचित है, शुद्ध अर्थ का वोधक नहीं । कथित आवाप और उद्वाप के द्वारा जो पदार्थों का विविक्तावधारण होता है, वह अन्वय को छोड़ कर नहीं, अतः अन्वितार्थ में पदों की जो शक्ति गृहीत होती है, उसका त्याग कभी नहीं हो सकता । तव क्या पदों के द्वारा शुद्ध पदार्थों का वोध नहीं होता ? इस प्रश्न का उत्तर है कि पदों से शुद्धार्थ का वोध होता है । पद अपने पदार्थ का स्मरण कराते हैं, किन्तु उतने से ही विरत नहीं हो जाते, अपने स्मारित अर्थ का इतरार्थान्वय के साथ अभिधान

पदार्थगम्यत्वे च प्रमाणान्तरप्रतिपन्नानामपि पदार्थानामन्वयः स्यात्, न चासौ दृश्यते ।

तदिदं गुरुमतं गौरवादेव हेयम्, अस्मन्मते हि पदार्थानां स्मृतिसिद्धत्वाद् वाक्यार्थस्यापि लक्षणासिद्धत्वात् शक्त्यन्तरकल्पनैव नास्तीति पदेषु शक्तिकल्पनाप्रस्ताव एव भवतां गौरवमायातम् । किञ्च पदशक्तितः पदार्थशक्तिरेव लघीयसी, तदा खलु गमनरूपस्यैकस्यैवार्थस्यान्वयबोधकत्वे कल्पिते गमनपर्यायाणामन्येषामपि अन्वयः सिध्यति । पदशक्तौ तु गमनार्थानामनन्तानां पदानां शक्तिः कल्पनीया इति महागौरवम् । एकवाक्ये च सर्वपदैः प्रत्येकमितरान्वि-

---

करके ही विरत होते हैं, अतः अन्वितरूप वाक्यार्थ पदों का अभिधेय ही होता है, पदार्थों के द्वारा लक्षणीय नहीं, क्योंकि यदि पदार्थों के द्वारा वाक्यार्थ का बोध माना जाता है, तव प्रमाणान्तर से ज्ञात पदार्थों का भी वाक्यार्थ में अन्वय होना चाहिए किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता ।

समाधान—वह प्रभाकर का मत गौरव दोष के कारण ही हेय है, क्योंकि हमारे (भाट्टाभिमत) अभिहितान्वयवाद में पदार्थ स्मृति-सिद्ध और वाक्यार्थ लक्षणा-सिद्ध है, अतः वाक्य की वाक्यार्थ में शक्त्यन्तर मानने की कोई आवश्यकता नहीं और आपके मतानुसार शक्ति कल्पना में आरम्भ से ही गौरव प्रसक्त हो रहा है । दूसरी बात यह भी है कि पदगत शक्ति की अपेक्षा पदार्थगत शक्ति की कल्पना में लाघव है, क्योंकि एक ही गमनरूप अर्थ के 'गमनम्', 'चलनम्'—इत्यादि अनेक पद वाचक होते हैं, अतः पदार्थ को वाक्यार्थ का बोधक मानने में जो कार्य पदार्थगत एक लक्षणा शक्ति से चलता है, उसके लिए पदों को वाक्यार्थ-बोधक मानने में अनेक पदों में अनेक शक्तियाँ माननी होंगी—इससे अधिक और गौरव क्या होगा ? पदार्थ-शक्ति-पक्ष में गमनगत शक्ति से ही गमन के पर्यायार्थों का भी अन्वय-बोध हो जाता है, किन्तु पद-शक्ति-पक्ष में गमनार्थक अनन्त पदों की अनन्त शक्तियाँ माननी पड़ेगी । अन्विताभिधान-पक्ष में यह भी एक महान् दोष है कि जब एक वाक्य का घटक प्रत्येक पद इतरार्था-

तस्वार्थे बोध्यमाने पदे पदे वाक्यार्थप्रत्ययोऽपि बलादापन्न इति कष्टतर-मेतदिति ।

यत्तु पदार्थानामन्वयबोधकत्वे प्रमाणन्तरप्रतिपन्नानामप्यन्वयः स्यादित्युक्तम्, तत्र ब्रूमः—भवतामपि गां बधान इत्युक्ते विगलितरशनो बन्धनापेक्षोऽपि दृश्यमानस्तुरगो बन्धेन कथं नान्वयं भजते ? तत्र खल्वश्वस्य शब्दप्रतिपन्नत्वाभावादनन्वय इति बलाद्वक्तव्यम् । तथा च तद्वदेव प्रमाणान्तरप्रतिपन्नानामपि शब्दप्रतिपन्नत्वाभादेवानन्वयः सिद्ध इति तत्रापि नास्माकं किञ्चिदधिकं कल्पनीयम्, तस्मादस्मदुक्त एवान्वयप्रकारो लघीयान् इति ।

अत्राकाङ्क्षा च योग्यत्वं सन्निधिश्चेति तत्त्रयम् ।
वाक्यार्थावगमे सर्वैः कारणत्वेन कल्प्यते ॥ ९२ ॥

न्वित स्वार्थ का बोधक है, तब वाक्य-घटक प्रत्येक पद से वाक्यार्थ-बोध होना चाहिए एवं प्रथम पद के श्रवण-काल में इतर पद श्रुत ही नहीं होते, इतरार्थान्विय की उपस्थिति ही नहीं होती, तब वह प्रथम पद किस अर्थ का बोधक होगा ?

यह जो आक्षेप किया गया है कि पदार्थों में अन्वय-बोधकत्व मानने पर शब्देतर प्रमाणों से उपस्थित अर्थों का भी अन्वय प्रसक्त होता है। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि आप (अन्विताभिधानवादी) के मतानुसार भी 'गां बधान'—ऐसा कहने पर प्रत्यक्षतः दृश्यमान रस्सा तोड़ा कर भागते हुए अश्व का शाब्दबोध में अन्वय क्यों नहीं होता ? इस प्रश्न के उत्तर में विवश होकर आपको कहना होगा कि अश्व की शब्दतः उपस्थिति नहीं, अतः उसका शाब्द बोध में अन्वय नहीं होता। उसी प्रकार हम भी यही उत्तर दे देंगे कि शब्देतर प्रमाण से उपस्थित पदार्थ शब्दतः उपस्थित न होने के कारण वाक्यार्थ में अन्वित नहीं होता। वहाँ पर भी हमें (भाट्टगणों को) किसी अधिक वस्तु की कल्पना नहीं करनी पड़ती, अतः हमारा अन्वय-प्रकार ही लघुतर है।

यहाँ पर आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि—इन तीनों को शाब्द बोध

गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्याकाङ्क्षारहितेष्विह ।
अन्वयादर्शनात् तावदाकाङ्क्षा परिगृह्यते ॥ ९३ ॥
अग्निना सिञ्चतीत्यादावयोग्यानामनन्वयात् ।
योग्यतापि परिग्राह्या सन्निधिस्त्वथ कथ्यते ॥ ९४ ॥

शब्दैः सन्निहितत्वेन बोधितत्वं हि पदार्थानां सन्निधिरित्युच्यते । अतः सन्निहितत्वाभावात् शब्दबोधितत्वाभावाच्च द्वेधा सन्निध्यभावो भवति, तत्र भिन्नकालोच्चारितयोः गामानय इति पदयोः सन्निहितत्वाभावादनन्वयः । गां बधान इत्यत्र बन्धनापेक्षस्य दृश्यमानस्य अश्वस्य शब्दबोधितत्वाभावादेवानन्वयः । अतः शब्दप्रतिपन्नानामेवान्वयः इति नियमः सिद्धः । गुरुस्तु बुद्धिसन्निधिमात्रमेव सन्निधिं मन्यते, न तु शाब्दसन्निधिम् । सोऽपि गां बधान इत्यत्र अश्वस्यानन्वयं वारयितुमशक्नुवन् शाब्दानामेवान्वय इति अकामेनापि अनु-

---

का कारण माना जाता है ॥ ९२ ॥ 'गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती—इत्यादि निराकांक्ष पदों के द्वारा शाब्द बोध नहीं होता, अतः आकांक्षा को शाब्द बोध में कारण मानना आवश्यक है ॥ ९३ ॥ उसी प्रकार 'अग्निना सिञ्चति'—इत्यादि अयोग्य पदों के द्वारा भी अन्वय-बोध नहीं होता, अतः योग्यता भी ग्राह्य है ॥ ९४ ॥ सन्निधि के विषय में हमारा मत है कि पदार्थों में सन्निहितत्वेन बोधितत्व होना ही सन्निधि पदार्थ है, अतः पदार्थों में सन्निहितत्वाभाव और शब्द-बोधितत्वाभाव—इन दोनों अवस्थाओं में सन्निधि का अभाव माना जाता है। भिन्न-भिन्न कालों में उच्चारित 'गाम्' और 'आनय'—इन दो पदों में सन्निहितत्व न होने के कारण शाब्दबोध नहीं होता और 'गां बधान'—यहाँ पर प्रत्यक्षतः दृश्यमान भागते हुए अश्व का शाब्द बोध में अन्वय न होने का कारण अश्व में शब्दबोधितत्व न होना है। फलतः यह नियम सिद्ध हो जाता है कि शब्दोपस्थापित पदार्थों का ही अन्वय होता है। आचार्य प्रभाकर तो बुद्धिकृत सन्निधिमात्र को ही सन्निधि मानते हैं, शाब्द सन्निधि को नहीं, अतः वे भी 'गां बधान'—यहाँ पर प्रत्यक्षोपस्थापित अश्व का ही अन्वय

मंस्यते इति प्रागुक्तम् ।

ननु तत्र वाक्यस्याश्वं प्रति तात्पर्याभावादेव तस्यानन्वयोऽस्तु न शाब्दत्वाभावात् । मैवम्, तथा सति अग्निना सिञ्चेत् इत्यादावपि तात्पर्याभावादेव अनन्वय इति योग्यत्वादीनामपि अपरिग्रहप्रसङ्गात् ।

तस्मादन्वयसिद्धौ तात्पर्यं न स्वयं क्वचिद्धेतुः ।
सामग्र्यन्तरभावे नियमार्थं त्वर्थ्यते पुनस्तदपि ॥ ९५ ॥

इति स्थितिः ।

एवं गत्यन्तराभावाद् गुरुणापि समाश्रितः ।
शाब्दानामेव संसर्ग इत्ययं नियमोऽधुना ॥ ९६ ॥
तेन द्वेधोपकारो नस्तत्रैकः पूर्वमीरितः ।
मानान्तरावबुद्धानां नान्वयः स्यादितीदृशः ॥ ९७ ॥
अन्योऽपि द्वारमित्यादावध्याहारे भविष्यति ।

निवारण में समर्थ नहीं हो सकते, अतः उन्हें भी विवश होकर 'शब्दोपस्थापित अर्थों का ही अन्वय होता है' —ऐसा नियम मानना ही पड़ेगा, यह कहा जा चुका है। 'अश्व में वाक्य का तात्पर्य न होने के कारण ही उसका अनन्वय होता है, शब्दोपस्थापित्वाभाव के कारण नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि तव तो 'अग्निना सिञ्चति'—इत्यादि स्थलों पर भी तात्पर्याभाव-प्रयुक्त अनन्वय दिखाकर योग्यता को भी तिलाञ्जलि दी जा सकती है। अतः अन्वय-वोध में तात्पर्य कहीं भी साक्षात् हेतु नहीं होता, इतर सामग्री के होने पर नियमनार्थ तात्पर्य भी अपेक्षित होता है ॥ ९५ ॥ इस प्रकार अन्य उपाय न होने के कारण आचार्य प्रभाकर को भी यह नियम मानना पड़ता है कि शब्दोपस्थापित पदार्थों का ही अन्वय-बोध होता है। इसका लाभ हमें (भाट्ट गणों को) दो स्थलों पर मिलता है, उनमें एक स्थल की चर्चा हो चुकी है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणान्तरों से उपस्थापित अश्वादि पदार्थों का अन्वय-प्रसक्त नहीं होता और दूसरा स्थल है—'द्वारम्' इतनामात्र कह देने पर अर्थाध्याहार से काम नहीं

शाब्दस्यैवान्वयार्हत्वाद् द्वारमाव्रियतामिति ।
शब्दाध्याहार एव स्यादित्येवं मादृशां मतम् ॥ ९८ ॥
गुरुस्त्वावरणार्थस्य तत्राध्याहारमिच्छति ।
बुद्धिसन्निधिमात्रेणाप्यन्वेतीति दुराशयः ॥ ९९ ॥
तत्र यद्यवलिप्तोऽयं गुरुर्नाद्यैव शिक्ष्यते ।
अर्थाध्याहृतिरेवेति तर्हि गर्जिष्यति ध्रुवम् ॥ १०० ॥

इत्यास्तामेतत् । उक्तस्तावद्वाक्यार्थज्ञानप्रकारः । असन्निकृष्टवाक्यार्थज्ञानं च शाब्दमित्युक्तम् । इदमेवागम इति चोच्यते । असन्निकृष्टपदेन च अनुवादानां बाधितार्थानां च वाक्यानामप्रामाण्यमुक्तम् ।

तच्च शाब्दं द्विविधं पौरुषेयमपौरुषेयं च । तत्राप्तवचः पौरुषेयं वेदवचोऽ-

---

चल सकता, अतः 'आव्रियताम्'—इस शब्द का अध्याहार आवश्यक हो जाता है, क्योंकि शब्दोपस्थापित पदार्थों में ही अन्वय की योग्यता आती है—यह हमारा सिद्धान्त अक्षुण्ण है ॥ ९६–९८ ॥

आचार्य प्रभाकर का कहना है कि वहाँ 'आव्रियताम्'—इस पद के अध्याहार की आवश्यकता नहीं, केवल आवरणरूप (बन्द करना) अर्थ का ही अध्याहार हो जाने से बौद्ध सन्निधि का लाभ हो जाता है ॥ ९९ ॥ विद्वानों से हमारा (नारायण भट्ट का) अनुरोध है कि प्रभाकर गुरु को ठीक से शिक्षा दे देनी चाहिए (उनके मत का निराकरण कर देना चाहिए) नहीं तो वह यही बड़बड़ाता रहेगा कि अर्थाध्याहार ही वहाँ पर्याप्त है ॥ १०० ॥

इस प्रकार वाक्यार्थ-ज्ञान का क्रम कह दिया गया, असन्निकृष्टार्थ-विषयक वाक्यार्थ-ज्ञान शाब्द प्रमाण है—यह भी कहा गया, इसे ही आगम प्रमाण कहा जाता है। 'असन्निकृष्ट'—पद के द्वारा अनुवादक और बाधितार्थक वाक्यों का अप्रामाण्य सूचित किया गया।

उक्त शाब्द ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) पौरुषेय और (२) अपौरुषेय । उनमें आप्त-वचन पौरुषेय होने के कारण उससे जनित

पौरुषेयम् ।

गुरुस्त्वाह—वैदिकमेव शाब्दमस्ति । पुरुषवचनानि तु वक्त्रभिप्रायानुमापकान्येव न स्वयमेव वाक्यार्थं बोधयंति, शङ्काकुण्ठितशक्तित्वाद् व्युत्पत्तिसमयसिद्धापि शब्दानां बोधकशक्तिर्व्यभिचारबहुलेषु पौरुषेयवचनेषु तदाशङ्कया कुण्ठिता भवति । तत्र च अनेन वक्त्रामुमर्थमवबुध्यैव वाक्यं प्रयुक्तम्—इति यावन्नानुमीयते तावदन्यथात्वशङ्का न निवर्तत इति वाक्यमुदास्ते एव । तथा तात्पर्यमपि नरगिरां तद्बुध्यधीनमिति वक्तृबुध्यनुमानं विना तात्पर्यानिश्चयादपि वाक्यमुदास्ते । तस्मात् वक्तृधीस्तावदनुमातव्या । तत्र नद्यास्तीरे फलानि

शाब्द ज्ञान को पौरुषेय और अपौरुषेय वेद-वचनों से उत्पादित शाब्द ज्ञान को अपौरुषेय कहा जाता है ।

प्रभाकर मत—आचार्य प्रभाकर का कहना है कि वैदिक ही शाब्द-प्रमाण होता है, पौरुषेय नहीं, क्योंकि पुरुष-वचन केवल वक्ता पुरुष के अभिप्राय का अनुमान मात्र कराते हैं, स्वयं वाक्यार्थ का बोध नहीं कराते । उसका कारण यह है कि पुरुष-वचनों की बोधिका शक्ति व्यभिचार-शङ्का से आक्रान्त होने के कारण कुण्ठित हो जाती है । यद्यपि व्युत्पत्ति के समय शब्द में बोधकता शक्ति सिद्ध होती है, तथापि अधिकतर पुरुष-वचन असत्य देखे जाते हैं, अतः व्यभिचारबहुल पौरुषेय वचनों की उस शक्ति में कुण्ठा का आ जाना स्वाभाविक होता है । वह अन्यथात्व (विपरीतार्थ-बोधकत्व) की आशङ्का तब तक निवृत्त नहीं होती, जब तक कि यह अनुमान नहीं कर लिया जाता कि 'अनेन वक्त्रा अमुमर्थमवबुध्य एव वाक्यं प्रयुक्तम् ।' जिस शब्द की शक्ति कुण्ठित हो जाती है, वह अपना कार्य (वाक्यार्थ-बोधन) में उदास (अक्षम) हो जाता है । पुरुष-वचनों का तात्पर्य भी उसकी बुद्धि के अधीन होता है, वक्ता के ज्ञान की अनुमिति के बिना तात्पर्य का अनिश्चय रह जाने के कारण भी वाक्य उदास हो जाता है, अतः वक्ता के ज्ञान का अनुमान नितान्त आवश्यक है । 'नाद्यास्तीरे फलानि सन्ति'—इस वाक्य को सुनकर श्रोता

सन्ति—इति वाक्ये श्रुते पदार्थेषु च पृथक् पृथक् स्मृतेषु अनुमिनोति—एतानि पदानि एतेषां पदार्थानां संसर्गमवबुध्यैव प्रयुक्तानि, आप्तप्रणीतपदत्वाद्, गामानयेति पदवदिति। एवं च वक्तुः पदार्थसंसर्गज्ञानमवगन्तुं परिश्रान्तः श्रोता पदार्थसंसर्गरूपं वाक्यार्थमपि बलाल्लभते इति अनुमेय एव नरवचस्सु वाक्यार्थः।

एवं व्यभिचारभये गलिते वाक्यार्थनिर्णये जाते।
पुनरभिधत्ते शब्दोऽप्यनुवादतयेति तस्य राद्धान्तः ॥१०१॥

तदिदमयुक्तम्—

व्यभिचारविशङ्कामप्यनादृत्येन्द्रियादिवत् ।
स्वमर्थमभिधातुं किं समर्था न पदावली ॥ १०२॥

सभी पदार्थों का पृथक्-पृथक् स्मरण कर अनुमान करता है—'एतानि पदानि, पदार्थसंसर्गमवबुध्यैव प्रयुक्तानि, आप्तप्रणीतत्वाद्, गामानयेति वाक्यवत्।' इस प्रकार वक्ता के पदार्थ-संसर्ग-ज्ञान की अनुमिति करने में थक-थकाकर श्रोता पदार्थ-संसर्गरूप वाक्यार्थ को बलपूर्वक प्राप्त करता है, अतः यह सिद्ध हो गया कि पौरुषेय वचनों में वाक्यार्थ अनुमेय ही होता है। व्यभिचार-शङ्का के निवृत्त हो जाने पर पौरुषेय शब्द भी उसी अर्थ का अनुवाद मात्र कर देता है—यह आचार्य प्रभाकर का सिद्धान्त है ॥ १०१ ॥ [श्री शालिकनाथ मिश्र कहते हैं—"लौकिकं वाक्यं नार्थे स्वयं निश्चयमुत्पादयति, लौकिकवचसामनृतभूयिष्ठत्वादर्थव्यभिचारस्य शङ्कितत्वात्। यो हि पुरुष एवमवधारितः—"नायमशक्तः न प्रमादी नायमविज्ञायान्वयमर्थानामन्वितार्थानि प्रयुंक्ते इति, तद्वाक्यप्रयोगस्यान्वयज्ञानपूर्वकत्वादन्वयज्ञानं तावदनुमीयते, ज्ञानं हि ज्ञेयाविनाभावि ज्ञेयानुमाने भवत्येव लिङ्गम्। तद्वाक्यस्यानुवादकतैव, अत एव लौकिकं वचनं न शाब्दं प्रमाणम्" (प्र० पं० पृ० २४४)।

प्रभाकर-मत का निरास—व्यभिचार-शङ्का का निराकरण करके इन्द्रियादि के समान क्या शब्द अपने अभिधेयार्थ का प्रतिपादन नहीं कर

तात्पर्यमपि सुज्ञानं स्वतो ज्ञानानुमां विना ।
यथा वेदे यथा चान्येष्वनालोचितकर्तृषु ॥ १०३ ॥
वक्तृज्ञानानुमानान्तं यदि च प्रतिपाल्यते ।
तर्हि तस्याप्यशक्यत्वाद्भग्नाशः किं करिष्यसि ॥ १०४ ॥

आप्तप्रणीतत्वं खल्वत्र हेतुत्वेनोक्तम् । आप्तत्वं च भ्रान्त्याद्यभावोऽभिमतः । भ्रान्तिश्चास्य पुरुषस्य नास्त्येवेति क्वचिदपि न निरूपयितुं शक्यते । ऋषीणामपि भ्रान्तिराशङ्क्यते किमङ्ग पुनरर्वाचीनानां इत्युक्तत्वात् । एवं अस्मिन् देशे काले वा अस्य भ्रान्तिर्नास्ति इत्यपि दुर्निरूपमेव । तस्मादन्ततः अस्मिन् वाक्यार्थेऽस्य भ्रमो नास्ति इति वाक्यार्थज्ञानपुरःसरमेव भ्रान्तिर्निवारणीया । अतो वाक्यार्थावगमात्पूर्वमाप्तत्वमसिद्धमेव इति कथं तेनानुमीयते इति हतं गुरुमतम् ।

सकता ? वक्तृस्थ ज्ञान का अनुमान किए विना स्वतः ही तात्पर्य भी जाना जा सकता है, क्योंकि वेद-वचन के समान ही लौकिक-वचन के कर्त्ता की आलोचना विशेष आवश्यक नहीं, लौकिक और वैदिक शब्दों में भी कोई मौलिक अन्तर नहीं माना जाता, अतः यदि वैदिक वचन स्वतः ही अन्वितार्थ का बोधन कराने की शक्ति रखते हैं, तव लौकिक वचनों में भी उसे मानना होगा, अन्यथा वैदिक वचनों से भी वोध क्यों होगा ? ॥ १०२–४ ॥ आपके पूर्वोक्त आप्तप्रणीतत्वलिङ्गक अनुमान में अपेक्षित आप्तत्व का अर्थ भ्रान्त्यादि का अभाव ही है। आप्त पुरुष कभी भ्रान्त नहीं होता। भ्रान्ति की आशङ्का तो कहाँ नहीं हो सकती ? ऋषियों में भी जव भ्रान्ति की शङ्का हो सकती है, तब आधुनिक पुरुषों की वात ही क्या ? भ्रान्ति का देशतः कालतः या विषयतः निरूपण भी नहीं हो सकता, क्योंकि 'इस वाक्यार्थ में भ्रम नहीं'—इस प्रकार वाक्यार्थ-ज्ञानपूर्वक ही शङ्का हटाई जा सकती है, वाक्यार्थज्ञान के पूर्व आप्तत्व ही असिद्ध है, अतः आप्तत्वरूप हेत्वाभास के द्वारा उसके अन्वितार्थ-ज्ञान का अनुमान क्योंकर हो सकेगा ? इस प्रकार लौकिक शब्द में अनुमानत्ववादी

एवं लौकिकशब्दानामनुमानत्ववारणात् ।
सर्वशब्दानुमानत्ववादिनोऽपि हि खेदिताः ॥ १०५ ॥

द्विप्रमाणा हि काणादादयो गुरूक्तप्रकारेणैव सर्ववाक्यार्थानां अनुमेयत्वमाहुः । तेऽप्यनेनैव निरसनीयाः, तैरपि हि निर्दोषवाक्यत्वादिभिरेव वाक्यार्थोऽनुमातव्यः । निर्दोषत्वं च भ्रान्त्यादिराहित्यम्, तच्च वाक्यार्थनिरूपणपुरःसरमेव निरूपणीयमिति पूर्वोक्तप्रकारेण तेषामपि हेत्वसिद्धिरेवेत्यास्तां तावत् । तदेवं लौकिकं वैदिकमपि शाब्दं सिद्धम् । तत्र—

दुष्टवक्तृप्रणीतत्वदोषः शब्दे यदा भवेत् ।
तदा स्याद्व्यभिचारोऽपि पौरुषेयगिरां क्वचित् ॥ १०६ ॥
अपौरुषेये वेदे तु पुरुषस्पर्शसंगतः ।
कलङ्को न विशङ्क्येत तत्कुतो व्यभिचारिता ॥ १०७ ॥

प्रभाकर का निराकरण हो जाने पर सभी शब्दों में अनुमानत्ववादी वैशेषिकादि अपने-आप निरस्त हो जाते हैं ॥ १०५ ॥

वैशेषिक और बौद्ध द्विप्रमाणवादी कहे जाते हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों में से केवल प्रत्यक्ष और अनुमान—दो ही प्रमाण मानते हैं। वैशेषिकादि सभी शब्दों को प्रमाण न मान कर वाक्यार्थ को अनुमेय मानते हुए कहते हैं—"शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः, समानविधित्वात् । यथा प्रसिद्धसमयस्यासन्दिग्धलिङ्गदर्शनप्रसिद्ध्यनुसरणाभ्यामतीन्द्रियेऽर्थे भवत्यनुमानमेवं शब्दादिभ्योऽपीति" (प्र० भा० पृ० १०७)।

वैशेषिकादि का भी निरास उसी प्रकार कर देना चाहिए, क्योंकि वे लोग भी 'निर्दोषवाक्यत्वादिरूप' लिङ्ग के द्वारा ही वाक्यार्थ का अनुमान किया करते हैं, निर्दोषत्व का अर्थ है—भ्रान्त्यादिराहित्य। उसका ज्ञान तभी हो सकेगा, जबकि पहले वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाय, फलतः यहाँ पर भी पूर्वोक्त रीति से हेत्वसिद्धि ही है।

लौकिक और वैदिक—दोनों प्रकार का शाब्द प्रमाण सिद्ध किया गया, उसमें लौकिक वचन जब दुष्ट या अनाप्त पुरुष के द्वारा प्रणीत होता

वैदिकं च विधिमन्त्रार्थवादभेदेन उपदेशातिदेशभेदेन च बहुविधम् इत्यादि तु परिमितकथया न बोधयितुं शक्यते इति उपरम्यते ।



है, तब वाक्यार्थ-बोध व्यभिचरित हो जाता है, किन्तु अपौरूषेय वेद-वचन के साथ पुरुष का किसी प्रकार भी संस्पर्श नहीं होता, अतः वहाँ कोई भी कलङ्क (दोष) सम्भावित नहीं, व्यभिचार-शङ्का तो हो ही कैसे सकती है ? विधि, मन्त्र, अर्थवाद के भेद तथा उपदेश और अतिदेश के भेद से वैदिक वचन बहुविध हैं, जिनका निरूपण इस संक्षिप्त ग्रन्थ में नहीं किया जा सकता । [समस्त साङ्गवेद विधि, मन्त्र, नामधेय, निषेध एवं अर्थवाद—इन पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है । विधि वाक्य चार प्रकार के होते हैं—उत्पत्ति विधि, विनियोग विधि, अधिकार विधि और प्रयोग विधि । यागादि क्रिया और उस के द्रव्य देवतात्मक स्वरूप के बोधक "यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति" (तै० सं० २।६।३) इत्यादि वाक्यों को उत्पत्ति विधि, विहित कर्म के द्रव्यादि अङ्गो के विनियोजक "व्रीहिभिर्यजेत" (आप० श्रौ० ६।३१।१३) इत्यादि वाक्यों को विनियोग विधि, कर्म के फल और अधिकारी के बोधक "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"—इत्यादि वाक्यों को अधिकार विधि तथा साङ्ग कर्म के अनुष्ठान-क्रम का प्रतिपादन करनेवाले वाक्यों को प्रयोग विधि कहा जाता है । कर्म और कर्म-सम्बन्धी पदार्थों का स्मरणादि दिलाने वाले "इषे त्वा" (माध्य० सं० १।१) इत्यादि वाक्य मन्त्र कहे जाते हैं । सभी मन्त्र चार प्रकार के होते हैं—करण मन्त्र, क्रियमाणानुवादी मन्त्र, अनुमन्त्रण मन्त्र और जप मन्त्र । जिस मन्त्र का उच्चारण करने के अनन्तर कर्म किया जाता है, उसे करण मन्त्र कहते हैं, जैसे—याज्या, पुरोऽनुवाक्या आदि । कर्मानुष्ठान के साथ-साथ जो मन्त्र बोला जाता, वह क्रियमाणानुवादी मन्त्र है, जैसे "युवा सुवासा" (ऋ० सं० ३।१।३) इत्यादि । यजमान के द्वारा द्रव्य-

(४) उपमानम्—

दृश्यमानार्थसादृश्यात् स्मर्यमाणार्थगोचरम् ।
असन्निकृष्टसादृश्यज्ञानं ह्युपमितिर्मता ॥ १०८ ॥

यथा गवये गोसादृश्यदर्शनानन्तरं स्मर्यमाणे गवि गवयसादृश्यज्ञानम् । तथाहि—

नगरे खलु पूर्वं गां पश्यतोऽपि न भासते ।
तत्स्थं गवयसादृश्यं गवयस्यानिरीक्षणात् ॥ १०९ ॥

त्यागादि कर्म करने के अनन्तर बोले जाने वाले "एको मम एका तस्य योऽस्मान् द्वेष्टि" (श० ब्रा० ११८।५।७) इत्यादि वाक्यों को अनुमन्त्रण मन्त्र कहा जाता है। कथित मन्त्रों से अतिरिक्त जिन मन्त्रों का यजमान जप करता है, वे जप मन्त्र हैं। अग्निहोत्रादि शब्द कर्म के नामधेय या संज्ञाएँ हैं। "नेक्षेतोद्यन्तमादित्यम्" (मनु० ४।३७) इत्यादि वाक्य निषेध वाक्य हैं। विहित कर्मों की प्रशंसा और निषिद्ध कर्मों की निन्दा करने वाले वाक्य अर्थवाद कहे जाते हैं। किसी कर्म के प्रकरण में पठित वाक्यों को उपदेश और 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्त्तव्या'—इत्यादि वाक्यों को अतिदेश वाक्य कहते हैं]।



(४) उपमान—

वन में दृश्यमान गवयादि पदार्थों के सादृश्य से स्मर्यमाण असन्निकृष्ट गोष्ठस्थ गोगत सादृश्य का ज्ञान उपमिति या उपमान प्रमाण कहलाता है, जैसा कि भाष्यकार कहते हैं—"उपमानमपि सादृश्यमसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति" (शा० भा० पृ० ३७)। गवय में गोप्रतियोगिक सादृश्य (समानाकारता) को देख कर जो यह ज्ञान उत्पन्न होता है—'एतत्सदृशी मदीया गौः ।' वही उपमिति होती है। नगरस्थ गौ में गवय का सादृश्य तब तक प्रतीत नहीं होता, जब तक गवय का दर्शन नहीं होता ॥ १०८ ॥ कदाचित् जब वन की ओर पुरुष जाता है, गवय को देखता है, तब गवयगत गोप्रतियोगिक सादृश्य का प्रत्यक्ष करता है,

कदाचित्तु वनं प्राप्य गवयं वीक्षते यदा।
तदा तद्गतगोसाम्यं प्रत्यक्षेणैव गृह्यताम् ॥ ११० ॥
यत्पुनस्तावदेवास्य भाति दूरस्थिते गवि।
गवयेनापि सादृश्यं तत्र किंनाम कारणम् ॥ १११ ॥
न हि पूर्वगृहीतं तद्येन स्मर्येत सांप्रतम्।
दूरस्थितत्वाच्चेदानीं प्रत्यक्षेण न गृह्यते ॥ ११२ ॥
स्पष्टं च भासते तस्मात्प्रमाणान्तरमर्थ्यते।
तत्रोपमानमाचख्युः शावराः शाङ्करा अपि ॥ ११३ ॥

तत्र च—

गवयस्थितसादृश्यदर्शनं करणं भवेत्।
फलं गोगतसादृश्यज्ञानमित्यवगम्यताम् ॥ ११४ ॥

तार्किकास्तु उपमानमन्यादृसमन्वेषयन्तो गोगतसादृश्यज्ञानमनुमानीकुर्वन्ति, यथा—यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी, स तेनापि सदृशः, यथा करतलं करतलान्तरेण, गवयगतसादृश्यप्रतियोगी च गौः, तस्मात् गवयेनापि सदृशः इति।

उसके अनन्तर दूरस्थ गौ में गवय के सादृश्य की जो प्रतीति होती है, उसे स्मृतिरूप नहीं मान सकते, क्योंकि नगरस्थ गौ में उसका अनुभव ही नहीं हुआ था, स्मरण कैसे होगा ? प्रत्यक्ष से गोगत सादृश्य का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि उस सादृश्य का गोरूप धर्मी दूर है, इन्द्रिय-सन्निकृष्ट नहीं। अतः गोगत सादृश्य की प्रतीति को मीमांसक और अद्वैत वेदान्ती उपमान कहा करते हैं। गवयगत गोसादृश्य का दर्शन करण (उपमान प्रमाण) और गोगत गवय-सादृश्य का ज्ञान फल (उपमिति) होता है ॥ १०९–११४ ॥

तार्किकरक्षाकार जो उपमान को अनुमान का प्रकार मानते हैं, वे गोगत गवयसादृश्य के ज्ञान का अनुमान किया करते हैं—यो यत्सादृश्यप्रतियोगी, तेनापि सदृशः, यथा करतलं करतलान्तरेण, गवयगतसादृश्यप्रतियोगी च गौः, तस्माद् गवयेनापि सदृशः' (ता. र. पृ. ८३)।

तदयुक्तम् , इह हि यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी स तेनापि सदृश इति सामान्यव्याप्तिमात्रेणानुमीयमाने यः कश्चिदग्निरस्ति इतिवदनियतविशेषकं यत्किञ्चित्सादृश्यमस्ति इत्येतावदेव भासते, न तु नियतमेव गोर्गवयसादृश्यं प्रत्यक्षवदेव विस्पष्टं परिच्छिद्येत। तस्मान्नियतपरिच्छेददर्शनान्न सामान्यतोदृष्टानुमानमिदम्। अतोऽनुमानाभावान्मानान्तरमेव।

ननु तदानीमेव गोर्गवयसाधर्म्यवत् पुरुषादेर्गवयवैधर्म्यमपि स्पष्टं प्रतिभासते। तत्रापि किं प्रमाणान्तरमाश्रीयते ?

नेति ब्रूमः, तत्र खलु पुरुषस्य गवयगतधर्माभावरूप वैधर्म्यं अभावप्रमाणेनैवावगम्यते इति किं प्रमाणान्तरेण इति।

तार्किकैस्तु उपमानमन्यदुन्नीतम्—कश्चित्खलु नगरगतं वनचरं प्रति गवयो

वह उनका प्रकार युक्ति युक्त नहीं, क्योंकि 'यो यद्गतसादृश्यप्रतियोगी, स तेनापि सदृशः'—इस प्रकार की सामान्य व्याप्तिमात्र के द्वारा अनुमान की प्रवृत्ति मानने पर 'यः कश्चिदग्निरस्ति—इसके समान अनियतविशेषक 'यत्किञ्चित्सादृश्यमस्ति'—इतना ही प्रतीत हो सकता है, अभीष्ट विस्पष्ट ज्ञान नहीं हो सकता, जैसा कि गोगवय-सादृश्य का प्रत्यक्ष। अतः नियत निश्चय न होने के कारण यह सामान्यतो दृष्ट अनुमान नहीं, अनुमान न हो सकने के कारण प्रमाणान्तर मानना होगा।

शङ्का—जब गोगत गवय-सादृश्य की प्रतीति हो रही है, तभी अनुपस्थित पुरुष में गवय के वैधर्म्य की भी प्रतीति हो रही है, अतः यदि सादृश्य प्रतीति को प्रमाणान्तर की अपेक्षा है, तव वैधर्म्य-प्रतीति को भी प्रमाणान्तर की अपेक्षा क्यों न होगी ?

समाधान—पुरुषगत वैधर्म्य का स्वरूप है—गवयगत धर्म का अभाव, अतः अनुपलब्धि प्रमाण के द्वारा ही वैधर्म्य का ज्ञान हो जाता है, उसके लिए प्रम।णान्तर की अपेक्षा नहीं।

नैयायिक मत—नैयायिक की उपमान के विषय में अन्य ही धारणा है कि नगर में गये वनचर से कोई पूछता है—'गवयो नाम कः ?' उसका

नाम कः इति पृष्ट्वा गोसदृशो गवय इति श्रुतातिदेशवाक्यः पुनर्वनमुपेत्य मृगविशेषं पश्यन् अयमेव स गोसदृश इति प्रत्यभिजानाति। ततश्च अयमेव गवय इति संज्ञासंज्ञिसंगतिमपि जानाति। तदिदं संगतिग्रहणमुपमितिः। तत्करणं वाक्यार्थप्रत्यभिज्ञानमुपमानमिति। न चेदं संगतिग्रहणं प्रमाणान्तरसाध्यम्; पूर्वं वाक्यश्रवणसमये हि संज्ञिनो गवयस्यादृष्टत्वात् तत्र संवन्धग्रहो न शक्यते कर्तुम्। दृश्यमाने तु गवये वाक्यमतिवृत्तमेवेति न वाक्यस्य तद्बोधने प्रागल्भ्यम्।

ननु गोसदृशे पिण्डे गवयशब्दः प्रयुज्यते इति तावद्वाक्यादवगतम्। तेन दृश्यमाने गवयेऽनुमीयताम्—गवयशब्दोऽस्य वाचकः, लक्षणादीन् विनात्र प्रयुज्यमानत्वाद्, यथा गोर्गोशब्दः इति।

उत्तर वनवासी देता है--'गोसदृशो गवयः।' उसे सुनकर श्रोता वन में जाता है, वहाँ गोसदृश पिण्ड को देखकर उसे यह प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'अयमेव स गोसदृशः।' उसके अनन्तर 'अयमेव गवयपदवाच्यः'—इस प्रकार का जो संज्ञा (गवय पद) और संज्ञी (गवय पिण्ड) के सम्बन्ध का ज्ञान होता है, वह संगति-ग्रहण उपमिति है और उसका कारणभूत वाक्यार्थ-प्रत्यभिज्ञान उपमान कहलाता है। यह संगति-ग्रहण अन्य किसी प्रमाण से नहीं हो सकता, क्योंकि पहले वाक्य-श्रवण के समय गवयरूप संज्ञी का दशन न होने के कारण उसके साथ किसी भी शब्द का सम्बन्ध गृहीत नहीं हो सकता और गवय पिण्ड का दर्शन हो जाने पर वनचरोच्चारित वाक्य नष्ट हो चुका होता है, अतः वह गवय का बोध नहीं करा सकता।

शङ्का—गोसदृश पिण्ड के लिए 'गवय' शब्द का प्रयोग होता है--इतना तो वनचर के वाक्य से अवगत हो ही जाता है, गवय का दर्शन होने पर उसी का अनुमान किया जा सकता है—'गवयशब्दोऽस्य वाचकः, (असति वृत्त्यन्तरे) लक्षणादीन् विनाऽत्र प्रयुज्यमानत्वाद्, यथा गवि गोशब्दः।'

तदप्ययुक्तम् ; तत्र प्रयुज्यमानत्वमात्रमेव हि वाक्यादवगतम् । लक्षणाद्य-भावस्तु वाचकत्वसिद्धेः पूर्वं दुर्विज्ञान एव इति विशेषणासिद्धोऽयं हेतुः । तस्मा-दुपमानसाध्यमेवेदं संबन्धज्ञानम् ।

एतत्साधर्म्यवाक्यार्थादुपमानं समीरितम् ।
एवमेव हि वैधर्म्याद्धर्ममात्राच्च संभवेत् ॥ ११५ ॥
यथा तुरङ्ग इत्येष द्विशफो न गवादिवत् ।
इति वैधर्म्यवाक्यार्थं बुध्वा देशान्तरं गतः ॥ ११६ ॥
पशुमेकशफं दृष्ट्वा तुरङ्ग इति बुध्यते ।
तथैव धर्ममात्रे च श्रुते संबन्धधीः क्वचित् ॥ ११७ ॥
दीर्घग्रीवः प्रलम्बोष्ठः कण्टकाशी क्रमेलकः ।
इति श्रुत्वा ततोऽन्यत्र विजानन्ति क्रमेलकम् ॥ ११८ ॥
एवं साधर्म्यवैधर्म्यधर्ममात्रविभेदतः ।
त्रेधातिदेशवाक्यार्थस्तस्मादुपमितिस्त्रिधा ॥ ११९ ॥ इति ।

समाधान—तत्र प्रयुज्यमानत्वमात्र ही वाक्य से अवगत हुआ था, लक्षणादि का अभाव तब तक नहीं जाना जा सकता, जब तक कि उक्त शब्द में वाचकत्व की सिद्धि नहीं हो जाती, अतः उक्त हेतु 'विशेषणा-सिद्ध' नाम का हेत्वाभास है, उससे सम्बन्ध-ज्ञान सम्भव नहीं, परिशेषतः उपमान-साध्य ही संज्ञा संज्ञि-सम्बन्ध-ग्रहण स्थिर होता है ।

साधर्म्यार्थक वाक्यार्थ से जैसे उपमान होता है, उसी प्रकार वैधर्म्या-र्थक वाक्यार्थ से भी संज्ञासंज्ञि-सम्बन्ध-ग्रहण होता है, जैसे कि 'गवादि-वद् द्विशफः तुरङ्गो न भवति'—इस वैधर्म्यार्थक वाक्य को सुनकर कोई व्यक्ति वन में जाता है, वहाँ अश्व को देखकर उसे प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'अयमेव द्विशफवैधर्म्यभूतैकशफत्ववान् , तस्मादयमश्वः' । साधर्म्यो-पमान और वैधर्म्योपमान के समान ही तीसरा एक धर्ममात्रोपमान भी है कि उत्तर भारतवासी के द्वारा कथित 'दीर्घग्रीवः प्रलम्बोष्ठः कठोरतीक्ष्ण-कण्टकाशी पशुः क्रमेलकः'—ऐसा वाक्य सुनकर कोई दाक्षिणात्य उत्तरा

तदिदं दुर्मतं हेयं यतः संबन्धधीरियम् ।
प्रत्यक्षानुगृहीतेन शाब्देनैवोपजन्यते ॥ १२० ॥

को गवय इति गवयशब्दवाच्यर्थं पृष्टवता हि पुरुषेण गोसदृशो गवय इति उत्तरवाक्यस्यापि वाच्यार्थप्रदर्शने एव तात्पर्यमित्यवधार्यते ।

तेनाप्रदर्श्य वाच्यार्थं न शब्दः पर्यवस्यते ।
पूर्वं च गवयज्ञानान्न शक्यं तत्प्रदर्शनम् ॥ १२१ ॥

ततश्च अनवगततात्पर्यं अपर्यवसितमेव वाक्यं पुनर्गवये प्रत्यक्षीक्रियमाणे स्मृतिगतं प्रत्यक्षोपदर्शितवाच्यार्थतया प्रतिलब्धतात्पर्यं तदनीमेव संज्ञासंज्ञिसंवन्धस्या-

---

पथ में आता है, यहाँ ऊँट को देखते ही उसे यह प्रत्यभिज्ञा हो जाती है कि 'असौ तादृशः पशुः, तस्मादयं क्रमेलकः' ॥११५–११६॥ श्री वरदराज ने उपमान के ये तीनों भेद (ता. र. पृ. ८७ पर) दिखाए हैं—

अत्रादिदेशवाक्यार्थः त्रिविधः परिगृह्यते ।
साधर्म्यं धर्ममात्रं च वैधर्म्यं चेति भेदतः ॥

नैयायिक मत का निरास—उक्त नैयायिक मत समीचीन नहीं, क्योंकि उदयनाचार्य ने जो संज्ञा-संज्ञि-सम्वन्ध-बोध उपमान का फल कहा है—"सम्वन्धस्य परिच्छेदः सञ्ज्ञाया सञ्ज्ञिना सह । प्रत्यक्षादेरसाध्यत्वादुपमानफलं विदुः ॥" (न्या. कु. ३।१०) । वह संगत नहीं, क्योंकि वह प्रत्यक्षानुगृहीत शब्द प्रमाण से ही उत्पन्न हो जाता है, उसके लिए प्रमाणान्तर की क्या आवश्यकता ? ॥ १२० ॥ को गवयः ? यह प्रश्न भी वाच्यार्थविषयक है और उसके (गोसदृशो गवयः) उत्तर वाक्य का भी तात्पर्य वाच्यार्थ-प्रदर्शन में ही निश्चित है। अतः जव तक गवयपद-वाच्यार्थ का दर्शन नहीं होता, तव तक उक्त (गोसदृशो गवयः) शब्द अपर्यवसित ही रहता है, क्योंकि गवयज्ञान से पहले उसका प्रदर्शन नहीं हो सकता ॥१२१॥ 'गोसदृशो गवयः'—यह वाक्य गवयदर्शन से पहले गवय का ज्ञान कराने में असमर्थ था और गवय-दर्शन के पश्चात् वही वाक्य गवय–दर्शी के स्मृति-पटल पर उभर कर प्रत्यक्षो-

वबोधकं भवति। यथा खलु नवकम्बलो वणिगिति भणितिनिशमनमनु विपणिमुपगतो वणिजि नवसु कम्बलेषु दृश्यमानेषु संख्याविशेषतात्पर्यमवधार्य वाक्यार्थं बुध्यते, तथा अत्रापि द्रष्टव्यम्। तस्मात् प्रत्यक्षानुगृहीतशाब्दसाध्यमेव संगतिग्रहणमिति न प्रमाणान्तरमन्वेषणीयम्। किंच—

उपमानपदं लोके सादृश्ये सति विश्रुतम्।
वैधर्म्यं धर्ममात्रे च तत्प्रयोगः कथं हि वः॥ १२२॥
तथातिदेशशब्दोऽपि वाक्ये साधर्म्यबोधके।
प्रसिद्धः सोऽपि चान्यत्र कथ्यमानो दुनोति माम् ॥१२३॥ इति।
तस्मादनितरशरणं गोगतसादृश्यबोधमेव वयम्।
उपमानं गृह्णीमो मानत्रयवादिनोऽपि तेन जिताः॥ १२४॥

पलब्ध गवय में अपना तात्पर्य प्रकट करता हुआ संज्ञा-संज्ञि-सम्बन्ध का वैसे ही बोधक हो जाता है, जैसे 'नवकम्बलो वणिक्'—इस प्रकार का वाक्य सुन कर श्रोता उक्त वाक्य का अर्थ तुरन्त नहीं समझ पाता, जब बाजार में जाता है और उस वणिक् (विक्रेता बनिया) के पास नौ कम्बल देखता है, तब उस वाक्य का अर्थ समझ पाता है कि उक्त वाक्य का तात्पर्य नूतन कम्बलों के बोध में नहीं, अपितु नवसंख्यक कम्बलों में तात्पर्य है, वैसे ही प्रकृत में भी प्रत्यक्ष-दृष्ट गवय में ही संगति-ग्रहण उक्त वाक्य से होता है। वह कार्य जब शब्द प्रमाण से ही चल जाता है, तब उसके लिए उपमानसंज्ञक एक नये प्रमाण की क्या आवश्यकता ?

दूसरी बात यह भी है कि लोक-व्यवहार में उपमान शब्द का सादृश्य अर्थ ही प्रसिद्ध है, आपने जो वैधर्म्य और धर्ममात्र में भी उपमान का प्रयोग किया है, वह कैसे होगा ? ॥ १२२॥ उसी प्रकार 'अतिदेश' शब्द भी साधर्म्य-बोधक वाक्य के लिए प्रयुक्त होता है, अतः वह भी वैधर्म्यादि के बोधक वाक्य का उपस्थापक क्योंकर होगा ? फलतः असन्निकृष्ट गोगत सादृश्य के बोध को ही हम उपमान कहते हैं, जो कि प्रत्यक्षादि इतर प्रमाणों से प्राप्त नही हो सकता। उपमान प्रमाण की

अत्र सादृश्यविषये गुरुणा कलहोऽस्ति नः ।
पदार्थान्तरमेवेदं सादृश्यं मन्यते गुरुः ॥ १२५ ॥
वयं गुणादिसामान्यसमाहारं वदामहे ।
पदार्थावसरे किञ्चित्तत्प्रकारो वदिष्यते ॥ १२६ ॥

---

(५) अर्थापत्तिः—

अन्यथानुपपत्त्या यदुपपादककल्पनम् ।
तदर्थापत्तिरित्येवं लक्षणं भाष्यभाषितम् ॥ १२७ ॥

स्थापना के द्वारा हमने केवल प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द—इन तीन प्रमाणों के माननेवाले सांख्यादि को भी जीत कर उन्हें इस चौथे प्रमाण (उपमान) को मानने के लिए बाध्य कर दिया ॥ १२.-१२४ ॥ 'सादृश्य' पदार्थ के विषय में हमारा आचार्य प्रभाकर से पुराना विवाद चला आ रहा है, क्योंकि प्रभाकर गुरु 'सादृश्य' पदार्थ को एक पृथक् स्वतन्त्र पदार्थ मानते हैं, किन्तु हमारा कहना है कि एक वस्तु के उस गुणादिक सामान्य-योग को सादृश्य कहते हैं, जो दूसरी वस्तु में भी रहता है। इसकी विशेष चर्चा प्रमेय-परिच्छेद में की जायगी ॥ १२५–१२६ ॥

श्री चिदानन्द पण्डित ने भी गुरु-मत का निराकरण करते हुए कहा है—"अत्र केचिद् द्रव्यादिवैधर्म्यात् सादृश्यं तत्त्वान्तरमाहुः, तदयुक्तम्, गुणावयवसामान्यानामेवैकत्र प्रतीतानामन्यत्र सादृश्यबुद्धिविषयत्वात्" (नीति. पृ. १५०) ।

---

(५) अर्थापत्ति—

पीनत्वादि उपपाद्य पदार्थ की अन्यथानुपपत्ति के आधार पर जो उसके उपपादक (रात्रि-भोजन) की कल्पना की जाती है, उसे ही भाष्यादि में अर्थापत्ति प्रमाण कहा गया है—"दृष्टः श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा

तत्र च प्रमाणद्वयविरोधोऽनुपपत्तिरित्युच्यते । तेनैवं लक्षणं शिक्षणीयम्—

साधारणप्रमाणानामसाधारणमानतः ।
विरोधादविरुद्धांशे धीरर्थापत्तिरिष्यते ॥ १२८ ॥
यथा जीवनमानस्य गृहाभावप्रमाणतः ।
विरोधात्कारणीभूताद्बहिर्भावस्य कल्पनम् ॥ १२९ ॥

नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना" (शा० भा० पृ० ३७) ॥२७॥ यहाँ दृष्ट और श्रुत का तात्पर्य प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों से अवगत पदार्थ में है, जैसा कि वार्तिककार (श्लो० वा० पृ० ३५० पर) कहते हैं—

प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत् ।
अदृष्टं कल्पयेदन्यं साऽर्थापत्तिरुदाहृता ॥

[दो विरोधी प्रमाणों की विषय-व्यवस्था करने के लिए अर्थापत्ति स्वीकरणीय है—इस सिद्धान्त का निराकरण करते हुए जो श्री उदयनाचार्य (न्या० कु० ३।१६ में) कहते हैं—

अनियम्यस्य नायुक्तिर्नानियन्तोपपादकः ।
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः ॥

अर्थात् 'अनियम्य (व्याप्ति-रहित पदार्थ) की अयुक्ति (अनुपपत्ति) नहीं होती । दो प्रमाणों का विरोध कभी नहीं हो सकता, यदि माना जाता है, तव प्रसिद्ध (सर्वमत-सिद्ध) अनुमान प्रमाण में भी अन्यथानुपपत्ति माननी होगी ।' इसी प्रकार श्री वरदराज ने भी जो कहा है—"प्रमाणद्वयविरोध एवानुपपत्तिरिति चेत्, मैवं व्याहतं भाषिष्ठाः प्रमाणयोः सतो विरोध एवानुपपन्नः" (ता० र० पृ० ९८) । उन विरोधोद्भावनों को ध्यान में रख कर कहा जाता है कि] प्रमाण-द्वय-विरोध को विरोधियों ने असङ्गत ठहराया है, अतः अर्थापत्ति का लक्षण उन्हें ऐसा सिखाना चाहिए कि साधारण प्रमाणों का असाधारण प्रमाण से विरोध उपस्थित होने पर अविरुद्धांश में तात्पर्यावाधारण अर्थापत्ति प्रमाण है ॥ १२८ ॥ जैसे—जीवन-वोधक (ज्योतिषी के वाक्यरूप शब्द के आधार पर प्रवृत्त

गणितागममूलेनानुमानेन देवदत्तो गृहे बहिर्वा क्वचिज्जीवति इति साधारण्येनावगम्यते। तस्य गृहे नास्तीत्यनेन विरोधे सति अविरोधाय बहिरस्ति इति कल्प्यते। तदिदं प्रमाणद्वयविरोधकरणकमर्थापत्तिज्ञानम् इति।

अमुष्यास्त्वनुमानत्वमिच्छन्तस्तार्किका जगुः।
न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे चाप्यसौ समः ॥१३०॥ इति।

प्रमाणयोस्तावद्विरोधो न संभवति, इदं रजतं नेदं रजतम् —इतिवदेकस्याप्रमाणत्वप्रसंगात्। ननु तथापि उक्तप्रमाणयोर्विरोधो दृश्यते इति चेत्, तदप्याशामात्रम्। अत्र हि गृहे बहिर्वेति सन्देहास्पदस्यैव देशविशेषस्य गृहाभावप्रमाणेन

अनुमान) प्रमाण का गृहाभाव-बोधक अनुपलब्धि प्रमाण से विरोध होने पर करणीभूत विरोध के द्वारा अर्थापत्तिरूपबहिर्भाव की कल्पना की जाती है ॥ १२६ ॥ अर्थात् गणितरूप आगम प्रमाण के आधार पर प्रवृत्त अनुमान प्रमाण के द्वारा जो सामान्यतः अवगत होता है कि 'देवदत्तो गृहे वा बहिर्वा क्वचिज्जीवति'। उसका 'गृहे नास्ति'—इस अनुपलब्धि से विरोध होने पर अविरोध-स्थापन करने के लिए ऐसी कल्पना की जाती है—'देवदत्तो बहिरस्ति।' इस प्रकार प्रमाणद्वयविरोधरूप करण से अर्थापत्ति ज्ञान उत्पन्न होता है।

शङ्का—कथित अर्थापत्ति का तार्किकगण जो अनुमान में अन्तर्भाव कर देते हैं। उनका कहना है कि दो विरोधी प्रमाणों का सामञ्जस्य करने के लिए अर्थापत्ति का मानना सम्भव नहीं, क्योंकि "न मानयोर्विरोधोऽस्ति प्रसिद्धे वाप्यसौ समः" (न्या० कु० ३।१६)। अर्थात् एक ही विषय में प्रवृत्ति दो प्रमाणों का विरोध सम्भव नहीं, क्योंकि जैसे रजतविषयक 'इदं रजतम्' और 'नेदं रजतम्'—इन दोनों विरोधी ज्ञानों में एक अप्रमाण होता है, वैसे ही समानविषयक दो विरोधी ज्ञानों में से एक का अप्रमाण होना अनिवार्य है, दोनों प्रमाण नहीं हो सकते। कहीं पर जो दो प्रमाणों का विरोध देखा जाता है, वह सम्भावनामात्र है, क्योंकि गृहाभावविषयक प्रमाण के द्वारा सन्दिग्ध गृह-सत्त्व का ही बाध होता

बाधो जातः। जीवनप्रमाणेन हि जीवनमात्रं देशसामान्यसंवन्धो वा विषयीकृतः, न तु तदुभयमपि गृहाभावप्रमाणेन स्पृष्टमाघ्रातं वा, तस्माज्जीवनगृहाभावप्रमाणयोर्विरोधस्यैवाभावात् कथं तेन करणभूतेनार्थापत्तिरुच्यते? अपि च—

ईदृशस्य विरोधस्य प्रसिद्धानुमितिष्वपि।
संभवादनुमाजालमर्थापत्तिर्ग्रसिष्यते॥ १३१॥

यत्र धूमस्तत्राग्निः इति व्याप्तिग्राहकप्रमाणेन हि पर्वतेऽप्यग्निः प्राप्तः। धूमो वा दृश्यमानः पर्वते स्वकारणमग्निमाक्षिपति—इति व्याप्तिग्राहकप्रमाणेन धूमदर्शनेन वा पर्वते क्वचिदग्निरस्तीति अवगतम्। तस्य च ऊर्ध्वदेशे अनुपलम्भेन विरोधादधोदेशे वह्निः कल्प्यते इति अर्थापत्तितापत्तिः। तस्मादियमनुमानपक्षे प्रक्षेप्तव्या। इत्थं चानुमीयते—देवदत्तो वहिरस्ति, जीवित्वे सति गृहेऽसत्वाद्, यो जीवन् यत्र नास्ति स ततोऽन्यत्रास्ति, यथा अहम् इति। अतो वञ्चितमेतत्पञ्चमप्रमाणमिति।

है, वहिःसत्त्व का नहीं। और जीवितत्वविषयक प्रमाण का देश-सामान्य-सम्वन्ध ही विषय होता है, ग्रह-सत्त्व नहीं, अतः उक्त दोनों प्रमाणों का कोई विरोध ही नहीं, फलतः विरोधकरणक अर्थापत्ति का प्रतिपादन नहीं हो सकता।

यदि कथमपि उक्त दोनों प्रमाणों का विरोध माना जाता है, तव 'पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्'—इत्यादि प्रसिद्ध अनुमानों को भी अर्थापत्ति ही मानना पड़ेगा॥ १३१॥ क्योंकि 'यत्र धूमस्तत्राग्निः'—इस प्रकार की व्याप्ति के ग्राहक प्रमाण के द्वारा पर्वत में भी अग्नि सिद्ध होती है अथवा दृश्यमान धूम अपने कारणीभूत अग्नि का आक्षेपक हो सकता है। इन दोनों मार्गों से अवगत अग्नि पर्वत के शिखर पर अनुपलब्धि-वाधित है, अतः अधोदेश में अग्नि की कल्पना तो अर्थापत्ति ही है। अतः अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव मान कर देवदत्त की वहिर्देश-सत्ता का अनुमान कर लेना चाहिए—'देवदत्तो वहिरस्ति, जीवित्वे सति गृहेऽसत्त्वात्। अतः अर्थापत्तिरूप पञ्चम प्रमाण मानना व्यर्थ है।

तदिदं शिक्ष्यतेऽस्माभिर्विरोधोऽस्त्येव मानयोः ।
न प्रसिद्धानुमाभङ्गो बहिर्भावे च नानुमा ॥ १३२ ॥

तत्र यत्तावदुक्तं प्रमाणयोर्विरोधे सति एकस्याप्रमाणत्वं स्यादिति, तद् 'इदं रजतम्', 'नेदं रजतम्'—इतिवदुभयोरप्यसाधारणप्रमाणयर्विरोधे एव ।

साधारणप्रमाणस्य त्वसाधारणमानतः ।
बाधेऽपि सावकाशत्वादप्रामाण्यं न जायते ॥ १३३ ॥

तस्मात्प्रमाणद्वयविरोधः संभवत्येव ।

यत्पुनरुक्तं इहापि संदिग्धस्य देशविशेषस्यैव बाधः, न जीवनप्रमाणस्येति ।

समाधान—तार्किकों की बुद्धि इस सूक्ष्म तत्त्व का ग्रहण नहीं कर पा रही है, उन्हें यह समझाना है कि उक्त स्थल पर दो प्रमाणों का विरोध है, इससे प्रसिद्ध अनुमान भंग नहीं होता और देवदत्त के बहिः-सत्त्व का अनुमान भी नहीं किया जा सकता ॥ १३२ ॥

यह जो कहा गया कि दो विरुद्ध ज्ञानों में से एक नियमतः अप्रमाण होता है, वह नियम 'इदं रजतम्' और 'नेदं रजतम्'—के समान असाधारण प्रमाणों का विरोध होने पर ही लागू होता है। किन्तु असाधारण प्रमाण से बाधित होने पर भी साधारण प्रमाण में अप्रामाण्य प्रसक्त नहीं होता ॥ १३३ ॥ [चिदानन्द पण्डित भी ऐसा ही कहते हैं—'ननु प्रमाणं चेन्न विरोधः, विरुद्धश्चेन्न प्रमाणम् । तन्न, असाधारणविषयस्यासाधारणविषयेण विरोधादप्रामाण्यम् 'इदं रजतम्', 'नेदं रजतम्'—इतिवत् । साधारणविषयस्य तु प्रामाण्यं विरोधेऽपि विषयान्तरे व्यवस्थितम् । यथात्रैवोदाहरणे 'देवदत्तो गृहे वा बहिर्वा संस्थितः', 'गृहे नावस्थितः—इति प्रमाणद्वयम् । न च नानयोर्विरोधः, गृहे नावस्थितः, गृहे बहिर्वावस्थित इति विरुद्धविषयत्वात् । न चाप्रामाण्यम्, इदं रजतं नेदं रजतमितिवत् सर्वथा विषयापहाराभावात् । (नीति० पृ० १५८)]।

यह जो कहा गया कि उक्त अर्थापत्ति-स्थल पर सन्दिग्ध देश-विशेष का ही बाध होता है, जीवनविषयक प्रमाण का नहीं, वह उचित नहीं,

अत्र ब्रूमः—

ज्ञायमानेऽनुमानेन देवदत्तस्य जीवने।
ज्ञातव्यो देशसंबन्धोऽप्यस्यावस्थितिहेतवे ॥ १३४ ॥
तत्र देशत्वसामान्यमात्रं संवध्यते यदि।
तर्हि देशत्वसंबन्धाद् देशः स्यात्पुरुषोऽप्यसौ ॥ १३५ ॥
ततश्चानियतव्यक्तिदेशसामान्यसंश्रितम् ।
ज्ञायते जीवनं तस्य क्वचिज्जीवत्यसाविति ॥ १३६ ॥
तस्माद् गृहे बहिर्वेति संदिग्धमपि कंचन।
विशेषमवलम्ब्यैव प्रमितं खलु जीवनम् ॥ १३७ ॥
तत्रैकस्य विशेषस्य बाधेऽन्यग्रहणात् पुरा।
बाध्येतैव निरालंबा जीवनप्रमितिः पुरा ॥ १३८ ॥
एवं बहिष्ट्वसिद्धेः प्राग्गृहाभावग्रहागताम् ।
प्रतिरोधदशां सूक्ष्मामजानन्तो वदन्ति ते ॥ १३९ ॥ इति

क्योंकि अनुमान के द्वारा देवदत्त के जीवित होने का ज्ञान हो जाने पर उसकी अवस्थिति का सामञ्जस्य करने के लिए देश-सामान्य का सम्बन्ध भी ज्ञातव्य होगा ॥ १३४ ॥ देश-सामान्य का अर्थ यदि देशगत सामान्य (जाति) किया जाता है, तव देशगत देशत्वरूप सामान्य का देवदत्त के साथ सम्वन्ध हो जाने पर देवदत्त भी देश हो जायगा ॥ १३५॥ अतः देशसामान्य का अर्थ होगा अनियत देश, फलतः 'असौ क्वचिज्जीवति'— इस प्रकार अनियत देश का सम्वन्ध जीवित पुरुष के साथ अवगत होगा। देश सामान्य से गृहदेश और वहिर्देश—ये दो विशेष देश ही गृहीत होते हैं, अतः देवदत्तः गृहे वा बहिर्वा जीवति—इस प्रकार सन्दिग्ध देश उक्त दो देशों में से किसी एक विशेष देश) का सम्वन्ध जीवन के साथ पर्यवसित होगा, उनमें गृहरूप एक विशेष देश का अनुपलब्धि से बाध हो जाने पर अन्य (वहिर्देश) का ग्रहण होने से पूर्व निराधार जीवनविषयक प्रमाण का अवश्य ही बाध होता है। इस प्रकार वहिर्देश-

यदप्युक्तं प्रसिद्धानुमानानामप्यर्थापत्तित्वं स्यादिति, तदपि न, तत्र हि पर्वतस्य क्वचिदग्निप्रापकं साधारणप्रमाणं किं नाम इति वक्तव्यम् ? ननूक्तं व्याप्तिग्राहकप्रमाणेन पर्वतेऽप्यग्निः प्राप्त इति । हन्त भोः प्राभाकरपृष्ठचुम्बिना केनेदं प्रलपितम् ?

अदृष्टपर्वतः पूर्वं कथं तस्याग्निशालिताम् ।
अवगच्छेदिति ध्वस्तमनुमानेऽपि तन्मतम् ॥ १४० ॥

यत्पुनरुक्तं धूमः स्वकारणमग्निमाक्षिपति—इति, तस्य कोऽर्थः ? हन्त धूमोऽग्निमनुमापयति—इति वक्तव्यम् । ततश्च पर्वतेऽग्निप्रापकमनुमानमेव तत्र साधारणप्रमाणतयोक्तमिति नास्त्यनुमानकवलीकारः ।

सम्बन्ध से पूर्व गृहाभाव-ज्ञानगत सूक्ष्म प्रतिरोध दशा को न जान पाने के कारण तार्किक लोग कह देते हैं कि उक्त स्थल पर सन्दिग्ध देश का ही बाध होता है, जीवन-प्रमाण का नहीं ॥ १३६–१३९ ॥

यह जो कहा है कि प्रसिद्धानुमान भी अर्थापत्ति ही हो जायगा, वह भी संगत नहीं, क्योंकि वहाँ पर्वत में अग्नि-प्रापक साधारण प्रमाण कौन है ? व्याप्तिग्राहक प्रमाण को ही जो पर्वत में अग्नि-प्रापक कहा गया, उसके मूल में प्रभाकर-मत के संस्कार विद्यमान हैं, क्योंकि प्रभाकर का यह मत विगत पृ. ५८ पर दिखाया जा चुका है, कि व्याप्ति-ग्रहण-काल में ही पर्वत के साथ भी अग्नि का सम्बन्ध अवगत हो जाता है, किन्तु जो व्यक्ति अभी महानस में ही व्याप्ति का ग्रहण कर रहा है, पर्वत तक पहुँचा ही नहीं, वह पर्वत में अग्निमत्ता का ज्ञान कैसे कर लेगा ? अनुमान-निरूपण के अवसर पर उक्त प्रभाकर-मत का निराकरण किया जा चुका है ॥ १४० ॥

यह जो कहा गया कि पर्वत में दृश्यमान धूम अपने कारणीभूत अग्नि का आक्षेप कर सकता है, उसकी क्या आवश्यकता ? 'धूमोऽग्निमनुमापयति'—ऐसा ही कहना चाहिए, अतः पर्वत में अग्नि का प्रापक अनुमान ही साधारण प्रमाण है, अनुमान का अर्थापत्ति में समावेश नहीं हो

तस्योर्ध्वानुपलम्भेन वाधे चाधःप्रकल्पनम् ।
अर्थापत्तितयैवेष्टमिति कष्टं न किंचन ॥ १४१ ॥ इति ।

यत्पुनरनुमानं बहिर्भावसिद्धौ प्रयुक्तम्, तत्स्वरूपासिद्धमायुष्मताम्, जीवनमात्रस्य निर्विशेषस्य निरूपयितुमशक्यत्वात् । बहिर्भावग्रहणात् पूर्वं जीवनगृहाभावौ समुच्चित्य प्रत्येतुं न शक्यते । अतो जीवनविशिष्टगृहाभावरूपस्य लिङ्गस्याप्रतिपत्तेः स्वरूपाज्ञानासिद्धोऽयं हेतुः । तदुक्तं वृहट्टीकायाम्—

तस्माद्यो विद्यमानस्य गृहाभावोऽवगम्यते ।
स हेतुः स बहिर्भावं नागृहीत्वा च गृह्यते ॥ १४२ ॥ इति ।

अतः पृथगेवार्थापत्तिः ।

सकता । पर्वत के ऊर्ध्व (शिखर) भाग में अग्नि का वाध होने पर उसके निचले भाग में अग्नि की कल्पना को अर्थापत्ति ही माना जाता है ॥ १४१ ॥

देवदत्त की वहिर्देश में सत्ता सिद्ध करने के लिए जो अनुमान-प्रयोग किया गया—'देवत्तो वहिरस्ति, जीवित्वे सति गृहेऽभावात्' । वह स्वरूपासिद्ध है, क्योंकि देशविशेष का विना उल्लेख किए निर्विशेष जीवनमात्र का निरूपण ही नहीं किया जा सकता । बहिर्भाव का ग्रहण करने से पहले जीवन और गृहाभाव के समुच्चय (जीवित्वे सति गृहाभाव) की प्रतीति नहीं हो सकती, अतः जीवन-विशिष्ट गृहाभावरूप लिङ्ग का ज्ञान न हो सकने के कारण प्रकृत हेतु स्वरूपाज्ञानासिद्ध नाम का हेत्वाभास है, जैसा कि वृहट्टीका में कहा गया है—

तस्माद् यो विद्यमानस्य गृहाभावोऽवगम्यते ।
स हेतुः स वहिर्भावं नागृहीत्वा च गृह्यते ॥

['देवदत्तो वहिरस्ति, गृहाभावात्'—यहाँ पर गृहाभावरूप हेतु का ज्ञान तभी होगा, जबकि वहिर्भाव का ज्ञान हो जाय, अन्यथा यदि देवदत्त कहीं नहीं, मर गया, तव अभावमात्र कहा जायगा गृहाभाव नहीं] । कथित युक्तियों से यह सिद्ध हो गया कि अर्थापत्ति एक पृथक् प्रमाण है ।

तार्किकध्वंसनोपायमेवंरूपमजानता ।
गुरुणा तु प्रलपितो जीवनस्यात्र संशयः ॥ १४३ ॥
जीवनं किल विज्ञातं वेश्मवर्तितया पुरा ।
तस्माज्जीवनसन्देहो भवेद्वेश्मन्यदर्शनात् ॥ १४४ ॥
सन्दिग्धं जीवनं त्वेतद्बहिर्भावस्य बोधकम् ।
अर्थापत्तेः प्रभावोऽयं यत्सन्दिग्धोऽपि बोधयेत् ॥ १४५ ॥
एवं जीवनसन्देहे स्यात्सन्दिग्धविशेषणः ।
हेतुरित्यनुमानत्वनिरासः सुकरोऽत्र नः ॥ १४६ ॥ इति ।

तार्किक मत-निराकरण में प्राभाकर तर्क—तार्किक मत के निरास में प्रदर्शित रीति का ज्ञान न होने के कारण प्रभाकर ने तार्किकोक्त अनुमान (देवदत्तो बहिर्देशसंयोगी, गृहाभावे सति विद्यमानत्वात्) का निराकरण करने के लिए कहा है कि जीवन (विद्यमानत्वरूप) हेतु सन्दिग्ध है, क्योंकि देवदत्त अधिकतर गृह में ही रहता था किन्तु अब वहाँ नहीं दिखाई देता, अतः उसका जीवन सन्दिग्ध है ॥ १४२–४४ ॥ सन्दिग्ध जीवन बहिर्भाव का अनुमापक नहीं हो सकता किन्तु उसका आक्षेपक हो सकता है, क्योंकि अर्थापत्ति का प्रभाव ही ऐसा है कि सन्दिग्ध पदार्थ भी उपपादक का कल्पक हो जाता है। जीवन का सन्देह होने पर उक्त अनुमान का जीवित्वे सति गृहाभावरूप हेतु सन्दिग्ध-विशेषणक हो जाता है, अतः अर्थापत्ति को अनुमान से गतार्थ नहीं किया जा सकता॥ १४५–१४६ ॥ [श्री शालिकनाथ मिश्र कहते हैं—"नन्वेतद्गृहाभावदर्शनाज्जीवतो बहिर्भावकल्पनाऽनुमानमेव—देवदत्तो बहिर्देशसंयोगी, गृहाभावे सति विद्यमानत्वात् । अत्रोच्यते—न तावद् विद्यमानत्वं लिङ्गं भवति, स्वयं सन्देहास्पदीभूतत्वात् । देवदत्तस्य च विद्यमानता गृहसम्बद्धैवावगतेति तदभावप्रतीतौ बहिर्देशसम्बन्धे चानवगते सन्दिह्यते। यथा अनुमानस्य निश्चितं लिङ्गं जनकम्, तथाऽर्थापत्तेः सन्देहग्रस्तमिति नास्ति विरोधः (प्र० पं० २७३–२७६)] ।

तदिदमुपहसनीयम्, तथाहि—

जीवनं यदि सन्दिग्धं गृहाभावनिरीक्षणात् ।
तर्हि तन्निर्णयः कार्यं आप्तवाक्यादिना पुनः ।। १४७ ।।
तत्प्रियाकण्ठसूत्रादिचिह्नसंदर्शनेन वा ।
न च तत्प्रार्थ्यते किंचित्तस्मान्नास्त्येव संशयः ।। १४८ ।।
किंच नास्ति बहिर्भावग्रहः सन्दिग्धजीवनात् ।
मृतत्वस्यापि शङ्कायां बहिरस्तीति धीः कथम् ।। १४९ ।।
यस्माज्जीवति वा नो वा तस्मात्तिष्ठत्यसौ बहिः ।
इति कल्पयितुं शक्तः कोऽपरो गुरुणा विना ।। १५० ।।
अर्थापत्तिप्रभावेण सर्वं संभवतीति चेत् ।
हन्तैवं सर्ववस्तूनामदृष्ट्या नाशसंशये ।। १५१ ।।

प्राभाकर-तर्क का निरास—अर्थापत्ति की अनुमानता के निराकरण में प्रभाकर-प्रस्तुत तर्क अत्यन्त उपहासास्पद है, क्योंकि गृह में अभाव देख कर देवदत्त के जीवन में यदि सन्देह उपस्थित हो गया है, तब किसी विश्वास-पात्र पड़ोसी से पूछ-जाँच कर निर्णय कर लीजिए अथवा देवदत्त की धर्मपत्नी के कण्ठ-सूत्र और हाथ में चूड़ी आदि जीवन-चिह्नों को देख लीजिए। यदि देवदत्त के मरणादि का कोई सूचक नहीं, तब उसके जीवन में सन्देह क्यों होगा ? दूसरी बात यह भी है कि सन्दिग्ध जीवन से बहिर्भाव की कल्पना (अर्थापत्ति) भी नहीं हो सकती, क्योंकि देवदत्त की मरणाशङ्का में 'देवदत्तो बहिरस्ति'—ऐसा ज्ञान कैसे होगा? 'यस्माज्जीवति वा? नो वा? तस्माद् असौ बहिरस्ति'—ऐसी कल्पना प्रभाकर गुरु को छोड़ कर और कौन कर सकता है ? [श्री चिदानन्द पण्डित भी ऐसा ही कहते हैं—यदि गृहाभावदर्शनेन जीवनं सन्दिग्धम्, तर्हि जीवनासाधारणधर्मान्तरदर्शनादेव बहिर्वृत्तितया जीवनं निश्चेतव्यम्, न च तदस्ति, अतः कथं सन्दिग्धाज्जीवनाद् बहिर्वृत्तित्वेन जीवननिश्चयः ? कथञ्च 'यस्माद् देवदत्तो जीवति वा ? न वा ? तस्माद् बहिरस्ति'—इति कल्पनीयम् ?

अन्यत्रास्तीति निश्चित्य कृतार्थीक्रियतां मनः ।
तस्मात्सन्दिग्धता तावन्नैवार्थापत्तिकारणम् ।।१५२।। इति ।

अतोऽस्मदुक्तविधैवार्थापत्तिः ।

सा पुनर्द्वयी दृष्टार्थापत्तिः श्रुतार्थापत्तिश्च इति । तत्र दृष्टार्थापत्तिरुक्ता ।

यत्र त्वपरिपूर्णस्य वाक्यस्यान्वयसिद्धये ।
शब्दोऽध्याह्रियते तत्र श्रुतार्थापत्तिरिष्यते ।। १५३ ।।

यथा द्वारं द्वारं इत्यस्मिन् वाक्ये अन्वयसिध्यर्थं शब्दगम्येन आवरणाद्यार्थान्तरेण भवितव्यमिति साधारणप्रमाणम् । तस्य श्रुतशब्दानुपलम्भेन बाधे सति अश्रुतशब्दगम्यत्वेन आवरणाद्यर्थः कल्पनीयः । तत्र च शब्देन सहैव आवरणाद्यर्थकल्प-

---

(नीति० पृ० १५६) । यदि कहा जाय कि अर्थापत्ति के प्रभाव से सन्दिग्ध जीवन भी बहिरस्तित्व का आक्षेपक हो जायगा, तब तो सभी पदार्थों का अदर्शन होने पर उनके नाश की जब शङ्का हो, तब उनके अन्यत्रास्तित्व का निश्चय कर आप अपना हृदय शीतल कर सकते हैं। फलतः यह सिद्ध हो गया कि सन्दिग्ध पदार्थ अर्थापत्ति का कारण नहीं हो सकता।। १५१–१५२ ।। अतः अर्थापत्ति की हमारे द्वारा प्रदर्शि विधा ही निरवद्य है ।

वह अर्थापत्ति दो प्रकार की होती है—(१) दृष्टार्थापत्ति और (२) श्रुतार्थापत्ति । उनमें से दृष्टार्थापत्ति ऊपर दिखाई जा चुकी है।

जहाँ अधूरे वाक्य की अन्वयोपपत्ति के लिए अपेक्षित शब्द का अध्याहार किया जाता है, उसे श्रुतार्थापत्ति कहते हैं ।। १५३ ।। जैसे—'द्वारं द्वारम्'—इस वाक्य में अन्वय-सिद्धि के लिए किसी शब्द से गम्य आवरणादिरूप दूसरा अर्थ उपस्थित होना चाहिए—यह एक साधारण प्रमाण है । वैसे श्रुत शब्द का अनुपलम्भरूप बाधक के द्वारा बाध हो जाने पर अश्रुत शब्द से गम्य आवरणादि अर्थ की कल्पना करनी होगी । उसमें भी केवल अर्थ की नहीं, वाचक शब्द के साथ ही उसकी कल्पना में तत्पर पुरुष 'शब्द से ही अर्थ का बोध होता है'—ऐसा समझ कर लाघवात्

नोद्युक्तः शब्दादेवार्थावगतेः लाघवतः शब्दमेव कल्पयति । सेयं शब्दकल्पनारूपा श्रुतार्थापत्तिः ।

गुरुस्तु आवरणाद्यर्थस्यैव कल्प्यतया शब्दकल्पनाभावात् श्रुतार्थापत्तिर्नास्ति इत्याह । स तु शब्दप्रतिपन्नस्यैव अन्वयसाधनात् पूर्वमेव मूकीकृतः ।

किंच यदि वाक्यपूरणार्थमर्थ एव कल्प्यते, तर्हि सूर्याय जुष्टं निर्वपामि इत्यादौ सूर्यरूपोऽर्थ एव ऊहितव्यः, न तु सूर्याय इति पदकल्पनं स्यात् ।

'आव्रियताम्'—शब्दमात्र की कल्पना करता है, यह शब्द-कल्पना ही श्रुतार्थापत्ति है [श्री चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है—"द्वारं द्वारमित्येकवाक्यार्थप्रतिपत्त्यर्थमुच्चरितेन द्वारपदेन प्रतिपन्नस्य द्वारपदार्थस्य सान्वयप्रतिपादनाय योग्येनाकांक्षितेनावरणाद्यर्थान्तरेण श्रुतशब्दविषयेणाश्रुतशब्दविषयेण वा भवितव्यमिति साधारणप्रमाणस्य श्रुतशब्दविषयत्वेन तादृशार्थान्तराभावग्राहिणानुपलम्भेन सह विरोधादाकाङ्क्षितस्य योग्यस्यावरणाद्यर्थान्तरस्याश्रुतशब्दविषयत्वेन कल्पनं श्रुतार्थापत्तिः (नीति० पृ० १६५–६६) ।

प्रभाकर गुरु का जो कहना है कि उक्त स्थल पर आवरणादि अर्थ की ही कल्पना की जाती है, शब्द की नहीं, अतः श्रुतार्थापत्ति मानने की कोई आवश्यकता नहीं। वह उनका कहना उचित नहीं, क्योंकि शब्दोपस्थापित अर्थ का शाब्द अर्थ के साथ ही अन्वय होता है—यह ऊपर कहा जा चुका है [चिदानन्द पण्डित ने भी यही समाधान किया है—"आवरणादिशब्दगम्येनावरणाद्यर्थेन विनाऽनुपपत्तेः, शाब्दस्य शाब्देनैवान्वयात्" (नीति. पृ. १६६)] ।

दूसरी बात यह भी है कि यदि अधूरे वाक्य की पूर्ति के लिए केवल अर्थ की ही कल्पना की जाती है, तब "सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः" (तै. सं. ।३।२) इस वाक्य से विहित सौर्य इष्टि में 'प्रकृतिवद्विकृतिः कर्त्तव्या'—इस आतिदेश वाक्य से प्राप्त "अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि" (तै. सं. २।२।३६) इस मन्त्र में प्रकृत सूर्य देवता का

ननु प्रकृतौ पदार्पित एवायमंशो दृष्ट इति विकृतावपि पदं कल्प्यम् ।

मैवम्, न हि दृष्टत्वमात्रेण विकृतौ धर्मा आकृष्यन्ते, किन्तु प्रयोजनायैव । न तु तस्यांशस्य पदबोधितत्वेन युष्माकं किंचित् प्रयोजनमस्ति, अन्वयस्य अन्यथापि सिद्धत्वात् । दृष्टत्वमात्रेण ग्रहणे च अवहतगतमेव संस्कारान्तरं दृष्टम् इति अवघातोऽपि कृष्णलेषु कर्तव्यः स्यात् । तस्मात् श्रुतार्थापत्त्यैव ऊहसिद्धिः । इति आस्तामेतदिति ।

अन्वय करने के लिये 'अग्नये' पद के स्थान पर 'सूर्याय' पद का ऊह जो (जै० सू० ६।३।१) में सिद्धान्तित है, वह असंगत हो जायगा, क्योंकि आपकी रीति से सूर्यरूप अर्थ का अध्याहार कर लेने मात्र से अन्वयार्थ सम्पन्न हो जाता है, शब्द-कल्पना की आवश्यकता क्या ?

शङ्का—दर्शपूर्णमासरूप प्रकृति कर्म में अपेक्षित अग्न्यादि देवताओं की वाचक पदों के द्वारा ही उपस्थिति कराई जाती है, उसी के अनुरूप सौर्य इष्टिरूप विकृति कार्य में भी अपेक्षित सूर्य देवता की उपस्थिति कराने के लिये 'सूर्य' पद का अध्याहार आवश्यक है ।

समाधान—प्रकृति कर्म में जो-जो देखा गया है, उस समस्त कार्य-कलाप का विकृति में अतिदेश नहीं होता, अपितु विकृति कर्म अपने प्रयोजन के लिए उपयोगी अङ्गों का ही लाभ करता है, देवता का पद-बोधितत्व निष्प्रयोजन होने के कारण सौर्य इष्टि में प्राप्त नहीं होता । यदि प्रकृति के सभी पदार्थों का यथावत् अनुष्ठान विकृति में आवश्यक हो, तब दर्शपूर्णमासीय व्रीहि द्रव्य में "व्रीहीनवहन्ति" इस वाक्य से प्राप्त अवहनन भी विकृति के कृष्णल (सुवर्ण-कणों) में प्राप्त होगा, किन्तु वहाँ तुष-निवृत्तिरूप प्रयोजन न होने के कारण कृष्णलों में अव-घात प्राप्त नहीं किया जाता है, वैसे ही सौर्य इष्टि में सूर्य देवता की उपस्थिति के लिये पदोपस्थापितत्व निष्प्रयोजन होने से प्रसक्त नहीं होता : फलतः श्रुतार्थापत्ति के द्वारा ही पदों का अध्याहार हो सकता है।

(६) अनुपलब्धिः—

अथोपलम्भयोग्यत्वे सत्यप्यनुपलम्भनम् ।
अभावाख्यं प्रमाणं स्यादभावस्यावबोधकम् ॥ १५४ ॥

अत्र ह्यनुपलम्भः करणम् । तस्य च ज्ञानाभावरूपत्वादभावः प्रमाणमित्युच्यते । तत्र च—

विषयं तदधीनांश्च सन्निकर्षादिकान् विना ।
उपलम्भस्य सामग्रीसम्पत्तिः खलु योग्यता ॥ १५५ ॥
सा च ज्ञाततयाभावज्ञानस्य सहकारिणी ।
अज्ञातोऽनुपलम्भस्तु सत्तामात्रेण बोधकः ॥ १५६ ॥

ततश्च विषयभूत घटं तदधीनांश्चेन्द्रियसन्निकर्षादीन् विना यच्चक्षुरुन्मीलनालोकसम्पातमनःप्रणिधानादिकं घटोपलम्भकारणं तत्सर्वमिदानीमेव सञ्जातमित्यवगमे सति तत्सहकृतः सन् घटानुपलम्भो घटाभावं बोधयति इत्येवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ।

---

(६) अनुपलब्धि—

अभावरूप अर्थ के बोधक अनुपलब्धि प्रमाण का लक्षण है—'उपलम्भयोग्यत्वे सत्यनुपलम्भनम् ।' यह ज्ञानाभावरूप अनुपलम्भ अभाव-प्रमा का करण होने के कारण अभाव प्रमाण कहा जाता है ॥ १५४ ॥ यहाँ उपलम्भ-योग्यता का अर्थ है—विषय और विषय-सन्निकर्षादि को छोड़ कर विषयोपलम्भ की सामग्री-सम्पत्ति ॥ १५५ ॥ वह सामग्री-सम्पत्ति ज्ञात होकर अभाव-ज्ञान की सहायिका मानी जाती है और अज्ञात अनुपलम्भ सत्तामात्र से बोधक होता है ॥ १५६ ॥ अर्थात् 'विषयभूत घट और घटाधीन इन्द्रिय-सन्निकर्षादि को छोड़ कर जो चक्षु का उन्मीलन, आलोक-संयोग और मनःप्रणिधानादि घटोपलम्भ की सामग्री है, वह सब विद्यमान है'—ऐसा ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञान से युक्त घटानुपलम्भ घटाभाव का बोधक होता है—ऐसी ही व्यवस्था सर्वत्र समझ लेनी चाहिए ।

योग्यत्वावगमार्थं हि सूक्ष्मार्थाभाववेदने ।
सूक्ष्मबोधकनेत्रांशुसंपातार्थं प्रयत्यते ॥ १५७ ॥
योग्यत्वस्य च सन्देहे विपर्यासेऽथवा सति ।
अभावेऽपि हि सन्देहो भ्रमो वास्त्येव तद्यथा ॥ १५८ ॥
तमसि भ्रष्टमन्विष्यन् कराभ्यामङ्गुलीयकम् ।
सर्वोर्वीस्पर्शसन्देहादभावेऽप्येति संशयम् ॥ १५९ ॥
तथैव सर्वतोऽस्पर्शे मत्वा सर्वाभिमर्शनम् ।
सत एवाङ्गुलीयस्याप्यभावं बुध्यते भ्रमात् ॥ १६० ॥

तस्माद्योग्यत्वनिर्णयोऽत्र सहकारी ।

अनुपलम्भस्तु द्विविधः प्रमाणाभावरूपः स्मरणाभावरूपश्च । तत्र प्रत्यक्षप्रमाणाभावरूपादनुपलम्भाद् घटाद्यभावज्ञानमुक्तम् । एवमनुमानगम्यार्थानामभावग्रहणे योग्यानुमानानुदयो बोधको द्रष्टव्यः, यथा रूपदर्शनबोधकस्य चेष्टा-

---

उक्त योग्यता का ज्ञान करने के लिए सूक्ष्म पदार्थों के अभाव का ज्ञान आवश्यक है, अतः सूक्ष्मार्थ-बोधक नेत्र-रश्मियों के संयोगार्थ प्रयत्न विशेष भी अपेक्षित होता है ॥ १५७ ॥ कथित योग्यता का सन्देह अथवा विपर्यय हो जाने पर अभाव के विषय में भी सन्देह या भ्रम (विपर्यय) हो जाता है, जैसे कि अँधेरे में खोई हुई अँगूठी के सभी भूतल पर हाथ फेर लेने पर भी योग्यता में सन्देह रह जाने के कारण अभाव का सन्देह हो जाता है और सभी भूतल का स्पर्श न होने पर भी सर्वाभिमर्शन का अभिमान हो जाने पर विद्यमान अँगूठी का भी भ्रमतः अभाव समझ लिया जाता है ॥ १५८–१६० ॥ अतः योग्यता का निश्चय अभाव-ज्ञान में आवश्यक होता है।

अनुपलम्भ दो प्रकार का होता है—(१) प्रमाणाभाव और (२) स्मरणाभाव। इनमें प्रत्यक्ष प्रमाण के अभावरूप अनुपलम्भ से घटादि के अभाव का ज्ञान ऊपर कहा गया। उसी प्रकार अनुमान-गम्य पदार्थों के अभाव का ग्रहण करने के लिए योग्यानुमानादि को बोधक

लिङ्गकानुमानस्यानुत्पत्तिरुलूकस्य दिवा रूपदर्शनाभावं बोधयति इत्युक्तं मनोरथमिश्रैः । एवमन्यप्रमाणेष्वपि इति ।

स्मरणाभावाद्यथा प्रातरिह मैत्रो नासीदिति सायंकाले ज्ञानम् । तत्र हि प्रातःकालविशिष्टमैत्रस्य सायंकाले दर्शनयोग्यत्वाभावात् स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मरणमेव तदानीं प्रातःकालविशिष्टमैत्राभावस्य बोधकमाश्रीयते इति ।

तार्किकास्तु अभावस्य प्रत्यक्षादिगम्यत्वमाचक्षाणा अनुपलम्भगम्यतां न संमन्यन्ते । तदयुक्तम् , तेऽपि हि सायंकाले प्रातःकालीनाभावज्ञानस्य इन्द्रिय-जन्यत्वाभावादुक्तप्रकारेणानुपलम्भजत्वमेव बलादङ्गीकुर्वीरन् । ननु तत्र स्मर-णाभावेन लिङ्गेन प्रातःकालीनाभावोऽनुमीयते एव । मैवम् , स्मरणाभावस्य ज्ञातुमशक्यत्वात् ।

स्मृत्यभावं मनोग्राह्यमिच्छन्ति किल तार्किकाः ।
तच्चायुक्तं वयं तावत् ज्ञानाप्रत्यक्षवादिनः ॥ १६१ ॥

समझ लेना चाहिए, जैसे कि रूप-दर्शन-बोधक चेष्टालिङ्गक अनुमान की अनुत्पत्ति उलूक के दिन में रूप-दर्शनाभाव की बोधिका है—ऐसा मनोरथ मिश्र ने कहा है। इसी प्रकार अन्य प्रमाणों के विषय में कहा जा सकता है ।

स्मरणाभाव से ज्ञान का प्रकार यह है कि 'प्रातरिह मैत्रो नासीद्—ऐसा सायं काल में ज्ञान होता है । वहाँ पर प्रातःकालीन मैत्र की सायं काल में दर्शन-योग्यता न रहने के कारण 'स्मरणयोग्यत्वे सति अस्मरण को ही प्रातःकालीन मैत्राभाव का बोधक माना जाता है ।

तार्किकगण जो अभाव को प्रत्यक्षादि प्रमाणों का विषय मान कर अनुपलब्धि प्रमाण का विषय नहीं मानते । वह अयुक्त है, क्योंकि उन्हें भी सायं काल में प्रातःकालीन अभाव का ज्ञान इन्द्रिय-जन्य सम्भव न होने के कारण अनुपलब्धि-जन्य ही मनना पड़ेगा । उसके स्मरणाभाव-रूप लिङ्ग के द्वारा प्रातःकालीन अभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि स्मरणाभावरूप लिङ्ग का ज्ञान सम्भव नहीं । यह जो

मनःप्रत्यक्षगम्यत्वं ज्ञानानां वारयामहे।
ततश्च तदभावोऽपि मनसा गृह्यते कथम् ॥ १६२॥

ननु अभावस्य प्रत्यक्षत्वमनुमिमीमहे, तदिदमुदितमुदयनेन—

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः ॥

इत्यादि । प्रयोगस्तु—'अभावः प्रत्यक्षः, अपरोक्षप्रतीतत्वाद्, घटवदिति । तत्र अभावस्यापरोक्षप्रतीतत्वाभावात् स्वरूपासिद्धो हेतुः । भूतलादेस्त्वपरोक्षत्वाद-

---

तार्किकगण स्मृत्यभाव को मनोग्राह्य मानते हैं, जैसा कि श्री वरदराज कहते हैं—"स्मरणाभावश्च मानसप्रत्यक्षः" (ता० र० पृ० ११०)। वह असंगत है, क्योंकि हम (भाट्ट गण) ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं मानते, अतः ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकता प्रत्यक्षप्रतियोगिक अभाव का ही प्रत्यक्ष होता है, फलतः स्मृतिरूप ज्ञान का अभाव मन के द्वारा भी गृहीत नहीं हो सकता ॥ १६२ ॥

शङ्का—अभाव में प्रत्यक्ष-विषयता का अनुमान किया जाता है, जैसा कि श्री उदयनाचार्य (न्या० कु० ३।२० में) कहते हैं—

प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यादिन्द्रियस्यानुपक्षयात् ।
अज्ञातकरणत्वाच्च भावावेशाच्च चेतसः ॥

[घटादि की ग्राहक इन्द्रियाँ घटाभाव के ग्रहण में उपक्षीण नहीं होतीं, अतः घटाभावादि की प्रतिपत्ति (प्रमा) अपरोक्ष ही होती है। अज्ञातकरणक होने के कारण भी अभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है, अनुपलब्धि-गम्य नहीं, क्योंकि मन की सहायता के विना कोई ज्ञान नहीं होता और मन भावभूत इन्द्रियादि करणों का ही सहायक होता है, अभावभूत अनुपलब्धि करण का नहीं]। अभाव की प्रत्यक्षता सिद्ध करने के लिए अनुमान-प्रयोग ऐसा किया जा सकता है—'अभावः प्रत्यक्षः, अपरोक्ष-प्रतीतत्वाद्, घटवत् ।'

समाधान—उक्त अनुमान में स्वरूपासिद्धि दोष है, क्योंकि अभाव

भावस्यापि तत्त्वभ्रम एव आयुष्मतामिति ।

ननु अभावज्ञानं प्रत्यक्षम्, अनुपक्षीणेन्द्रियजन्यत्वाद्, घटज्ञानवदिति । तदपि विशेषासिद्धम्, यतः—

पूर्वोक्तयोग्यतासिद्धावुपक्षीणमिहेन्द्रियम् ।
ग्राह्या चाभावबोधार्थं योग्यता तार्किकैरपि ॥ १६३ ॥
घटो यदि भवेदत्र तर्हि दृश्येत भूमिवत् ।
इति तर्कात्मना तेऽपि योग्यतामेव गृह्णते ॥ १६४ ॥
अस्ति चेदुपलभ्येतेत्यस्य कोऽर्थो विचार्यताम् ।
घटादन्योऽत्र सर्वोऽपि ज्ञानहेतुरभूदिति ॥ १६५ ॥

का प्रत्यक्ष नहीं होता, अभाव के अधिकरणीभूत भूतलादि का ही प्रत्यक्ष होता है, अत एव आप (तार्किकों) को भूतलवृत्ति अभाव में प्रत्यक्षता का भ्रम हो जाता है । 'इन्द्रियस्यानुपक्षयात्'—ऐसा कह कर श्री उदयनाचार्य ने जो अनुमान-प्रयोग सूचित किया है—'अभावज्ञानं प्रत्यक्षम्, अनुपक्षीणेन्द्रियजन्यत्वाद्, घटवत् [श्री वरदराज ने भी कहा है—"भूतले घटो नास्तीति प्रतीतिरिन्द्रियजन्या, अनन्यत्रोपक्षीणेन्द्रियव्यापारान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वाद्, रूपादिबुद्धिवत्" (ता० र० पृ० १०२)] । वह अनुमान भी विशेषासिद्ध है, क्योंकि पूर्वोक्त अनुपलब्धि प्रमाण में अपेक्षित योग्यता की सिद्धि में इन्द्रियाँ उपक्षीण हो जाती हैं [श्री चिदानन्द पण्डित भी यही दोष देते हैं—"विषयतदधीनेतरकारणसाकल्यलक्षणयोग्यत्वायेन्द्रियस्यान्यथासिद्धत्वात्" (नीति० पृ० १७४) । तार्किकगण भी अभाव का प्रत्यक्ष करने के लिए उक्त योग्यता की नित्यापेक्षणीयता स्वीकार करते हैं, क्योंकि उनका 'अत्र घटो यदि भवेत्, तर्हि भूतलादिवद् दृश्येत'—इस प्रकार का प्रसञ्जन तर्क योग्यता के विना सम्भव नहीं हो सकता । 'अस्ति चेदुपलभ्येत'—इस वाक्य का क्या तात्पर्य है ? इसकी गहराई में जाकर सोचा जाय, तब घट-भिन्न समस्त घटोपलम्भक सामग्री वहाँ सिद्ध होती है, वही योग्यता है ॥१६४–६५॥

यत्पुनः अभावज्ञानं प्रत्यक्षम्, अज्ञातकरणत्वाद्, घटादिज्ञानवदिति, तत् स्मृतावनैकान्तिकम्।

संस्कारो हि स्मृतौ हेतुः स चाज्ञातोऽवबोधकः।
अज्ञातकरणाप्येवं स्मृतिर्नाध्यक्षतां गता ॥ १६६ ॥ इति।

यत्पुनः अभावज्ञानं भावरूपकरणाविष्टमनोजन्यम्, ज्ञानत्वात्, ज्ञानान्तरवदिति अनुपलम्भकरणकत्वं न युक्तमिति। तदपि न, 'अभावज्ञानं इन्द्रियेतरकरणकम्, अभावज्ञानत्वाद्, अनुमेयाभावज्ञानवद्—इत्यपि वक्तुं शक्यत्वात्।

यह जो श्री वरदराज ने (ता० र० पृ० १०५ पर) 'अज्ञातकरणत्वात्' ऐसा कहकर अनुमान सूचित किया है—अभावज्ञानं प्रत्यक्षम्, अज्ञातकरणकत्वाद्, घटादिवत् [अर्थात् अनुमित्यादि ज्ञानों का धूमादि करण ज्ञात होकर ही अनुमित्यादि को उत्पन्न करता है, किन्तु घटादि के प्रत्यक्ष ज्ञान का चक्षुरिन्द्रियरूप करण अज्ञात होकर ही ज्ञान का जनक माना जाता है, अतः प्रत्यक्ष ज्ञान को अज्ञातकरणक ज्ञान कहा जाता है]। उक्त अनुमान का अज्ञातकरणकत्वरूप हेतु स्मृतिज्ञान में अनैकान्तिक (व्यभिचारी) है, क्योंकि स्मृति ज्ञान के संस्कार ही करण हैं और संस्कार अज्ञात रहकर ही स्मृति के जनक माने जाते हैं, अतः स्मृति ज्ञान में प्रत्यक्षत्वरूप साध्य के न होने पर भी अज्ञातकरणकत्वरूप हेतु रह जाता है। चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है—"स्मृतावनैकान्तिकत्वात्" (नीति० पृ० १७५) ॥ १६६ ॥

श्री उदयनाचार्य की "भावावेशाच्च चेतसः"--इस उक्ति का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए श्री वरदराज ने जो कहा है कि "सर्वत्र बाह्यार्थेषु भावप्रमाणावष्टम्भेनैव मनसोऽपि ज्ञानहेतुत्वं दृष्टमित्यभावज्ञानेऽपि तथात्वमुपगम्यते इत्यनुपलब्धिसहकारित्वं नोपपद्यते" (ता० र० पृ० १०५)। उसके द्वारा जो अनुमान सूचित किया गया है—'अभावज्ञानं भावरूपकरणाविष्टमनोजन्यम्, ज्ञानत्वात्, ज्ञानान्तरवत्'। वह अनुमान भी अयुक्त है, क्योंकि इसका बाधक अनुमान इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता

यत्तु अभावज्ञानमिन्द्रियकरणकम्, इन्द्रियदोषेण दूष्यमाणत्वाद्, यथा चक्षुर्दोषेण दूष्यमाणं रूपज्ञानं चक्षुःकरणकमिति । तदप्यसिद्धमेव ।

न खल्विन्द्रियदोषः स्यादभावभ्रमकारणम् ।
योग्यताभ्रम एवात्र तत्कारणमितीरितम् ॥१६७॥ इति ।

यानि पुनः 'चक्षुः अभावग्राहकम्, इन्द्रियत्वात्, मनोवद्—इत्यादीन्यनुमानानि, तानि सर्वाणि संबद्धस्यैवेन्द्रियस्य ग्राहकत्वाद् अभावेन संबन्धानभ्युपगमाद् विशेषणविशेष्यभावरूपसंबन्धस्य च संबन्धान्तरपूर्वकत्वनियमाद् विशेषविरुद्धानि ।

है—'अभावज्ञानम् इन्द्रियेतरकरणकम्, अभावज्ञानत्वाद्, अनुमेयाभावज्ञानवत्' ।

"इन्द्रियदोषेण दूष्यमाणमभावज्ञानं तदेवात्मनः करणीकरोति, कारणदोषादेव हि कार्यदोषाः प्रादुर्भवंति" (ता० र० पृ० १०६) इस प्रकार की वरदराज-प्रदर्शित व्याप्ति के आधार पर जो अनुमान सूचित होता है—अभावज्ञानम् इन्द्रियकरणकम्, इन्द्रियदोषेण दूष्यमाणत्वाद्, यथा चक्षुर्दोषेण दूष्यमाण रूपज्ञानम् चक्षुःकरणकम्' । वह अनुमान भी असिद्ध है, क्योंकि इन्द्रिय-दोष अभाव भ्रम का कारण नहीं होता, अपि तु योग्या-भ्रम ही अभाव-भ्रम का कारण होता है । [असिद्धि का ही विमलीकरण करते हुए श्री चिदानन्द पण्डित ने कहा है—"अभावज्ञानं प्रति योग्यत्वस्य ज्ञाततया हेतुत्वाद्, योग्यत्वभ्रमादेवाभावभ्रमः, नेन्द्रियदोषात् लिङ्गभ्रमादिव लैङ्गिकभ्रम इतीन्द्रियदोषानुविधायित्वस्यासिद्धत्वात्" (नीति० पृ० १७६)] ।

'चक्षुरभावग्राहकम्, इन्द्रियत्वात्, मनोवत्'—इत्यादि जो अनुमान किए जाते हैं, वे सब विशेषविरुद्ध है, क्योंकि इन्द्रिय स्व-सम्बद्ध विषय का ही ग्राहक है किन्तु अभाव के साथ इन्द्रिय का कोई संयोगादि सम्बन्ध सम्भव नहीं, नैयायिक जो विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध माना करते हैं, वह भी संयोगादिसम्बन्धान्तरपूर्वक ही होता है । [चिदानन्द पण्डित

अपि चेन्द्रियसंबन्धयोग्यतैव हि वस्तुनः।
प्रत्यक्षत्व उपाधिः स्याद्व्याप्त्यसिद्धास्ततोऽखिलाः ॥१६८॥

ननु विशेषणविशेष्यभावो नाम संबन्धः अस्त्येव । मैवम्,

प्रत्यक्षत्वे ह्यभावस्य स्थिते कश्चित् कथंचन।
कष्टोऽपि संनिकर्षः स्यात्तदेवाद्यापि न स्थितम् ॥१६९॥

ने वैसे सभी अनुमानों का प्रदर्शन और निरास इस प्रकार किया है--यानि (१) चक्षुरभावग्राहकम्, इन्द्रियत्वात् मनोवत् । (२) अभावः स्वप्रतियोगिसर्वप्रमाणात्यन्तसजातीयग्राह्यः, अभावत्वाद्, अनुमेयाभाववत् । (३) सत्ता सामान्यसमवायातिरिक्ता अस्मत्प्रत्यक्षात् परावृत्ता, जातित्वाद्, गोत्वादिवद्—इत्यादीनि साधनानि, तानि बाह्येन्द्रियस्य संयोगादित्रिविधसन्निकर्षवत एव तज्ज्ञानहेतुत्वव्याप्तेरभावे च तदभावाद् विशेषरुिद्धानि । किञ्च अभावः प्रत्यक्षो न भवति, अभावत्वाद्, अनुमेयाभाववत् ।' 'सत्ता अस्मत्प्रत्यक्षात्परावृत्ता, जातित्वाद्, गोत्ववद्'—इत्यादिना प्रथमस्य हेतोः सप्रतिसाधनत्वं द्वितीयतृतीययोर्विरुद्धाव्यभिचारित्वं च द्रष्टव्यम्" (नीति० पृ० १७६)।

केवल इतना ही नहीं, कथित प्रत्यक्षत्व-साधक प्रायः सभी हेतु व्याप्त्यसिद्ध भी हैं, क्योंकि वहाँ इन्द्रियसम्बन्धादिरूप योग्यता ही उपाधि है, जो कि घटादि में प्रत्यक्षत्वरूप साध्य की व्यापक और अभावरूप पक्ष में साधन की अव्यापक है, क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रिय का कोई सम्बन्ध नहीं बनता—यह कहा जा चुका है ॥ १६८ ॥

शङ्का—अभाव के साथ इन्द्रिय का विशेषण-विशेष्यभाव सम्बन्ध है, जिसकी चर्चा विगत पृ० १७ पर आ चुकी है। फलतः उक्त उपाधि में साधन की भी व्यापकता ही सिद्ध होती है, अव्यापकता नहीं।

समाधान—यदि अभाव में प्रत्यक्षत्व सिद्ध हो जाता, तब अवश्य किसी-न-किसी प्रकार अभाव के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध स्थापित करने का कष्ट भी सहन किया जा सकता था, किन्तु अभाव में प्रत्यक्षता अभी

किंच अभावभूतले विशेषणविशेष्यभावरहिते, संबन्धान्तररहितत्वात् मेरुविन्ध्यवद्—इति विशेषणविशेष्यत्वमेवात्र नास्ति इति कथमसतः संनिकर्षत्ववादः । किंच—

प्रतियोगिस्मृतिर्न स्यादादितो निर्विकल्पके ।
ततश्च सविकल्पेनैवाभावज्ञानमिच्छसि ॥ १७० ॥

तस्मादेवमनुमीयते—अभावः प्रत्यक्षो न भवति, निर्विकल्पकानर्हत्वाद्, अतीन्द्रियवस्तुवदिति । तदेवं नैयायिकवैयात्यनिरोधादनुपलम्भवेद्य एवाभाव इति स्थितम् ।

तक सिद्ध नहीं हो पाई ।। १६९ ।। दूसरी वात यह भी है कि अभाव और भूतल में विशेष्य-विशेषणभाव की असिद्धि भी है—'अभावभूतले विशेषणविशेष्यभावरहिते, सम्वन्धान्तररहितत्वात्, मेरुविन्ध्यवत् ।' [अर्थात् 'घटवद् भूतलम्'—यहाँ पर घट विशेषण और भूतल विशेष्य है, क्योंकि भूतल के साथ घट का संयोग सम्वन्ध है, उस संयोग का प्रतियोगीभूत घट विशेषण और अनुयोगीभूत भूतल विशेष्य है, किन्तु अभाव और भूतल में वैसा विशेषणता और विशेष्यता का नियामक कोई सम्वन्ध नहीं, अतः उनमें विशेषण-विशेष्यभाव की सत्ता ही सिद्ध नहीं होती] असत् विशेषण-विशेष्यभाव को सन्निकर्ष नहीं वनाया जा सकता ।

एक वात और भी है कि तार्किकगण अभाव का निर्विकल्पक वोध नहीं मानते, क्योंकि अभाव-ज्ञान में प्रतियोगी का स्मरण आवश्यक है, अभाव-ज्ञान को आरम्भ से ही निर्विकल्पक मानने पर प्रतियोगी का स्मरण नहीं होगा, जैसा कि श्री चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है—"अभावस्य प्रतियोगिव्यङ्ग्यत्वेन निर्विकल्पकानर्हत्वात्" (नीति० पृ० १७९) ॥ १७० ॥ इस लिए भी अभाव में प्रत्यक्षता का अभाव सिद्ध होता है—'अभावः प्रत्यक्षो न भवति निर्विकल्पकानर्हत्वाद्, अतीन्द्रिय-वस्तुवत् । फलतः नैयायिकों की धृष्टता का निरोध हो जाने पर यह निर्विरोध सिद्ध हो जाता है कि अनुपलब्धि प्रमाण का ही अभाव विषय है।

अभावाख्यं तु वस्त्वेव नास्तीत्याह प्रभाकरः ।
तेन प्रमाणचिन्तामेवैनां परिहसत्यसौ ॥ १७१ ॥
तमप्यपाकरिष्यामः पदार्थानां समर्थने ।
तदेवं निष्प्रतिद्वन्द्वा षट्प्रमाणी समर्थिता ॥ १७२ ॥

सम्भवादेरन्तर्भावः—

ये तु संभवमैतिह्यमिति मानान्तरं विदुः ।
तेऽनुमाने च शाब्दे च चोरवृत्तिमुपाश्रिताः ॥ १७३ ॥ तथाहि—
यत्सहस्रादिसङ्ख्यासु शतादेः सत्त्ववेदनम् ।
खार्यादिपरिमाणेषु प्रस्थादिग्रहणं च यत् ॥ १७४ ॥

आचार्य प्रभाकर कहते हैं कि अभावसंज्ञक कोई पदार्थ होता ही नहीं, अतः अभाव का ग्रहण करने के लिए इस प्रमाण-चिन्ता का वे उपहास उड़ाते हैं, उनका भी अपाकरण प्रमेय-निरूपण में किया जायगा। यहाँ प्रत्यक्षादि छः प्रमाणों का यह संक्षिप्त समर्थन प्रस्तुत किया गया ॥ १७१–१७२ ॥

सम्भवादि का अन्तर्भाव—

जो (१) सम्भव और (२) ऐतिह्य नाम के दो अन्य प्रमाण माने जाते हैं, वे क्रमशः अनुमान और शब्द में विलीन हो जातें हैं—(१) सहस्रादि महा संख्या में जो शतादि अवान्तर संख्या की सत्ता का अथवा खारी आदि महा परिमाणों में प्रस्थादि अवान्तर परिमाणों का जो ज्ञान होता है, उसे ही सम्भव प्रमाण कहा करते हैं [जिस व्यक्ति के पास एक हजार रुपये हैं, उसे अपने-आप ज्ञान हो जाता है कि सौ रुपये मेरे पास हैं, क्योंकि हजार की संख्या में शतादि का समावेश है। इसी प्रकार एक खारी भर अन्न जिसके पास है, उसे अपने आप यह बोध हो जाता है कि एक प्रस्थ अन्न मेरे पास है, क्योंकि—

पलं प्रकुञ्चकं मुष्टिः कुडवस्तच्चतुष्टयम् ।
चत्वारः कुडवाः प्रस्थः चतुःप्रस्थमथाढकम् ॥

तत्संभव इति प्राहुरन्तर्भावो हि संभवः ।
तच्चानुमानिकं ज्ञानमिच्छन्ति स्वच्छचेतसः ॥ १७५ ॥
एकस्य तावद् द्वित्वादौ समावेशनिरीक्षणात् ।
ज्ञायतेऽधिकसङ्ख्यायामल्पसङ्ख्यासमन्वयः ॥ १७६ ॥
ततश्च व्याप्तिविज्ञानादल्पसङ्ख्याः शतादयः ।
सहस्रादिषु गम्येरन्नधिकत्वेन हेतुना ॥ १७७ ॥
तथैव परिमाणेष्वप्यधिकादल्पवेदनम् ।
ऊह्यमित्यनुमानत्वसंभवात्संभवो हतः ॥ १७८ ॥
प्रवादमात्रशरणं वाक्यमैतिह्यमुच्यते ।
वटे वटे वैश्रवणस्तिष्ठतीत्यादिकं यथा ॥ १७९ ॥

अष्टाढको भवेद् द्रोणो द्विद्रोणः सूर्पमुच्यते ।
सार्धसूर्पो भवेत् खारी द्विद्रोणा गोण्युदाहृता ॥

इत्यादि कोश के अनुसार भार या वजन के विशेष परिमाण विभिन्न नामों से जो कभी प्रचलित थे, उनमें खारी परिमाण कई प्रस्थों का होता था, अतः खारी के ज्ञान से प्रस्थ का ज्ञान सुलभ है]। 'सम्भव' शब्द का अर्थ अन्तर्भाव होता है। इस सम्भव-ज्ञान को प्रबुद्ध व्यक्ति आनुमानिक ही मानते हैं, क्योंकि एक और एक मिलाकर दो होते हैं, अतः दो में एक का सम्भव या समावेश नैसर्गिक है, अतः अधिक संख्या के ज्ञान से न्यून संख्या का ज्ञान हो जाता है, फलतः सहस्रादि अधिक संख्या में व्याप्ति के बल पर शतादि संख्या का ज्ञान हो जाता है ॥ १७४–१७७ ॥ श्री वरदराज ने भी कहा है—"सम्भवो नाम सहस्रादेः शतादिविज्ञानम्, तदप्यविनाभावप्रतिसन्धानेन जायते इत्यनुमानमेव" (ता० र० पृ० ११६)। इसी प्रकार परिमाणों में भी अधिक से अल्प का ज्ञान अनुमान से ही हो जाता है, अतः सम्भव प्रमाण को पृथक् मानना आवश्यक नहीं ॥१७८॥

(२) प्रवाद-परम्परा को ऐतिह्य प्रमाण कहा करते हैं ["अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः" (पा० सू० ५।४।२३) इस पाणिनि सूत्र के द्वारा

तत्प्रायो　　मूलराहित्यादप्रमाणतयेष्यते ।
नन्वेवं कृष्णरामादिकथापि हि कथं हि वः ॥ १८० ॥
मैवं स्मृतिवदाप्तोक्तिप्रसिद्ध्या मूलसंभवात् ।
मानान्तराविरोधाच्च शाब्दमेव हि तादृशम् ॥ १८१ ॥
किंच कृष्णादिवृत्तान्तसाधुता साधु साधिता ।
न्यायनिर्णयकारेण　　पुरुषोत्कर्षसाधने ॥ १८२ ॥
तस्मात्कुत्रचिदैतिह्यं सत्यं चेच्छाब्दमेव तत् ।
अतः षडेव मानानि मानयन्ति मनीषिणः ॥ १८३ ॥
राम षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते ।
इति रामायणेऽप्युक्तं तस्मात् सर्वं सुमङ्गलम् ॥ १८४ ॥

इति प्रमाणखण्डः समाप्तः ।

प्रवादार्थक 'इतिह'—इस निपात-समुदाय से स्वार्थ में 'ञ्य' प्रत्यय होता है—इतिहैवैतिह्यम्] । जैसे "वटे वटे वैश्रवणः चत्वरे चत्वरे शिवः"—इत्यादि कर्मारम्भ माङ्गलिक पद्यों में प्रवाद-परम्परा वर्णित है, उसमें जो निर्मूल और निराधार वाक्य हैं, वे प्रायः अप्रमाण ही माने जाते हैं। राम और कृष्णादि की कथाएँ बद्धमूल होने के कारण स्मृति प्रमाण के अन्तर्गत हैं, उनका प्रमाणान्तर से किसी प्रकार का विरोध नहीं । न्याय-निर्णयकारों ने राम, कृष्णादि के वृत्तान्तों की प्रामाणिकता सिद्ध की है, अतः ऐसे ऐतिह्य कथानक सत्य होने पर भी शब्द प्रमाण के अन्तर्गत माने जाते हैं। अतः छः प्रमाण ही मनीषिगण मानते हैं, रामायण में भी कहा गया है—"राम षड् युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुदृश्यते" ॥ १७९-१८४ ॥ वार्तिककार ने भी (श्लो० वा० पृ० ४६२) पर कहा है—

इह भवति शतादौ सम्भवाद्यासहस्रात्
　　मतिरवियुतभावात् साऽनुमानादभिन्ना ।
जगति बहु न तथ्यं नित्यमैतिह्यमुक्तं
　　भवति तु यदि सत्यं नागमाद् भिद्यते तत् ॥

२—प्रमेयानि

उपोद्घातः—

कुमारिलवचोजालपयोधिशरदिन्दवे ।
शिष्यसन्तानसन्तानतरवे गुरवे नमः ॥ १ ॥

यत्कीर्तिर्न हि माति हन्त महति ब्रह्माण्डभाण्डोदरे
यस्याज्ञां प्रणतैः शिरोभिरनिशं धत्ते नृपाणां गणः ।
सोऽयं नाटकतर्ककाव्यनिपुणः प्रज्ञातपातञ्जलो
भक्तश्चक्रिणि मानवेदनृपतिर्जागर्ति पृथ्वीतटे ॥ २ ॥

पृथ्वीवृत्रजिता नितान्तमहितेनैतेन संचोदितै-
रस्माभिः कृशशेमुषीविलसितैरभ्यासहीनैरपि ।
प्राङ् नारायणसूरिणा विरचितं सन्मानमेयोदयं
मोहात् पूरयितुं कृता मतिरियं सन्तः प्रसीदन्तु नः ॥ ३ ॥

२—प्रमेय

उपोद्घात—

कुमारिल के वचोनिचयरूपी पारावार में उत्ताल तरङ्ग उठा देने वाले शरत्कालीन चन्द्ररूप, शिष्य-शाख-प्रशाख के महातरु गुरुवर को नमस्कार है ॥ १ ॥

जिसकी विशाल कीर्ति ब्रह्माण्ड के उदर में नहीं समा रही है, जिसकी आज्ञा में हाथ बाँधे सदैव नृपगण खड़े रहते हैं, वह नाटक, तर्क और काव्य में निपुण पातञ्जशास्त्राभिज्ञ विष्णु-भक्त श्री मानवेद नामक सम्राट् भूमण्डल पर विराजमान है ॥ २ ॥ उसी महान् नृप की प्रेरणा से मैं पुरातन नारायण भट्ट के द्वारा प्रणीत इस अधूरे 'मानमेयोदय' ग्रन्थ को पूरा करने के लिए उद्यत हो गया हूँ। मेरा इस विषय का विशेष अभ्यास नहीं, बुद्धि भी थोड़ी है। फिर भी अधूरे ग्रन्थ की पूर्ति का मोह हो गया है, आशा है कि मेरे इस कार्य से सत्पुरुष प्रसन्न होंगे ॥ ३ ॥

प्रमेयं बहुधा लोके प्राहुः प्राभाकरादयः ।
प्रमाणाभासविश्वासव्याकुलीभूतचेतसः ॥ ४ ॥
आचार्यमतपीयूषपारावारविहारिणः ।
वयं तावत् प्रमेयं तु द्रव्यजातिगुणक्रियाः ।
अभावश्चेति पञ्चैतान् पदार्थानाद्रियामहे ॥ ५ ॥

(१) द्रव्यम्—

परिमाणगुणाधारं द्रव्यं द्रव्यविदो विदुः ।

तार्किकास्तु गुणाश्रयो द्रव्यम्—इत्याहुः । तत्तु—'चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गुणाः कणभुजा स्वयम्'—इति गुणानां संख्याश्रयत्वात् संख्यायाश्च गुणत्वस्वीकाराद् गुणेष्वतिव्याप्तम् । समवायस्याभावे समवायिनो दूरनिरस्तत्वात् समवायिकारणं

लोक में प्रभाकरादि आचार्यों ने प्रमेयवर्ग का अनेक प्रकार से वर्णन किया है, मैं समझता हूँ कि प्रभाकरादि कुछ प्रमाणाभासों पर विश्वास होने के कारण व्याकुलित होकर प्रमेयों और उनकी इयत्ता का निर्णय न कर सके किन्तु हम आचार्य कुमारिल भट्ट के मतरूपी अमृतमय महासागर में गोते लगानेवाले हैं, अतः हम (१) द्रव्य (२) जाति, (३) गुण, (४) क्रिया और (५) अभाव नाम के पाँच प्रमेयों को मान्यता देते हैं ॥ ४–५ ॥

(१) द्रव्य—

द्रव्य-तत्त्ववेत्ता विद्वान् परिमाण और गुण की आधार वस्तु को द्रव्य कहा करते हैं। वैशेषिकगण द्रव्य का लक्षण करते हैं—"गुणाश्रयो-द्रव्यम्" । जैसा कि महर्षि कणाद कहते हैं—"क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" (वै० सू० १।१।१५) । वैशेषिकों का उक्त (गुणवत्त्व) लक्षण गुणों में ही अतिव्याप्त है, क्योंकि "चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गुणाः कणभुजा स्वयम्"—इस उक्ति के आधार पर चतुर्विंशति संख्या की आश्रयता गुणों में सिद्ध होती है, संख्या भी एक गुण है । समवाय पदार्थ की सत्ता सिद्ध नहीं होती, अतः समवायी (समवाय का आश्रय) भी

द्रव्यं इत्यपि निरसनीयम् उक्तया रीत्या गुणेषु संख्यासमवायाद् गुणेष्वति व्याप्तिश्च ।

न च परिमाणस्य गुणत्वात् गुणानां च द्वितीयक्षणे एवोत्पत्तेः प्रथमे क्षणे परिमाणाश्रयत्वाभावादव्याप्तिः, गुणगुणिनोः समानकालोत्पत्तिस्वीकारात् । तथा सति गुणगुणिनोः समानसामग्रीकत्वाद् अभेदप्रसङ्गस्तु तादात्म्यवादिनामस्माकं न कमपि दोषमापादयति ।

नन्वेवं सति गुणगुणिनोः परस्परं कार्यकारणभावो न स्यात्, न हि समानकालीनयोरन्योऽन्यं कार्यकारणभावः अन्यत्र दृष्टचरः, इति चेत् । मैवम्, समान-

---

कोई नहीं हो सकता, 'समवायिकारणं द्रव्यम्'—यह काणाद लक्षण भी निरस्त हो जाता है । यह कहा जा चुका है कि गुणों में भी संख्यावत्ता का व्यवहार प्रमाण-सिद्ध है, अतः संख्यारूप गुण की समवायिकारणता भी गुणों में अतिव्याप्त है ।

शङ्का—द्रव्य का मीमांसकाभिमत परिमाणाधारत्व लक्षण भी प्रथमक्षणावच्छिन्न द्रव्य में अव्याप्त है, क्योंकि परिमाण भी गुण है और गुणों की द्रव्य के द्वितीय क्षण में उत्पत्ति मानी जाती हैं, प्रथम क्षणावच्छिन्न द्रव्य में कोई गुण नहीं रहता ।

समाधान—मीमांसा-सिद्धान्त में गुण और गुणी (द्रव्य) की समान काल में उत्पत्ति मानी जाती है । गुण और गुणी की उत्पादिका सामग्री एक ही होती है । समान सामग्री से समुत्पन्न पदार्थों का यदि अभेदापादन किया जाता है, तब हमें इष्टापत्ति है, क्योंकि हम गुण और द्रव्य का तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, अतः कोई अनिष्ट-प्रसङ्ग नहीं होता ।

शङ्का—यदि गुण और गुणी की समान काल में उत्पत्ति मानी जाती है, तव उनमें परस्पर कार्य-कारणभाव न हो सकेगा, क्योंकि अन्यत्र कहीं भी समान कालीन दो पदार्थों का कार्य-कारणभाव नहीं देखा जाता ।

समाधान—गुणी (द्रव्य) और गुण दोनों समानकालीन हैं, फिर

कालीनयोरपि गुणिगुणयोरुपादानोपादेयभावस्य दृष्टत्वादेवोपपत्तेः । न चैत-द्दर्शनं भ्रमः, बाधकाभावात् । न च अनुमानादीनि बाधकानि, तेषां बलवत्प्र-त्यक्षविरोधादनुमानाद्यनुत्थानाद्, अन्यथा वह्निशैत्यानुमानादेरपि उत्थान-प्रसङ्गः । तस्मात् परिमाणाश्रयो द्रव्यम् ।

द्रव्यभेदाः—

पृथिवी सलिलं तेजः पवमानस्तमस्तथा ।
व्योमकालदिगात्मानो मनः शब्द इति क्रमात् ।। ६ ।।
एकादशविधं चैतत् कुमारिलमते मतम् ।
यथाशास्त्रं विधास्यामस्तत्स्वरूपनिरूपणम् ।। ७ ।।

तत्र तावद् गन्धवती पृथिवी, सा पुनर्धराधरमहीरुहादिरूपा । शरीरघ्राणेन्द्रियरूपा च । तत्र आत्मभोगायतनं शरीरम् । तत्तु जरायुजा-

---

भी इनका उपादानोपादेयभाव अनुभूत है, अतः उसकी अनुपपत्ति नहीं हो सकती । द्रव्य और गुण की एक काल में उत्पत्ति का ज्ञान भ्रम है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उसका कोई वाधक नहीं होता, अनुमानादि को उक्त प्रत्यक्षानुभूति का वाधक नहीं कह सकते, क्योंकि प्रवलतर प्रत्यक्ष के सामने उनका उत्थान ही नहीं हो सकता, अन्यथा अग्नि-शैत्यानुमिति भी हो जायगी अतः द्रव्य परिमाण का आश्रय होता है—यह सिद्ध हो गया ।

द्रव्य के भेद—

(१) पृथिवी, (२) सलिल, (३) तेज, (४) वायु, (५) तमः, (६) आकाश, (७) काल, (८) दिक्, (९) आत्मा, (१०) मन और (११) शब्द । ग्यारह प्रकार का द्रव्य होता है, क्रमशः उनका स्वरूप वताया जा रहा है ॥ ६–७ ॥

(१) **पृथिवी**—'गन्धवती पृथिवी' यह पृथिवी का लक्षण है । वह पर्वत, वृक्षादि के भेद से नाना प्रकार की होती है । बाह्य भेदों के समान पृथिवी के आध्यात्मिक भेद हैं—शरीर और घ्राण इन्द्रिय । आत्मगत

ण्डजस्वेदजोद्भिज्जभेदेन चतुर्विधम् । तत्र जरायुजं मनुष्यादिशरीरम्, अण्डजं पतङ्गादिशरीरम् , स्वेदजं मशकादिशरीरम् , उद्भिज्जं वृक्षादिशरीरम् ।

तत्रोद्भिज्जानां शरीरत्वं नास्तीति प्राभाकराः, यथाह शालिकनाथः— "उद्भिज्जं शरीरं न भवत्येव, इन्द्रियायतनत्वे प्रमाणाभावाद्"—इति । तदयुक्तम् , "स्मशाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रनिषेवितः", "नलकूवरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ"—इत्यादि स्मृतिपुराणवचनविरोधात् ।

ननु निर्मूलमेवेदं वचनम्, तदुक्तं शालिकनाथैः—"अस्याः स्मृतेर्निर्मूलतया मुख्यार्थत्वानुपपत्तेः । न च वेदमूलत्वमवकल्पते, अकार्यत्वात् । यस्तु वेदे तथा

भोग के आयतन (अवच्छेदक) को शरीर कहते हैं। वह जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज भेद से चार प्रकार का होता है। जरायु (गर्भवेष्टनी) से मनुष्यादि का शरीर उत्पन्न होता है, पक्षी आदि का शरीर अण्डज, मशकादि का शरीर स्वेदज और वृक्षादि का शरीर भूमि का उद्भेदन करके उत्पन्न होता है।

शङ्का—प्रभाकर का मत है कि उद्भिज्ज शरीर नहीं होता, जैसा कि शालिकनाथ कहते हैं—"उद्भिज्जं तु शरीरं न भवत्येव, वृक्षादिकस्य इन्द्रियायतनत्वे मानाभावात्" (प्र० पं० पृ० ३३०)।

समाधान—शास्त्रों में वृक्षादि के शरीरों का भी वर्णन आया है —

गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः ।
श्मसाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रोपसेवितः ॥

,'नलकूवरमणिग्रीवावासतुर्यलार्जुनौ" (भा. पु. १०।१०।२३) इत्यादि पुराण-वाक्य उद्भिज्ज शरीरों की प्रामाणिकता सिद्ध कर रहे हैं।

शङ्का—उद्भिज्ज शरीरों के प्रतिपादक उक्त वचन निर्मूल है, जैसा कि शालिकनाथ मिश्र ने कहा है—"अस्याः स्मृतेर्निमूलतया मुख्यार्थत्वानुपपत्तेः । न च वेद एव मूलमवकल्पते, अकार्यार्थत्वाद्...यस्तु वेदे तथाभूतार्थ प्रयोगः, स गौणः, लाक्षणिको वा वर्णनीयः, अतस्त्रिविधमेव शरीरम् (प्र० पं० पृ० ३३१)। आशय यह है वेद केवल कार्यभूत अर्थ

भूतार्थपदप्रयोगः, स गौणेनार्थेन लाक्षणिक्या वृत्त्या वा योजनीयः इति त्रिविधमेव शरीरम्"—इति ।

तदप्ययुक्तम्, न वेदानां कार्ये एवार्थे तात्पर्यं किन्तु सिद्धेऽपीति वक्ष्यमाणत्वाद् । अतस्तन्मूलत्वात् प्रमाणमेवैवंभूतानि स्मृतिपुराणवचनानि ।

न चेन्द्रियायतनत्वे प्रमाणाभावादुद्भिज्जानामशरीरत्वम्—इति वाच्यम्, आमिषादिसदसद्भावनिबन्धनपुष्टिह्रासादिदर्शनेन दाहच्छेदादिभिः इतरशरीरवदेव वैगुण्यावाप्तिदर्शनेन च सुखदुःखानुभवे सिद्धे तेनैवेन्द्रियकल्पनोपपत्तेः, न ह्यनिन्द्रियाणां सुखदुःखानुभवः संभवति ।

यत्पुनः "अचेतने अर्थबन्धनाद्"—इत्यत्र "ओषधे त्रायस्वैनम्"—इत्यादि-

---

में ही प्रमाण होता है शरीरादि सिद्धार्थ के प्रतिपादन में मुख्य उसका तात्पर्य सम्भव नहीं ।

समाधान—उक्त कथन भी अयुक्त है, क्योंकि वेदों का कार्यभूत अर्थ में ही मुख्य तात्पर्य है–ऐसा नहीं, किन्तु सिद्ध अर्थ में भी तात्पर्य होता है, यह आगे कहा जायगा । फलतः प्रासङ्गिक शरीरादि सिद्धार्थ में भी वेद का प्रामाण्य सम्भावित है, पुराणादि-वाक्य अपने मूलभूत श्रुतिवाक्यों के अनुमापक होते हैं—यह स्मृत्यधिकरण की निर्णीत सरणी है ।

यह जो कहा गया कि शरीर इन्द्रियों का आयतन होता है, किन्तु वृक्षादि के शरीर इन्द्रियों के आयतन नहीं, अतः उन्हें शरीर नहीं मानना चाहिए । वह कहना अत्यन्त असंगत है, क्योंकि कतिपय कटहलादि वृक्षों के मूल में आमिषादि का योग हो जाने से, वे सुपुष्ट और हरे-भरे हो जाते हैं और उसके अभाव में सूख जाते हैं । इस प्रकार इतर शरीरों के समान ही वृद्धि-ह्रासादि देख कर वृक्षादि में सात्मत्व और दाह-छेदादि के द्वारा सुख-दुःखादि का होना सिद्ध हो जाता है । सुख-दुःखादि की अनुभूति इन्द्रियों के विना नहीं हो सकती, अतः वहाँ इन्द्रियाँ भी सिद्ध होती हैं, अतः वृक्षादि शरीर निर्विवादरूप में इन्द्रियों के आयतन भी है ।

यह जो "अचेतनेऽर्थबन्धनात्" (जै० सू० १।२।३१) इस सूत्र में

मन्त्रमुदाहृत्य ओषधीनामचेतनत्वमुक्तम्, तदभिमुखीभावाद्यभावप्रयुक्तम्, न तु चेतनानाधिष्ठातृत्वप्रयुक्तम्, तावन्मात्रस्यैव प्रकरणोपयोगात्। अत एवाहुराचार्याः—न चाचेतनस्याभिमुख्यं संभवति। न च पशुत्राणे प्रैषणप्रवृत्तिरुपपद्यते इति। चेतनाधिष्ठितत्वेऽपि ओषधीनामाभिमुख्याद्यभावः। वृक्षाद्यारोहणदर्शनेनैव चेतनाधिष्ठानत्वं कल्पनीयम्। भवतु वा वाचस्पतिमिश्रादिमतेन वृक्षादीनाम-

---

"ओषधे त्रायस्वैनम्"—इत्यादि मन्त्रों का उदाहरण प्रस्तुत कर शबरस्वामी ने उद्भिज्ज-वर्ग को अचेतन कह कर उनके शरीरवत्त्व की अघटितता ध्वनित की है—"न चासावचेतना शक्या: प्रतिपादयितुम्" (शा० भा० पृ० १४८)। वहाँ वृक्षादि शरीरावच्छिन्न चैतन्य के अपलाप में तात्पर्य नहीं, अपितु तमःप्रधान कलेवर में पूर्णतया चैतन्याभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती, अत एव उनमें अभिमुखीभाव का सामर्थ्य न होने के कारण उन्हें सम्बोधित करना सम्भव नहीं। वार्तिककार ने स्पष्ट कहा है कि "सम्बोधनं कार्यनियोगाभिमुखीकरणार्थम्, न चाचेतनस्याभिमुख्यं सम्भवति। न च पशुत्राणे प्रैषणप्रवृत्तिरुपपद्यते" (तं० वा० पृ० १४८)। वहाँ ओषधी (वृक्षादि) में चैतन्याधिष्ठितत्व का निषेध न तो किया जाता है और न प्रकरणोपयोगी है, केवल आभिमुख्याभाव का प्रदर्शन किया गया है। वृक्षादि के प्ररोहण-अभिवर्धनादि को देख कर चेतनाधिष्ठितत्व की कल्पना स्वाभाविक है। [तार्किकों के द्वारा प्रतिपादित शरीर का चेष्टावत्त्व और इन्द्रियवत्त्व लक्षण वृक्षादि में स्फुट न होने के कारण ही अशरीरत्व का व्यवहार किया गया है, जैसा कि श्री शङ्करमिश्र कहते हैं—"यद्यपि वृक्षादयोऽपि शरीरभेदा एव, भोगाधिष्ठानत्वात्।...वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणे च भोगोपपादके स्फुटे एव, आगमोऽप्यस्ति—"नर्मदातीरसम्भूताः सरलार्जुनपादपाः। नर्मदातोयसंस्पर्शात् ते यान्ति परां गतिम्॥" "श्मसाने जायते वृक्षः कङ्कगृध्रादिसेवितः"—इत्यादिश्च। तथापि चेष्टावत्त्वमिन्द्रियवत्त्वञ्च नोद्भिदां स्फुटतरमतो न शरीरव्यवहारः" (उपस्कार० पृ० १२६)]।

चेतनत्वम्, तथापि नास्मन्मते किंचन हीयते। 'स्मृतिपुराणवचनानाम् अकार्यत्वादप्रमाण्यम्'—इत्येवास्माभिः प्रयत्नेन निराकार्यम्। अतः चतुर्विधं त्रिविधं वा शरीरम्।

स्वाभाविकद्रवत्वाधिकरणं सलिलम्। तत्तु सरस्सरित्सरस्वत्करकादिरूपं रसनेन्द्रियरूपं च।

उष्णस्पर्शगुणं तेजः। तत् पुनरर्कचन्द्राग्निनक्षत्रसुवर्णादिरूपं नयनेन्द्रियरूपं च। तस्य पुनरुद्भूतानुद्भूताभिभूतभेदेन त्रिविधौ रूपस्पर्शौ। तत्रोद्भूतरूपस्पर्शं तेजस्तप्तायसपिण्डादिगतम्। अनुद्भूतरूपस्पर्शं तेजो नयनेन्द्रियम्। अभिभूतरूपस्पर्शं तेजः सुवर्णम्। अभिभवस्तु बलवद्भिः पार्थिवरूपादिभिरिति

अथवा वाचस्पति आदि के अनुसार वृक्षादि में अचेतनता मान लेने पर भी हमारी कोई क्षति नहीं, प्रभाकर का जो कहना है कि 'स्मृति-पुराणादि के वचन कार्यार्थक न होने के कारण प्रमाण नहीं'—इसका निराकरण ही हमारा विशेष उद्देश्य है, फलतः तीन या चार प्रकार का शरीर सिद्ध हो गया।

(२) **जल**—स्वाभाविक द्रवत्व (तरलता) के आधार को जल कहा जाता है। वह सर (तालाब), सरित् (नदी), सागर और करक (ओला) इत्यादि भेद से अनेक विध है, वह रसना इन्द्रियरूप भी है।

(३) **तेज**—उष्णस्पर्शवाले द्रव्य को तेज कहा जाता है, वह सूर्य, चन्द्र, अग्नि, नक्षत्र और सुवर्णादि स्वरूप एवं चक्षुरिन्द्रियरूप है। तेज के रूप और स्पर्श—दोनों गुणों में प्रत्येक त्रिविध होता है—(१) उद्भूत, (२) अनुद्भूत और (३) अभिभूत। उद्भूतरूप और उद्भूत स्पर्शवाला तेज पूर्णतया तपे हुए लोहपिण्डादि में पाया जाता है। अनुद्भूत रूप और अनुद्भूत स्पर्शवाला तेज नेत्रेन्द्रिय है। अभिभूतरूप और अभिभूत स्पर्शवाला तेज सुवर्ण है। सुवर्ण में तैजस रूप और स्पर्श का अभिभव सबल पार्थिव रूप और स्पर्श के द्वारा हो जाता है। रूप और स्पर्श में से एक-एक का अनुद्भव होने पर तेज के दो प्रकार

द्रष्टव्यम् । तयोरेव रूपस्पर्शयोरेकैकानुद्भवे सति द्विविधं तेजः । तत्रोद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं तेजः प्रदीपप्रभामण्डलम् । अनुद्भूतरूपमुद्भूतस्पर्शं तेजस्तप्तवारिगतम् । एवमभिभवेऽपि त्रैविध्यं द्रष्टव्यम् । तत्र सुवर्णे रूपस्पर्शयोरुभयोरभिभवः । उपलभ्यमानस्तु स्पर्शः तद्गतायाः पृथिव्याः एव । अत एवानुष्णाशीतस्पर्शोपलम्भः । एवं तेजोऽन्तरप्रकाश्यत्वदर्शनेन रूपाभिभवोऽपि साधनीयः । चन्द्रिकायां जलस्पर्शादुष्णस्पर्शाभिभवः । झटिति प्रक्षिप्तजले तप्तजले तप्तायसपिण्डादौ रूपाविभव इति ।

अरूपत्वे सति स्पर्शवान् वायुः । स च मन्दवातनिःश्वासवातादिरूपस्त्वगिन्द्रियरूपश्च ।

तत्रेन्द्रियभूतानां भूतानामर्थापत्तिगम्यत्वं प्रागेव समर्थितम् । अन्यानि तु प्रत्यक्षलक्ष्याणि । पृथिव्यप्तेजसां प्रत्यक्षत्वे न विवादः ।

वायुरनुष्णाशीतस्पर्शानुमेयः—इति तार्किकाः । तथाहि—योऽयं वायौ

हो जाते हैं। उद्भूत रूप एवं अनुद्भूत स्पर्शवाला तेज है—प्रदीप प्रभामण्डल । अनुद्भूतरूप और उद्भूत स्पर्शवाला तेज गरम जल में रहता है । इसी प्रकार अभिभव होने पर भी तीन भेद हो जाते हैं—सुवर्ण में रूप और स्पर्श—दोनों का अभिभव होता है, उपलभ्यमान स्पर्श तो सुवर्णगत पार्थिव अंश का ही होता है, अत एव अनुष्णाशीत स्पर्श उपलब्ध ह ता है, इसी प्रकार सुवर्ण का अपने आप प्रकाश न होकर प्रकाशान्तर से ही प्रकाश होता है, अतः उसके रूप का अभिभव भी सिद्ध हो जाता है । चन्द्र की प्रभा में जल के स्पर्श से तेज का उष्ण स्पर्श अभिभूत हो जाता है ।

(४) वायु—नीरूप और सस्पर्श द्रव्य वायु है। वह मन्दादिगतिक और निःश्वासादि स्वरूप है, वही त्वगिन्द्रियरूप भी है ।

इन्द्रियरूप भूत तत्त्व अर्थापत्ति-गम्य है—यह पहले ही समर्थित हो चुका है । अन्य भूत-वर्ग तो प्रत्यक्ष का विषय ही होता है । पृथिवी, जल और तेज की प्रत्यक्षता में कोई विवाद नहीं ।

वात्यनुष्णाशीतस्पर्शोऽनुभूयते, स तु व्योमादीनामस्पर्शवत्त्वान्न तद्गुणः। नापि जलतेजसोः, तयोः शीतोष्णस्पर्शत्वात्। नापि पृथिव्याः, तस्या नयनेन्द्रियग्राह्यत्वेनानुपलम्भनिरस्तत्वात्। अतः पारिशेष्याद्वायुसिद्धिरिति।

तदिदमज्ञानविजृम्भितम्, शीतादिषु स्पर्शविशेषेषूपलभ्यमानेषु शीतो वायुरुष्णो वायुरनुष्णाशीतो वायुरिति वायुद्रव्यस्यैकस्य प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् कृष्णो घटः, पीतो घटः, श्वेतो घट इतिवत् सकलस्पर्शानुगतमेकमेव वायुद्रव्यं प्रत्यभिजानतां भवतां स्पर्शमात्रमेव वयं प्रत्यभिजानीमो, नान्यत् किञ्चिदिति

वैशेषिक मत—वैशेषिकों का कहना है कि अनुभूयमान अनुष्णाशीत स्पर्श के द्वारा वायु का अनुमान किया जाता है, जैसा कि महर्षि कणाद का सूत्र है—"न दृष्टानां स्पर्श इत्यदृष्टलिङ्गो वायुः" (वै० सू० २।१।१०) अर्थात् यह जो वायु के चलने पर अनुष्णाशीत (उष्णता और शीतता से रहित) स्पर्श त्वगिन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है, वह आकाशादि का नहीं हो सकता, क्योंकि वे स्पर्श गुण से रहित होते हैं एवं वह स्पर्श जल और तेज का भी नहीं हो सकता, क्योंकि जल में शीत और तेज में उष्ण स्पर्श होता है किन्तु वह स्पर्श न शीत होता है और न उष्ण, अनुष्णाशीत है। पृथिवी को भी उस स्पर्श गुण का आधार नहीं माना जा सकता, क्योंकि पृथिवी नेत्र-ग्राह्य है, किन्तु वायु के चलने पर आकाश में जो स्पर्श अनुभूत होता है, उसका आधार दिखता नहीं। परिशेषतः उस स्पर्श का आश्रय वायु सिद्ध हो जाती है।

वैशेषिक मत-निरास वैशेषिकों का उक्त मत, उनकी अनभिज्ञता का परिचायक है, क्योंकि जैसे प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष के आधार पर आप एक आत्मा की सिद्धि करते हैं, वैसे ही शीतादि स्पर्शों का ग्रहण हो जाने पर 'शीतो वायुः', 'उष्णो वायुः', 'अनुष्णाशीतो वायुः'—इस प्रकार सर्वत्र एक वायु द्रव्य की प्रत्यभिज्ञा होती है। 'कृष्णो घटः', 'पीतो घटः', 'श्वेतो घटः'—इत्यादि के समान ही उक्त सभी अनुभवों में अनुगत एक वायु द्रव्य की सर्वजनीन प्रत्यभिज्ञा होने पर आप (वैशेषिक) जो कहते

वचनमनुभवविरुद्धमेव । प्रयोगश्च भवति—वायुः प्रत्यक्षः, महत्त्ववत्त्वेऽनिन्द्रियत्वे च सति स्पर्शवत्त्वाद्, भूतत्वाद्वा घटवदिति । यत् पुनः वायुरप्रत्यक्षः, अनात्मत्वे सति नीरूपद्रव्यत्वान्मनोवद्—इत्युक्तम्, तदरूपिद्रव्याणामपि दिक्कालादीनामस्मन्मते प्रत्यक्षत्वात् तेष्वनैकान्तिकम् ।

नापि पारिशेष्याद्वायुसिद्धिः, असिद्धद्रव्यकल्पनातः सिद्धस्यैव द्रव्यस्य गुणान्तरकल्पनाया लघीयस्तरत्वात् । कल्पनालाघवस्यैव हि गुणवत्तरत्वमाहुराचार्याः—

हैं कि 'हमें स्पर्शमात्र की ही प्रत्यभिज्ञा होती है, उससे भिन्न किसी द्रव्य की नहीं ।' वह सर्वथा अनुभव-विरुद्ध है। श्री चिदानन्द भी ऐसा ही अनुभव दिखाते हैं—"न च तत्र स्पर्शमात्रं प्रत्यभिज्ञाविषयः, परस्परविलक्षणतया स्पर्शानुसन्धानसमय एव वायुद्रव्यस्य प्रत्यक्षत्वात्" (नीति० पृ० ६७)। वायु की प्रत्यक्षता में श्री चिदानन्द पण्डित ने ही (नीति० पृ० ६६ पर) अनुमान-प्रयोग किया है—'वायुः प्रत्यक्षः महत्त्वानिन्द्रियत्वे सति स्पर्शवत्त्वाद्, भूतत्वाद् वा घटवत् ।' [यहाँ पार्थिवादि परमाणुओं और त्वगादीन्द्रिय में व्यभिचार हटाने के लिए क्रमशः महत्त्ववत्त्व और अनिन्द्रियत्व विशेषण रखे गये हैं]। यह जो वायु की अप्रत्यक्षता सिद्ध करने के लिए अनुमान किया जाता है—'वायुः अप्रत्यक्षः, अनात्मत्वे सति नीरूपद्रव्यत्वाद्, मनोवत् ।' वह दिक् और कालादि में अनैकान्तिक है, क्योंकि दिक्कालादि अरूपी द्रव्य हमारे (भाट्ट) मत में प्रत्यक्ष ही माने जाते हैं। [चिदानन्दपण्डित भी कहते हैं—'यत्पुनरप्रत्यक्षो वायुः, आत्मव्यतिरिक्तत्वे सति नीरूपद्रव्यत्वान्मनोवदित्यादि, तद् दिक्कालादीनां प्रत्यक्षत्वसमर्थनेनानैकान्तिकीकरणीयम्" (नीति० पृ० ६७)] ।

वैशेषिकगण परिशेषतः जो वायु की सिद्धि किया करते हैं, वह भी उचित नहीं, क्योंकि अप्रसिद्ध द्रव्य की कल्पना से प्रसिद्ध द्रव्य में ही गुणान्तर की कल्पना लघुतर मानी जाती है, कल्पना-लाघव को विशेष

कल्पनालघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे ।
कल्पनागौरवं यत्र तं पक्षं न सहामहे ॥

अतस्त्वगिन्द्रियग्राह्यो वायुः ।

अस्पर्शत्वे सति रूपवत्तमः । तच्च नेत्रेन्द्रियमात्रग्राह्यमालोकाभावप्रकाश्यं कृष्णरूपम् ।

कलायकोमलच्छायं दर्शनीयं भृशं दृशाम् ।
तमः कृष्णं विजानीयादागमप्रतिपादितम् ॥ ८ ॥

तत् पुनरन्धतमसादिरूपम् ।

आलोकाभावस्तम इति तार्किकाः । तदयुक्तम्,

गुणकर्मादिसद्भावादस्तीति प्रतिभासतः ।
प्रतियोग्यस्मृतेश्चैव भावरूपं ध्रुवं तमः ॥ ९ ॥

महत्त्व दिया गया है—

कल्पनालाघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे ।
कल्पनागौरवं यत्र तं पक्षं न सहामहे ॥

अतः त्वगिन्द्रिय के द्वारा वायु का प्रत्यक्ष होता है—यह सिद्ध हो गया ।

(५) **तम**—स्पर्श-रहित रूपी द्रव्य को तमः या अन्धकारादि शब्दों से अभिहित किया जाता है । वह केवल नेत्र इन्द्रिय से गृहीत होता है, आलोकाभाव के द्वारा कृष्ण रूप की अभिव्यक्ति होती है । कलाय (मटर के फूल की नीलिमा से समन्वित नितान्त कमनीय और नेत्रों को लुभाने वाले कृष्ण द्रव्य का आगमों ने 'तमः' नाम रखा है । अन्धतमसादिरूप भी वही है ॥ ८ ॥

तार्किकगण जो तम को आलोकाभाव रूप कहते हैं, वह संगत नहीं, क्योंकि अन्धकार में रूपादि गुण, चलनादि कर्म पाया जाता है, 'अस्ति'—इस प्रकार भावरूप में उसका प्रतिभास (भान) होता है, उसके ग्रहण में किसी प्रतियोगी वस्तु से स्मरण की अपेक्षा नहीं होती, अतः वह निश्चित रूप से भाव वस्तु है । [अभाव में न कोई गुण होता है और

नीलादिरूपयुक्तस्य स्पर्शत्वं च दृश्यते।
स्पर्शाभावान्न रूपि स्यात् तम इत्यप्यपेशलम् ॥ १० ॥
स्पर्शयुक्तस्य सर्वत्र रूपवत्त्वं च दृश्यते।
रूपाभावेन वायोरप्यस्पर्शत्वप्रसङ्गतः ॥ ११ ॥

स्पष्टदृष्टरूपस्पर्शत्वं चोभयत्रापि तुल्यमेव।

आलोकादर्शने सति ग्राहकभूतात्मस्वरूपोपलम्भात् सामान्यतो नीलद्रव्यस्मरणे सति स्मृतित्वमगृह्णतस्तयोर्भेदाग्रहनिबन्धस्तमोनैल्यव्यवहारः इति गुरुमतम्। तदपि हास्यम्, आत्मग्रहणस्य नैल्यस्मृत्या भेदाग्रहे सति इदं

न कर्म, अस्तित्वेन प्रतीयमान न होकर 'नास्ति'—इस रूप में ही अभाव ज्ञान में नियमतः अपेक्षित होता है, किन्तु तम का स्वभाव ठीक उसके विपरीत है, अतः उसे भावरूप ही मानना होगा] ॥ ९ ॥ यह जो कहा जाता है कि नीलादि रूपों से युक्त द्रव्य में नियमतः स्पर्श देखा जाता है, अतः स्पर्श रूपादि का व्यापक है, अन्धकार में स्पर्शरूप व्यापक गुण के अभाव से नीलादिरूप व्याप्य पदार्थ की भी निवृत्ति माननी होगी। वह कहना संगत नहीं, क्योंकि सभी स्पर्शवान् पदार्थों में रूपवत्त्व नहीं देखा जाता, अन्यथा वायु में भी रूपाभाव के कारण स्पर्श का भी अभाव मानना पड़ेगा ॥ १०–११ ॥ वायु में भी यदि स्पर्शवत्ता की स्पष्ट प्रतीति होती है, तब अन्धकार में भी स्पष्ट रूपवत्ता का भान होता है, फलतः न वायुगत स्पर्श का अपलाप किया जा सकता है और न अन्धकारगत रूप का।

प्रभाकर गुरु का जो कहना है कि आलोक का दर्शन न होने पर विषय-रहित केवल आत्मा का ही ज्ञान में भान होता है, सामान्यतः नील द्रव्य का स्मरण हो आता है। स्मरणगत स्मरणत्व धर्म का प्रमोष हो जाता है। दोनों ज्ञानों का भेद-ग्रह न होने के कारण 'तमो नीलम्'—ऐसा व्यवहार मात्र होने लग जाता है, वस्तुतः न तो कोई आन्धकार तत्त्व होता है और न उसमें नीलिमा।

गुरुवर का वह कहना अत्यन्त उपहासास्पद है, क्योंकि आत्मविषयक

नीलम्—इति व्यवहारमपहाय अहं नील इति व्यवहारस्वीकारप्रसङ्गात्। देशान्तरे कालान्तरे चाप्यबाधितस्य प्रत्ययस्य भ्रान्तिमूलत्वकल्पनानुपपत्तेश्च।

न च तमसश्चाक्षुषत्वे पिहितलोचनस्य पटलपिहितलोचनस्यात्यन्तान्धस्य च कथं नीलं तम इति प्रतीतिः ? तत्र पटलपिहितलोचनस्य पिहितलोचनस्य च तत्तदावरणच्छायाग्रहणात् तमोव्यवहारः। महत्त्वभ्रमस्तु सामीप्यदोषात्। पक्ष्मादीनाम् अग्रहणं तु निमीलनदशायामालोकाभावात्। उन्मीलनदशायामा-

---

प्रत्यक्ष और नैल्यविषयक स्मरण—इन दोनों ज्ञानों का यदि स्वरूपतः और विषयतः भेद गृहीत नहीं होता, तब 'इदं नीलम्'—ऐसा व्यवहार न होकर 'अहं नीलः'—इस प्रकार का व्यवहार प्रसक्त होता है। [श्री चिदानन्द पण्डित ने भी गुरु-मत का स्पष्टीकरण करते हुए यही आपत्ति की है—"न च नीलं तमः इति बुद्धिर्भ्रमः, निरधिष्ठानभ्रमानुपपत्तेः। न च वेत्तृतया प्रकाशमानमात्मस्वरूपमन्यद्वा किञ्चिदधिष्ठानम्, आत्मोपलम्भस्य नैल्यस्मृत्या भेदाग्रहेऽह नीलमिति व्यवहारप्रसङ्गात्" (नीति० पृ० ८६)। फलतः 'नीलं तमश्चलति'—यह प्रमात्मक बोध है, क्योंकि किसी भी देश या काल में अबाधित प्रतीति को भ्रम नहीं माना जाता।

शङ्का—अन्धकार का ग्रहण यदि चक्षु के द्वारा माना जाता है, तब चक्षु का उन्मीलन होने (खुलने) पर ही घटादि के समान अन्धकार का प्रत्यक्ष होना चाहिए, चक्षु के बन्द होने पर नहीं, किन्तु आँखें बन्द करने पर जो अन्दर अँधेरा दिखता है, नेत्र-हीन जन्मान्ध को भी जो 'नीलं तमः'—ऐसा भान होता है, वह कैसे होगा ?

समाधान सनेत्र व्यक्ति जो आँखे बन्द करके अन्दर बन्द पलकों की छाया देखता है, उसमें ही तमोव्यवहार हो जाता है। अत्यन्त समीप से दिखने के कारण उस छाया में महत्त्व-व्यवहार भी हो जाता है—महदेतत्तमः'। बन्द नेत्र अपनी जिन पलकों की छाया को देखता है, उन पलकों को क्यों नहीं देखता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि छाया या अन्धकार से अतिरिक्त पदार्थों के ग्रहण में चक्षु को आलोक की सहायता अपेक्षित

र्जवस्थित्यभावादिति द्रष्टव्यम् ।

अत्यन्तान्धानां पुनर्नीलबुद्धिरेवासिद्धा । तमसीव प्रविष्टोऽहम्—इत्यादिवाक्यं पुनः अमृतमिव पाथः पीतम्—इत्यादिवाक्यवद् वाक्यान्तरश्रवणजनितसंस्कारवशादिति द्रष्टव्यम् । तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित इति श्रुतिरपि तमसो नीलरूपतामनुवदति । तस्माद् द्रव्यान्तरं तमः नीलात्मकत्वात् । नीलोत्पल-

---

होती है, किन्तु पक्ष्मपटलों के बन्द होने पर आलोक की सहायता नहीं मिल पाती, अतः नत्र पक्ष्म-पटल का ग्रहण नहीं करता और नेत्र खुलन पर पक्ष्म-पटल दृष्टि की सीध में नहीं रहते, अतः उनका प्रत्यक्ष नहीं होता ।

जन्मान्ध व्यक्तियों को अन्धकार या छाया का ग्रहण नहीं होता । वे लोग जो 'तमसीव प्रविष्टोऽहम्'—ऐसा व्यवहार करते हैं, वह तो दूसरे व्यक्ति के मुख से सुन-सुना कर वैसे ही कर देते है, जैसे कि लोग कह दिया करते हैं कि 'अमृतमिव पीतं तत् तोयम्' । आज तक स्वर्गस्थ अमृत का पान किसी ने नहीं किया, किन्तु प्रवाद-परम्परा के आधार पर प्रवृत्त इन व्यवहारों के समानही अन्धों का उक्त व्यवहार भी है [श्री चिदानन्द पण्डित भी यह सब कुछ पहले ही कह चुके हैं—"चक्षुष आलोकापेक्षत्वमालोकतमसोरन्यत्रैव । एवं च पटलपिहितलोचनस्य तत्तदावरणद्रव्यच्छायां चक्षुर्गृह्णातीति न नीलबुद्धेरनवक्लृप्तिः । तस्य चात्यन्तासन्नस्य ग्रहणान्महत्त्वभ्रमोऽप्युपपन्नः । चक्षुषः प्रसरद्रश्मित्वेन ग्राहकत्वमिति नियमस्तु गोलकबहिःष्ठवस्तुग्रहे एवेति । पक्ष्मणोरग्रहणन्तु पिधानवेलायामालोकाभावादन्यदाऽऽर्जवस्थित्यभावात् । अन्धानां पुनर्नीलबुद्धिरेवासिद्धा । 'तमसीव प्रविष्टोऽहम्'—इत्यादिवाक्यमदृष्टानामपि यथा वाक्यान्तरश्रवणपूर्वकम् 'अमृतमिव पाथः पीतम्'—इत्यादि, तथेति मन्तव्यम्" (नीति० पृ० ८९–९०)] ।

"तमः कृष्णं व्यक्तमस्थित" (ऋ० १०।१२७।७) यह श्रुति भी लोक-प्रसिद्ध नील अन्धकार का अनुवाद कर रही है । अतः अन्धकार के

नैल्यवत् पृथिवीगुणस्तम इति कौमारिलेष्वेव केचिन्मानरत्नावलीकारादयः प्राहुः, तदप्यनुमन्यामहे। अतस्तमो द्रव्यं गुणो वा। गुणपक्षे दश द्रव्याणि।

एतानि पञ्चावयविद्रव्याणि। अवयवाश्च परमाणवः। अत्रावयव्यतिरिक्तावयविसद्भावं प्रतिषेधयन्तो बोद्धास्तु महानेको घटः इत्याद्यबाधितप्रत्यक्षप्रमाणबलेन परिहर्तव्याः।

विषय में यह अनुमान पर्यवसित होता है—'तमः द्रव्यान्तरम्, नीलात्मकत्वाद्'। 'नीलोत्पलगत नीलिम गुण के समान अन्धकार भी पृथिवी का गुण है'—ऐसा भी जो मानरत्नवलीकारादि कतिपय भट्टमतानुयायी आचार्यों ने कहा है, वह भी हमें मान्य है। अतः अन्धकार द्रव्य है अथवा गुण [चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं—"यद्वा पृथिव्या एव तत्र-तत्र सूक्ष्मरूपेणावस्थिताया विशिष्टालोकावगमोद्भूतकृष्णरूप तमः। तदयं तात्पर्यार्थः—तमो द्रव्यगुणयोरेकां विधामनुभवति, न पुनर्विधान्तरम्" (नीति० पृ० ९०)]। अन्धकार को गुणरूप मानने पर भाट्टाभिमत द्रव्यों की संख्या दस ही रह जाती है, ग्यारह नहीं।

पृथिवी, जल, तेज, वायु और अन्धकार—ये पाँच अवयवी द्रव्य हैं, इनके अवयव होते हैं—परमाणु। बौद्धगण जो अवयव से भिन्न अवयवी द्रव्य का निषेध करते हैं, जैसा कि प्रमाणवार्तिक की व्याख्या में श्री प्रज्ञाकर कहते हैं—नान्योऽवयव्यवयवेभ्यः, तुलानतिविशेषाग्रहणात्" (प्र० वा० पृ० ५५३)। वह बौद्धों का कहना असंगत है, क्योंकि 'महान् एको घटः'—इत्यादि अबाधित प्रत्यक्ष प्रमाणों के बल पर अवयवों से भिन्न घटादि अवयवी सिद्ध होता है। [चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं—"अवयवी द्रव्यस्य माहानेको घट इति प्रत्यक्षेण प्रतिभासनात्" (नीति० पृ० ८३)। बौद्धों के प्रायः सभी आक्षेपों का परिहार करते हुए जयन्तभट्ट ने (न्या० मं० पृ० ५४९ पर) कहा है—

दृढेन चेत् प्रमाणेन बाधारहितात्मना।
गृहीत एवावयवी किमेभिर्बालवल्गितैः॥]।

अत्र तार्किकाः पुनरस्मदादीनामनुमानैकगम्यान् योगिनां प्रत्यक्षोपलक्ष्यांश्च कांश्चन पदार्थविशेषान् परमाणूनाद्रियन्ते। तैरिदमखिलमवयविद्रव्यं कुलाल इव घटं परमेश्वरः सृष्टिकाले द्वयणुकादिक्रमेण विरचयति, कविरिव काव्यमखिलमपि वेदराशिमारचयति संहारकाले च बालक इव घटं चतुर्विधमवयविद्रव्यं परमाणुपर्यन्तं विनाशयतीति प्रतिपन्नाः।

जालरन्ध्रविलसद्द्रवितेजो-
जालभासुरपदार्थविशेषान्।
अल्पकानिह पुनः परमाणून्
कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः॥ १२॥

तार्किक-मत—वैशेषिकगण हम लोगों के अनुमेय और योगियों के प्रत्यक्षभूत पृथिव्यादि के नितान्त सूक्ष्म निरवयव कणों को परमाणु कहा करते हैं। सृष्टि के आरम्भ में उन्हीं परमाणुओं से परमेश्वर द्वयणुकादि महाब्रह्माण्ड-पर्यन्त विश्व की वैसे ही रचना करता है, जैसे कुलाल घटादि की। जैसे कोई कवि अपने काव्य की रचना करता है, वैसे ही ईश्वर सकल वेदों का निर्माण करता है और प्रलय काल में पृथिवी, जल, तेज और वायु—इन चार प्रकार के अवयवी द्रव्यों का वैसे ही परमाणु-पर्यन्त विनाश कर डालता है, जैसे बालक कच्चे घड़े को चूर-चूर कर देता है। [आचार्य प्रशस्तपाद कहते हैं—"सकलभुवनपतेर्महेश्वरस्य संजिहीर्षासमकालं पृथिव्युदकज्वलनपवनानामापरमाण्वन्तो विनाशः, ततः प्रविभक्ताः परमाणवोऽवतिष्ठन्ते। पुनः प्राणिनां भोगभूतये महेश्वरसिसृक्षानन्तरं पवनपरमाणुषु कर्मोत्पत्तौ तेषां परस्परसंयोगेभ्यो द्वयणुकादिप्रक्रमेण महान् वायुः समुत्पन्नो नभसि दोधूयमानस्तिष्ठति" (प्र० भा० पृ० २२)।

भाट्ट-मत—वातायन के झरोखे से अन्दर आ रही सूर्य-किरणों की प्रकाश-रेखा में उड़ते हुए जो नन्हें-नन्हें कण खुली आँखों से देखे जाते हैं, उन्हें ही भाट्टगण परमाणु मानते हैं। उनसे भिन्न सूक्ष्मतम अदृश्य

तदतिरिक्तप्रमाणाभावादनुपयोगाच्च तदतिरिक्तकल्पनस्य ।

नन्वस्त्येव तदतिरिक्ते प्रमाणम् । वातायनातपगतः पदार्थोऽवयवी मध्यममहत्त्वाद्, घटवद्—इत्यनुमानेन तस्य स्वन्यूनपरिमाणारम्भकसिद्धिः । न च महत्त्वमसिद्धम्, दृश्यद्रव्यत्वहेतुना घटादिवन्महत्त्वसमर्थनादित्यस्ति तदतिरिक्तप्रमाणसिद्धिरिति ।

मैवम्, आपेक्षिके हि पदार्थानां महत्त्वाल्पत्वे । यद्येतस्मादपि न्यूनपरिमाणः कश्चित् प्रत्यक्षेणोपलभ्येत, तर्हि महानेवायम् । स च नोपलभ्यते । अनुमानं पुनर्योग्यानुपलम्भबाधितविषयत्वादप्रमाणम् । एवमपि दृश्यस्य घटादिवन्महत्त्वं साधयतां तार्किकाणामवयव्यारम्भकस्य मृत्पिण्डादेरवयवित्वमहत्त्व-

---

परमाणुओं की कल्पना में न कोई प्रमाण है और न कोई लाभ ।

शङ्का—कथित सूर्य-रश्मियों में जो कण नेत्रों के द्वारा देखे जाते हैं, वे त्रसरेणु हैं, उनके आरम्भक सूक्ष्मतम कणों को परमाणु कहते हैं। 'वातायनगतः पदार्थोऽवयवी, मध्यममहत्त्वाद्, घटवत्'—इस अनुमान के द्वारा त्रसरेणुवों के आरम्भक सूक्ष्मतम अवयवों (परमाणुओं) की सिद्धि होती है। त्रसरेणुओं में महत्त्व असिद्ध है--ऐसी आशङ्का नहीं कर सकते, क्योंकि 'त्रसरेणवः महान्तः, दृश्यद्रव्यत्वाद्, घटादिवत्'—इस अनुमान के द्वारा उनमें महत्त्व सिद्ध हो जाता है ।

समाधान--पदार्थों में महत्त्व और अल्पत्व आपेक्षिक होते हैं, यदि त्रसरेणु की अपेक्षा कोई न्यून कण प्रत्यक्ष-सिद्ध होते, तब त्रसरेणुओं में अवश्य महत्त्व माना जा सकता था, किन्तु वैसे कोई कण उपलब्ध नहीं होते, अतः कथित अनुमान योग्यानुपलब्धि से बाधित होने के कारण अप्रमाण है । यदि अवयवित्व और महत्त्व हेतुओं के द्वारा त्रसरेणु के अवयव सिद्ध किए जाते हैं, तब उन अवयवों की अवयव-परम्परा भी उन्हीं हेतुओं से सिद्ध होगी, क्योंकि घटादि अवयवी द्रव्य के आरम्भक कपालों और उनकी आरम्भक कपालिकाओं में अवयवित्व और महत्त्व—दोनों देखे जाते हैं, अतः 'त्रसरेण्वारम्भकाः सावयवाः, महदारम्भकत्वात्

योर्दर्शनेन तदारम्भकाणामप्येवमणुतरतमभावस्य न क्वचिदपि विश्रमः। तथाच सति मशकमत्तमातङ्गयोरप्यनन्तावयवारब्धत्वाविशेषेण तुल्यपरिमाणत्वादिबहुविधदृष्टविरोधः प्रसज्येत। तस्माल्लोकसिद्धानेव वयं परमाणूनाद्रियामहे।

नापि योगिप्रत्यक्षात् तत्सिद्धिः, योगिनामपि प्रत्यक्षमिन्द्रियसन्निकर्षजम्' प्रत्यक्षत्वाद्, अस्मदादिप्रत्यक्षवत्। योगीन्द्रियमतीन्द्रियविषयकं न भवति, इन्द्रियत्वाद्, अस्मादादीन्द्रियवद्—इति योगिप्रत्यक्षस्याप्यस्मादिप्रत्यक्षानतिरेकसिद्धेस्तदतिरिक्तपरमाणुसिद्धावपि नास्मन्मते किञ्चन हीयते इत्यास्तामेतत्।

कपालवत्।' 'त्रसेण्वारम्भकारम्भकाः सावयवाः, महदारम्भकारम्भकत्वात्, कपालिकावत्'—इन अनुमानों के द्वारा अविश्रान्त अवयव-परम्परा के सिद्ध हो जाने पर मच्छर और हाथी का अनन्तावयवारब्धत्वरूप समान परिमाण सिद्ध हो जायगा, जो कि सर्वथा दृष्ट-विरुद्ध है, अतः हम (भाट्टगण) लोक-प्रसिद्ध परमाणुओं का ही आदर करते हैं। [श्री चिदानन्द पण्डित कहते हैं—"तेषां महत्त्वात् तदतिरिक्तपरमाणुकल्पनमिति चेन्न, तेषां महत्त्वासिद्धेः। अन्यथा तदवयवानामपि तथैव महत्त्वसिद्धेरणुपरिमाणतरतमभावस्य न क्वचिदपि विश्रमः" (नीति० पृ० ८७)]।

योगी के योगज धर्म से जन्य प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा भी अतीन्द्रिय परमाणुओं की सिद्धि नहीं हो सकती, 'योगिप्रत्यक्षम् इन्द्रियसन्निकर्षजन्यम्, प्रत्यक्षत्वाद्, अस्मदादिप्रत्यक्षवत्'। योगीन्द्रियम् अतीन्द्रियविषयकं न भवति, इन्द्रियत्वाद्, अस्मदादीन्द्रियववत्'—इत्यादि अनुमानों के द्वारा योगी के प्रत्यक्ष में अतीन्द्रिय पदार्थों के ग्रहण की क्षमता सिद्ध नहीं होती, वार्तिककार ने (श्लो० वा० पृ० ८० पर) स्पष्ट कहा है—

यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यात् न रूपे श्रोत्रवृत्तिता॥

यदि वैशेषिक-सम्मत अतीन्द्रिय परमाणुओं को मान भी लिया जाय, तब भी हमारी कोई क्षति नहीं [श्री चिदानन्दपण्डित कहते हैं—

नापीश्वरारब्धं जगत् वेदव्यतिरेकेणेश्वरसद्भावे प्रमाणाभावात्। अस्तु वेदादेव तत्सिद्धिरिति चेन्न, वेदानामपीश्वरकर्तृकत्वं साधयतां तार्किकाणां वेदप्रामाण्यादीश्वरसिद्धिः ईश्वरप्रामाण्याच्च वेदसिद्धिः इतीतरेतराश्रयचक्रकयोः प्रसङ्गात्।

ननु क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, घटवद्—इत्यनुमानं तत्र प्रमाणमिति चेन्न, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—ईश्वरः शरीरी वा ? न वा ? नाद्यः, उपलम्भयोग्यत्वे सति कैश्चिदप्यनुपलम्भाद् भवद्भिरप्यनभ्युपगमाच्च। नाप्यशरीरी, अशरीरिणः करचरणाद्यवयवाभावेन जगन्निर्माणाशक्तेः। अपिच—

शरीरेण विना यन्न कर्ता कुत्रापि दृश्यते।
विशेषणविरुद्धं तत् कर्तृत्वमशरीरिणः॥ १३॥

"यद्वा प्रमाणबलमाश्रित्य परमाणूनामतीन्द्रियत्वं द्व्यणुकादिक्रमेणारम्भकत्वमित्यादिसिद्धावपि नास्माकं किञ्चिदनिष्टम्" (नीति० पृ० ८७)]।

वैदेशिकों का जो कहना है कि जगत् ईश्वर की रचना है, वह उचित नहीं, क्योंकि वेद को छोड़कर ईश्वर के सद्भाव में अन्य कोई प्रमाण नहीं और वेद को प्रमाण, प्रमाण मानने में अन्योऽन्याश्रयादि दोष होते हैं, क्योंकि तार्किकगण वेदों में ईश्वरकर्तृकत्वेन ही प्रामाण्य मानते हैं—"तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्" (वै० सू० ५।१।३)। अतः वेद का प्रामाण्य सिद्ध होने पर ईश्वर का प्रामाण्य और ईश्वर का प्रामाण्य सिद्ध होने पर वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है।

'क्षित्यादिकं सकर्तृकम्, कार्यत्वाद्, घटवत्'—इस अनुमान से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि वहाँ यह जिज्ञासा होती है कि ईश्वर शरीरधारी है ? अथवा नहीं ? उसे शरीरी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि किसी व्यक्ति को भी उसके शरीर की उपलब्धि नहीं होती और तार्किकगण ईश्वर को शरीरी मानते भी नहीं। ईश्वर को अशरीरी मानने पर कर चरणादि के विना वह जगत् का निर्माण नहीं कर सकेगा। शरीर के विना कोई भी व्यक्ति किसी कार्य का निर्माण करते

यथा विशेषविरोधस्यानुमानदूषणत्वं तथानुमाननिर्णये वर्णितम् ।

किञ्च घटादयः शरीरिकर्तृकाः क्षित्यादयः पुनरीश्वरकर्तृका इति येन सन्निवेशविशेषेण भवद्भिरप्यवधार्यते घटादीनां तादृशसन्निवेशविशेषवत्त्वं सकर्तृकत्वे उपाधिरिति कार्यत्वमप्रयोजको हेतुः ।

किञ्च आत्मत्वं क्षित्यादिकर्तृव्यक्तिसमवेतं न भवति, जातित्वाद्, गोत्ववत् । एवमेव गोत्वदृष्टान्तेन सत्त्वपर्यन्तं समर्थनात् प्रतिहेतुविरुद्धं च कार्यत्वम् ।

नहीं देखा गया, अतः अशरीरी ईश्वर में कर्तृत्व-साधक अनुमान विशेष-विरुद्ध है, विशेष-विरोध भी अनुमान का दोष होता है—यह विगत पृ० ८० पर कहा जा चुका है ॥ १३ ॥ [श्री चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं—"अपि च विशेष-विरुद्धं कार्यत्वम्", (नीति० पृ० १८२) ।

दूसरी बात यह भी है कि घटादि कृत्रिम पदार्थ किसी शरीरी व्यक्ति के द्वारा बनाए गए हैं और क्षित्यादि प्राकृत पदार्थ अशरीरी ईश्वर के रचे हैं—ऐसा भेद-ज्ञान आप (तार्किकों) को कार्यगत जिस सन्निवेश-विशेष (बनाबट) को देखकर होता है, वह सन्निवेशविशेषवत्ता ही सकर्तृकत्व-साधक कार्यत्व हेतु में उपाधि होने के कारण अप्रयोजकता भी है । [अप्रयोजकता का स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए चिदानन्द पण्डित ने कहा है—"येन पर्वतादिभ्यो व्यावृत्तेन विशिष्टव्यवहारहेतुविशिष्टानुमान-लिङ्गहेतुत्वेन वादिप्रतिवादिभ्यामवश्यमिष्टेन सन्निवेशविशेषयोगित्व-लक्षणेन विशेषेण चैत्यादेः शरीरिकर्तृकत्वानुमानं तद्विशेषप्रयुक्तव्याप्त्युप-जीवि कार्यत्वं न सकर्तृकत्वे प्रयोजकम्" (नीति. पृ. १८४)] ।

उक्त कार्यत्व हेतु प्रतिहेतुविरुद्ध भी है, प्रतिप्रयोग इस प्रकार है—'आत्मत्वं क्षित्यादिकर्तृव्यक्तिसमवेतं न भवति, जातित्वाद्, गोत्ववत्' । इसी प्रकार द्रव्यत्व और सत्त्व को भी पक्ष बनाकर प्रयोग किया जा सकता है । [श्री चिदानन्द भी कहते हैं—"प्रतिहेतुविरुद्धं कार्यत्वम् । तथा हि—आत्मत्वं क्षित्यादिकर्तृव्यक्तिसमवेतं न भवति, जातित्वाद्, गोत्व-वत् । एवं द्रव्यत्वसत्त्वेऽपि पक्षीकृत्य वक्तव्यम्" (नीति० पृ. १६१) ।

इत्थं निरस्ते परमते स्वपक्षस्थापनार्थमनुमानमुच्यते—क्षित्यादयः कर्तृशून्याः, शरीरिजन्यत्वाभावाद्, आत्मवदिति ।

ननु क्षित्यादीनामकर्तृकत्वे कार्यत्वमेव हीयेत । उपादाननिमित्तासमवायिभेदेन त्रिविधं हि कारणम् । तत्र यत् कार्यमपि स्वात्मतयोपादत्ते तदुपादानकारणं यथा तन्तवः पटस्य । उपादानप्रत्यासन्नमनन्यथासिद्धमसमवायिकारणं यथा तस्यैव तन्तुसंयोगः । उक्तकारणद्वयानन्तर्भूतं कारणं निमित्तकारणं यथा तन्तुवायवेमादयः । तस्मात् क्षित्यादीनां तदभावे कथं कार्यत्वम् ?

उच्यते—नास्मन्मते कार्योत्पत्तौ त्रिविधकारणाकाङ्क्षा । जायते हि भूत-

---

इस प्रकार पर-मत का निरास हो जाने पर स्वकीय मत की स्थापना के लिए अनुमान-प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है—क्षित्यादयः कर्तृशून्याः, शरीरिजन्यत्वाभावाद्, आत्मवत् [नीति तत्त्वाविर्भाव पृ० १६० पर भी कहा है—"दूषिते परोक्तानुमाने स्वपक्षसिद्ध्यर्थमनुमानमुच्यते—क्षित्यादिकमकर्तृकम्, शरीर्यजन्यात्वाद्, गगनवत्"]।

शङ्का—क्षित्यादि का यदि कोई कर्त्ता नहीं माना जाता, तब क्षित्यादि में अनुभूयमान कार्यत्व कैसे उपपन्न होगा ? प्रत्येक कार्य के तीन कारण होते हैं—(१) उपादान (समवायिकारण), (२) निमित्त कारण और (३) असमवायिकारण । उनमें कार्य अपना स्वरूप-लाभ करने के लिये जिस पदार्थ का उपादान करता है, उसे उपादान कारण कहते हैं, जैसे तन्तु पट के उपादान कारण होते हैं । उपादान कारण में प्रत्यासन्न होकर जो कार्य का अनन्यथासिद्ध कारण हो, वह असमवायिकारण कहा जाता है, जैसे कि तन्तु-संयोग पट के असमवायिकारण होते हैं । उक्त द्विविध कारणों से भिन्न कारण को निमित्त कारण कहते हैं, जैसे कि तन्तुवाय (जुलाहा) और वेम (करघे की वह लकड़ी, जिस पर बुन-बुन कर कपड़ा लिपटता जाता है) इत्यादि । अतः क्षित्यादि के भी तीनों कारणों के सिद्ध होने पर ही उसमें कार्यत्व सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं ।

समाधान—हमारे (भाट्ट) मत में त्रिविध कारण की अपेक्षा नहीं

भविष्यतोर्विषययोः समवाय्यसमवायिनिरपेक्षेण निमित्तमात्रेण ज्ञानेनैव प्राकट्याभिधानं कार्यम्। अतः कारणमात्रेण विनैव कार्योत्पत्त्यनुपपत्तिरिति कारणमात्रमेव कल्प्यम्। कर्त्रादिकं तु यथादर्शनमेवाङ्गीक्रियते।

न च कर्त्रधिष्ठितत्वाभावे कथं कारणानां कार्यानुगुणतया परस्परोपसर्पणम्? न हि तन्तुवायमन्तरेण तन्तुतुरीप्रभृतयः पटोत्पत्तये परस्परमुपसर्पन्ति। यथा भवन्मते क्षित्यादिकर्तुः शरीरव्यापारेण विनैव कारणानां परस्परोपसर्पणं तथास्मन्मतेऽपीति ब्रूमः।

अपि च सिद्धेऽपीश्वरे कर्तरि कथं भवन्मते सकलकालदेशेषु तुल्यतया

मानी जाती, क्योंकि प्राकट्यरूप कार्य अपने अतीत और अनागत समवायी असमवायिकारण की अपेक्षा किए विना केवल निमित्तकारणीभूत ज्ञान से उत्पन्न होता देखा जाता है। फलतः कारणमात्र के विना कार्य की उत्पत्ति उपपन्न नहीं होती, अतः कारणमात्र की कल्पना की जा सकती है, कर्त्रादि की व्यवस्था तो यथादर्शन ही मानी जाती है।

शङ्का—कार्य का यदि कोई कर्त्ता नहीं माना जाता, तब दण्डादि अचेतन कारण किसी चेतन कर्त्ता से अधिष्ठित न होकर कार्योत्पत्ति की अनुकूल दिशा में स्वयं व्यापृत क्योंकर होंगे? क्योंकि तन्तुवाय (जुलाहे) के विना तन्तु, तुरी (करघे की वह लकड़ी, जिसमें बाने का सूत भरा जाता है) इत्यादि अचेतन उपकरण अपने-आप पट बनाने के लिए सक्रिय होते नहीं देखे जाते।

समाधान—जैसे आप (तार्किकों) के मतानुसार ईश्वरीय शरीरव्यापार के विना ही अचेतन उपकरण क्षित्यादि की रचना में लग जाते हैं, वैसे ही हमारे (भाट्ट) मत में भी तुरी वेमादि उपकरण-समूह पट बुनने में प्रवृत्त हो जायगा।

जगत् का कर्त्ता यदि कोई सर्वज्ञ सर्वहितैषी ईश्वर मान भी लिया जाता है, तब भी विभिन्न देशों में विखरे पटादि कार्य के उपकरण कदाचित और किसी ही देश में पटोत्पत्ति करने के लिए एकत्र क्यों

प्रवृत्तयोर्विद्वेषादिकारणरहितयोरीश्वरेच्छाप्रयत्नयोः कादाचित्ककार्योत्पत्तिविघटनहेतुतया तत्कारणानां परस्परोपसर्पणहेतुत्वम् ? तत्तद्भोगाधिकृततत्तच्चेतनगततत्तददृष्टपरिपाकवशादिति चेत्, तर्हि तेनैव कारणानां परस्परोपसर्पणादिसिद्धेः किमीश्वरपरिकल्पनव्यसनेनेति सिद्धस्तार्किकेश्वरनिरासः ।

वैदिकेश्वरः परमकारुणिकः पुनरस्माकमनुगुण एव । एवमकर्तृकत्वसाधनात् प्रपञ्चस्यात्यन्तिको विनाशोऽपि परिहृतो भवति ।

लोकस्यात्यन्तिको नाशो वैदिकानां न सम्मतः ।
महतां वेदमार्गाणां स्रोतोभङ्गप्रसङ्गतः ॥ १४ ॥

होते हैं, सदा सर्वत्र क्यों नहीं ? व्यापकीभूत ईश्वर द्वेष-रहित है, अतः उस की इच्छा और प्रयत्न सार्वकालिक और सार्वदैशिक ही हैं, कादचित्क और काचित्क नहीं । जीवों के अपने अदृष्टों को यदि नियामक माना जाता है, तब उन्हीं के आधार पर अचेतन उपकरणों की प्रवृत्ति भी निभ जाती है, पृथक् तार्किकों का ईश्वर मानना व्यर्थ है [चिदानन्द पण्डित का भी स्पष्ट कहना है—"अपि सिद्धेऽपि ईश्वरकर्त्तरि कथं भिन्नदेशकालानां कार्यानुगुणतया परस्परोपसर्पणम् ? ईश्वरेच्छाप्रयत्नाभ्यामिति चेत्, कथं ताभ्यामपि सकलदेशकालप्रवृत्ताभ्यां कदाचिदेव क्वचिदेवोपसर्पणनियमः ? कादाचित्कचेतनादृष्टपरिपाकादिति चेत्, तर्हि तत एवाङ्गीकरणीयात् कारणानां परस्परसन्निधानम्, कृतमीश्वरपरिकल्पनेन ?" (नीति० पृ० १६०)] ।

वैदिक ईश्वर तो परम कारुणिक और सर्वथा हमारे अनुकूल है । तर्क-गम्य कर्तृभूत ईश्वर के समान ही जगत् संहर्त्ता ईश्वर का भी निराकरण हो जाने के कारण जगत् का आत्यन्तिक विनाश भी प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि जगत् का अत्यन्त विनाश वैदिक आचार्यों को सम्मत नहीं, अन्यथा महनीय, वेद-मार्ग का ही विनाश हो जायगा ॥ १४ ॥

शङ्का—महाप्रलय मान लेने पर भी वैदिक मार्ग का विनाश प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि पुनः सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर वेदों का भी निर्माण

ईश्वरो ननु लोकादौ वेदानपि विधास्यति।
ततो न वेदमार्गाणां विच्छेदो दोषमावहेत् ॥ १५॥

प्रयोगश्च भवति—वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि, वाक्यत्वाद्, भारतादिवाक्यवदिति। अत्र वदामः—

सोपाधिकं विरुद्धं च विशेषप्रतिहेतुभिः।
वाक्यत्वं नैव वेदानां पौरुषेयत्वसाधकम् ॥ १६॥

प्रमाणवाक्यानां पुरुषस्वातन्त्र्ये तावदक्षादिप्रमाणान्तरोपलक्ष्यमूलत्वमुपाधिः।

न चैवं सत्यष्टकादिकर्तव्यत्वप्रतिपादकानां मन्वादिवाक्यानामप्यपौरुषेयत्वा-

---

कर देगा, अव्याहत वैदिक धारा अपने पूर्व रूप में प्रवाहित हो जायगी ॥ १५॥ वेदों में पुरुष-कृतित्व अनुमान-सिद्ध भी है—'वेदवाक्यानि पौरुषेयाणि, वाक्यत्वाद्, भारतादिवाक्यवत्।'

समाधान—'वाक्यत्व' हेतु वेदों में पौरुषेयत्व का साधक नहीं हो सकता, क्योंकि वह (१) सोपाधिक है, (२) प्रतिहेतु–विरुद्ध या प्रति हेतुओं से आहत (सत्प्रतिपक्षित) भी है॥ १६॥ (१) महाभारतादि लौकिक वाक्यावलि का प्रणयन करने से पहले महर्षि वेदव्यास ने उसकी प्रतिपाद्य विषय वस्तु को अपनी आखों से भली प्रकार देखा था, अतः प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरगृहीतार्थपूर्वकत्व ही महाभारत में वैयासिकत्वरूप पौरुषेयत्व का साधक होता है, केवल वाक्यत्व नहीं, फलतः प्रत्यक्षादि-प्रमाणान्तरगृहीतार्थपूर्वकत्व ही उक्त वाक्यत्व हेतु की उपाधि है, [क्योंकि महाभारतादि लौकिक वाक्यों में वह पौरुषेयत्वात्मक साध्य का व्यापक तथा वेद रूप पक्ष में साधन का अव्यापक है। वेदार्थ का साक्षात्कार करनेवाला पुरुष अनुपलब्धि-बाधित है, अतः वेदों में प्रत्यक्षादिप्रमाणान्तरगृहीतार्थपूर्वकत्व का अभाव मानना स्वाभाविक है]। सोपाधिक हेतु अपने साध्य का साधक नहीं होता।

शङ्का—प्रमाणान्तरगृहीतार्थपूर्वकत्व को यदि पौरुषेयत्व का प्रयोजक माना जाता है, तब अष्टका श्राद्धादि के विधायक मन्वादि स्मृति-वाक्य

पत्तिः, तेषामपि वेदवाक्यरूपमानान्तरोपलक्ष्यमूलत्वात् ।

मातापितृसम्बन्धोत्पन्नपाञ्चभौतिकशरीरत्वादिगुणविशिष्टानामेव पुरुषाणां वाक्यस्वातन्त्र्यदर्शनादतादृशस्य स्वातन्त्र्यकल्पनं विशेषविरुद्धं च ।

भी अपौरुषेय हो जायेंगे, क्योंकि वे भी प्रत्यक्षादीतरप्रमाणगृहीतार्थपूर्वक नहीं है, उनके प्रतिपाद्य श्राद्ध एवं मृत पितृगणों का प्रत्यक्षतः दर्शन सम्भव नहीं ।

समाधान—अष्टकादि-विधायक स्मार्त वाक्य भी अपने से इत्तर वेद-वाक्यों के द्वारा विहित कर्म के ही प्रतिपादक हैं, वैदिक ऋषियों ने ही वेद के द्वारा अष्टकादि कर्मों का प्रथम ज्ञान प्राप्त कर अपने स्मृति ग्रन्थों में उपनिबद्ध कर दिया, अतः उन का भी मूल प्रमाण वेद ही है [महर्षि जैमिनि ने अपने मीमांसा-दर्शन के स्मृत्यधिकरण (१।३।१) में विचार किया है कि "अष्टकाः कर्तव्याः" (आश्वल. गृ. सू.) इस स्मृति-वाक्य से विहित अष्टका श्राद्ध का मन्त्र ("यां जनः प्रतिनन्दन्ति रात्रि धेनु-मिवायतीम् । संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली ॥ अष्टकायै सुराधसे स्वाहा") वेद मैं है । सात पाकसंस्थाओं में यह पहला कर्म है। मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन मासों की कृष्णपक्षीय सप्तमी, अष्टमी और नवमी तिथियों में चार-चार अष्टका कर्म किए जाते हैं, सब मिला कर बारह श्राद्ध हो जाते हैं । इन कर्मों के विधायक स्मृति वाक्यों की धर्म में प्रमाणता स्थापित करते हुए संशयादि का प्रदर्शन (न्यायमाला में) किया गया है--

अष्टकादिस्मृतेर्धर्मे न मात्वं मानताथवा ।
निर्मूलत्वान्न मानं सा वेदार्थोक्तौ निरर्थता ॥
वैदिकैः स्मर्यमाणत्वात् सम्भाव्या वेदमूलता ।
विप्रकीर्णार्थसङ्क्षेपात् सार्थत्वादस्ति मानता ॥] ।

माता-पिता के सम्बन्ध से उत्पन्न पाञ्चभौतिक शरीरवाले पुरुषों के वाक्यों में ही पुरुष-स्वातन्त्र्यात्मक पौरुषेयत्व माना जाता है, वेद-वाक्य

विप्रतिपन्नः कालो न वेदशून्यः, कालत्वात्, सम्प्रतिपन्नकालवत्। विमतं वेदाध्ययनं परतन्त्राध्येतृकम्, वेदाध्ययनत्वात्, सम्प्रतिपन्नाध्ययनवत्। आत्मत्वं वेदकर्तृव्यक्तिसमवेतं न भवति, जातित्वाद्, गोत्ववदिति प्रतिहेतुविरुद्धं च वाक्यत्वम् ।

नन्वेवमेव भारतादीनामप्यपौरुषेयत्वं साधनीयमिति चेत्, न, तेषां दृढतर-कर्तृस्मरणबाधितविषयत्वात्। 'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते' इति

वैसे नहीं, अतः वेद-वाक्यों में पौरुषेयत्व-साधक वाक्यत्व हेतु विशेष-विरुद्ध है।

इतना ही नहीं, उक्त वाक्यत्व हेतु प्रतिहेतु-विरुद्ध भी है, प्रति हेतु-प्रयोग इस प्रकार है—(१) विप्रतिपन्नः कालो न वेदशून्यः, काल-त्वात् सम्प्रतिपन्नवत्। (२) विमतं वेदाध्ययनं परतन्त्राध्येतृकम्, वेदाध्ययनत्वात्, सम्प्रतिपन्नाध्ययनवत्। (३) आत्मत्वं वेदकर्तृसमवेतं न भवति, जातित्वाद्, गोत्ववत्। [वेद-वाक्यों में पौरुषेयत्व सिद्ध करने वालों की तीन मान्यताएँ हो सकती हैं—(१) कोई अतीत काल ऐसा भी था, जब वेद नहीं थे, वेदों की प्रथम-प्रथम रचना हुई। (२) ऐसा भी कोई आतीत समय होगा, जब किसी ने अध्ययन किए बिना ही प्रथम बार अध्यापन आरम्भ किया। (३) आत्मा नाना है, इन में कोई न-कोई वेद का कर्त्ता रहा होगा। इन तीनों का परम तात्पर्य पौरुषेयत्व साधन में ही है, अतः इन तीनों मान्यताओं का खण्डन क्रमशः ऊपर कथित तीनों अनुमानों में किया गया है, फलतः वे तीनों अनुमान प्रत्यनु-मान और उनके तीनों हेतु प्रतिहेतु कहलाते है]।

शङ्का—जैसे वैदिक वाक्यों में अपौरुषेयत्व सिद्ध किया जाता है, वैसे ही महाभारतादि के वाक्यों में भी अपौरुषेयत्व क्यों नहीं सिद्ध किया जा सकता ?

समाधान—महाभारतादि के कर्त्ता महर्षि व्यासादि का दृढ स्मरण उन में पौरुषेयत्व का निर्णय दे रहा है, अतः वहाँ अपौरुषेयत्व की सिद्धि

भवद्भिरभ्युपगतत्वाच्च ।

ननु श्रूयत एव वेदवाक्येषु वेदानां पौरुषेयत्वम्—'वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य निःसृताः । ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् । तस्मात् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे' इत्यादिषु । अतः कथमपौरुषेयत्वम् ?

इति चेत् , मैवम् , एतानि हि वाक्यानि परस्परविरुद्धानि प्रमाणान्तरबाधितविषयाणि च । आदित्यो यूपः इत्यादिवाक्यवदेतेषामर्थवादत्वपरिकल्पनात् । काठकादिसमाख्यापि प्रवचननिमित्तैव । प्रवचनमिति प्रकृष्टाध्ययन-

---

नहीं हो सकती, क्योंकि नैयायिकों ने स्पष्ट कह दिया है कि "नानुपलब्धे न निर्णीते न्यायः प्रवर्तते" (न्या. भा. पृ. ४) । अर्थात् जहाँ पर साध्य की सिद्धि या बाध नहीं, किन्तु साध्य का सन्देह होता है, वहाँ ही किसी हेतु के द्वारा साध्य की सिद्धि की जा सकती है । महाभारतादि वाक्यों में पौरुषेयत्व की सिद्धि दृढतर कर्तृस्मरण से हो चुकी है, तब वहाँ अपौरुषेयत्व बाधित होने के कारण सिद्ध नही किया जा सकता] ।

शङ्का—"वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य निःसृताः", "ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्", "तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे"—(ऋ. १०।६०।९) इत्यादि वैदिक वाक्यों से ही जब उन में पौरुषेयत्व (पुरुष-कृति-जन्यत्व) प्रतिपादित हो रहा है, तब वहाँ भी बाधित हो जाने के कारण अपौरुषेयत्व क्योंकर सिद्ध होगा ?

समाधान—उक्त वाक्य परस्पर विरुद्धार्थक एवं प्रमाणान्तर से बाधित भी हैं, अतः "आदित्यो यूपः"—इत्यादि वाक्यों के समान अर्थवादमात्र माने जाते हैं । इसी प्रकार काठकादि शाखा-संज्ञाएँ भी कठादि महर्षियों को वेद का कर्त्ता सिद्ध नहीं करती, अपितु प्रवचन की असाधारणता के कारण कठादि का नाम वेद से जुड़ गया है, सूत्रकार का यही निर्णय है—"आख्या प्रवचनात्" (जै. सू. १।१।३०) । प्रवचन

मुच्यते । कठप्रोक्तशाखाध्यायिनः कठाः । तेषामाम्नायः काठकमित्येतस्मिन्नर्थे वुञ्प्रत्ययस्मरणान्न कठादीनां वेदवाक्यविषयं प्रति स्वातन्त्र्यमवगमयति, अतो न वेदवाक्यानां पुरुषानुप्रवेशाभावादप्रामाण्यगन्धोऽपि । पुरुषकृता हि शब्दे दोषाः ।

ननु पुरुषगुणनिबन्धना एव शब्दे गुणाः, यथा रामायणादिषु । तस्मात् पुरुषाभावे पुरुषगुणस्य दूरापास्तत्वादप्रामाण्यं वेदवाक्यानां तदवस्थमेव । स्यादेतदेवं यदि गुणात् प्रामाण्यमित्यभ्युपगम्येत । न चैवमभ्युपगतमस्माभिः, तस्माद् गुणाभावेऽपि दोषाभावमात्रेण वेदानां प्रामाण्योपपत्तिः ।

का अर्थ 'प्रकृष्ट अध्ययन' है । कठ-प्रोक्त शाखा के अध्येताओं को 'कठाः' कहा जाता है, क्योंकि "कठचरकाल्लुक्" (पा. सू. ४।३।१०७) इस सूत्र से प्रोक्तार्थक प्रत्यय का लुक् हो जाता है । वहाँ 'तेषामाम्नायः काठकम्'—इस अर्थ में 'वुञ्' प्रत्यय का विधान किया गया है, अतः वेद वाक्य के विषय में कठादि का स्वातन्त्र्य अवगत नहीं होता । वैदिक वाक्यों में पुरुषों का किसी प्रकार भी प्रवेश नहीं होता, अतः वेद में अप्रामाण्य की गन्ध तक नहीं आ सकती, क्योंकि शब्दों में अप्रामाण्यादि दोष पुरुष के सम्पर्क से ही आया करते हैं ।

शङ्का—शब्द में स्वतः कोई गुण भी नहीं होता, पुरुष के गुणों से ही शब्द में गुण आया करते हैं और वे ही शब्द में किसी प्रकार का दोष नहीं आने देते । पुरुष का सम्पर्क न मानने पर वैदिक शब्दों में गुणाधान न हो सकने के कारण अप्रामाण्य प्रसक्त क्यों नहीं होगा ?

समाधान—कथित आशङ्का तब की जा सकती थी, जब कि हम (भाट्ट गण) ज्ञान में गुण-प्रयुक्त प्रामाण्य मानते । हम लोग वैसा नहीं मानते, अतः शब्द के साथ पुरुष का सम्पर्क न होने पर गुणाभाव के समान दोषाभाव भी रहता है, उसी से प्रामाण्य की उपपत्ति हो जाती है, जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—दोषाभावात् प्रमाणता" (श्लो० वा० पृ० ६६) ।

अपि च स्वत एव सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यम् । अप्रामाण्यं तु कारणदोषैरापद्यते । यथा चक्षुरादीनां पित्तादिषु दोषेषु सत्सु शङ्खादिपीततामतिः तदभावे च यथार्थभूतशुक्लिमावधारणम् ।

अत्र प्रामाण्यविषये वादिनो बहुधा जगुः ।
वदन्ति केचित् प्रामाण्यमप्रामाण्यमिति स्वतः ॥ १७ ॥
उभयं परतः प्राहुरक्षपादपक्षिलादयः ।
अप्रामाण्यं स्वतस्तत्र प्रामाण्यं परतो विदुः ॥ १८ ॥
बौद्धा मीमांसकास्तत्र प्रामाण्यं तु स्वतो विदुः ।
अप्रामाण्यं तु परतस्तत्र चिन्ता विधीयते ॥ १९ ॥

अत्र प्रामाण्याप्रामाण्ये सकलप्रमाणेषु स्वत एव वर्तमाने कारणगुणदोषा-

---

भाट्टमत के अनुसार सभी प्रमाणों में प्रामाण्य स्वतः ही माना जाता है और अप्रामाण्य कारणगत दोषों के कारण से माना जाता है, जैसे कि चक्षुरादि में पित्तादि दोषों के रहने पर शङ्खादि में पीतत्व-भ्रम हो जाता है और उस दोष का अभाव होने मात्र से शांख के वास्तविक शुक्लिम-गुण का अवधारण होता है । यहाँ पर प्रामाण्य के विषय में कुछ विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है ।

ज्ञानगत प्रामाण्य (प्रमात्व) के विषय में वादिगणों के चार दृष्टिकोण हैं—(१) सांख्याचार्य प्रामाण्य और अप्रामाण्य—दोनों को स्वतः ही सिद्ध करते हैं । (२) अक्षपाद और पक्षिल स्वामी (न्याय-भाष्यकार वात्स्यायन मुनि) आदि तार्किक प्रामाण्य और अप्रामाण्य—दोनों को परतः (कारणगत गुण और दोष से प्रयुक्त) मानते हैं । (३) बौद्ध मतानुसार अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः होता है । (४) मीमांसकाचार्य कहते हैं कि प्रामाण्य को स्वतः और अप्रामाण्य को परतः मानना ही उचित है । यहाँ चारों पक्षों का स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया जाता है ॥ १७–१९ ॥

(१) **सांख्याचार्यों का कहना है**—सभी प्रमाणों में प्रामाण्य

भ्यामभिव्यज्येते अत्यन्तासतामुत्पत्त्यनुपपत्तेः। उपपत्तौ वा गगनकुसुमादीनामप्युत्पत्तिप्रसङ्गात्। अत एव प्रागपि सन्त एव कार्यभूता मृदो घटादय इत्यस्माभिरभ्युपगम्यते। न चैवं सति कारकव्यापारानर्थक्यम्, अभिव्यक्त्यर्थत्वात्तस्य। तस्मात् कारकव्यापारात् घटाद्यभिव्यक्तिवत् गुणदोषाभ्यां प्रामाण्याप्रामाण्ययोरभिव्यक्तिरेव, इत्युभयमपि स्वतः—इति सत्कार्यवादिनां साङ्ख्यानां मतम्।

अत्र वदामः—यदि सर्वत्राप्यसतामनुत्पत्तिरेव, तर्हि मृदादिगतस्य घटादेः कारकव्यापारात् पूर्वमभिव्यक्तिरस्ति वा? न वा? यद्यस्ति तर्हि कारकव्यापारानर्थक्यं तदवस्थमेव। अथ नास्ति, तर्हि कथमसदुत्पत्तिः प्रतिषिध्येत? असत्या

और अप्रामाण्य—दोनों स्वतः निहित होते हैं। कारणगत गुण और दोष के द्वारा उन्हीं की अभिव्यक्ति होती है, अत्यन्त असद् पदार्थ की कभी उत्पत्ति नहीं हो सकती। अत्यन्त असत् की उत्पत्ति मानने पर आकाश-पुष्पादि की भी उत्पत्ति होनी चाहिए। इसी लिए अपनी अभिव्यक्ति के पूर्व घटादि भाव पदार्थों को हम लोग (सांख्यानुयायी) मृत्तिका में सत् ही मानते हैं। फिर भी कारक-व्यापार अनर्थक नहीं होता, क्योंकि कारण में अव्यक्तरूप से विद्यमान कार्य की अभिव्यक्ति में उसका सार्थक्य हो जाता है। अतः जैसे कारक-व्यापार से घटादि की अभिव्यक्ति होती है, वैसे ही कारणगत गुण-दोषों के द्वारा प्रामाण्य और अप्रामाण्य की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस प्रकार सत्कार्यवादी सांख्याचार्यों का मत वार्तिककार ने दिखाया है—"स्वतोऽसतामसाध्यत्वात् केचिदाहुर्द्वयं स्वतः" (श्लो० वा० पृ० ५४)।

सांख्य मत की आलोचना—यदि असत् पदार्थ की उत्पत्ति नहीं होती, तब घटादि की अभिव्यक्ति के विषय में जिज्ञासा होती है कि वह कारक-व्यापार से पहले मृत्पिण्ड में है? अथवा नहीं? यदि है, तब कारक-व्यापार व्यर्थ है और यदि नहीं है, तब असत् अभिव्यक्ति की कारक-व्यापार से उत्पत्ति माननी होगी, असत् की उत्पत्ति का प्रतिषेध

एवाभिव्यक्तेरुत्पत्तिस्वीकारात् । तस्मान्नैतावता प्रामाण्याप्रामाण्ययोरपि स्वतस्त्वमङ्गीकर्तव्यम् ।

अपि च पयःपावकयोरिवात्यन्तविरुद्धयोः प्रामाण्याप्रामाण्ययोः कथमेकस्मिन्नेव ज्ञाने समावेशोपपत्तिः ? तस्मादुभयोरपि स्वतस्त्ववादिनो निरस्ताः ।

गुणात् प्रामाण्यं दोषादप्रामाण्यमित्युभयमपि परत इति तार्किकाः । तथाहि—उत्पत्तौ प्रतिपत्तौ च परत एव प्रामाण्यम् । तत्र तावदुत्पत्तौ ज्ञानहेतुमात्राधीनं यदि प्रामाण्यं स्यात् , तर्ह्यप्रमाणज्ञानेष्वपि प्रामाण्यं स्यात् , तत्रापि ज्ञानहेतूनां सम्भवात् । असम्भवे वा ज्ञानोत्पत्तेरेवानुपपत्तेः । नाप्यप्रामाण्यं ज्ञानहेतुमात्राधीनम् , उक्तेन न्यायेन प्रमाणज्ञानानामप्यप्रसङ्गात् । तस्मादिन्द्रियादिगुणादेव प्रामाण्योद्भवः तद्दोषादप्रामाण्योद्भवः इति स्थितं

कैसे करेंगे ? अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य—दोनों को स्वतः नहीं मानना चाहिए । दूसरी बात यह भी है कि जल और अग्नि के समान अत्यन्त विरुद्ध प्रामाण्य और अप्रामाण्य का समावेश एक ही ज्ञान में नहीं हो सकता यही वार्तिककार कहते हैं—"स्वतस्तावद् द्वयं नास्ति विरोधात्" (श्लो० वा० पृ० ५५) ।

(२) **तार्किक मत**—कारणगत गुण से प्रामाण्य और दोष से अप्रामाण्य की उत्पत्ति और ज्ञप्ति (ज्ञान) मानी जाती है। प्रामाण्य (प्रमात्व) की स्वतः उत्पत्ति का अर्थ है—प्रमात्व के आधारभूत ज्ञान की उत्पादिका सामग्री से ही ज्ञानगत प्रमात्व या प्रामाण्य की उत्पत्ति । प्रमात्व की उत्पत्ति यदि केवल अपने आश्रयीभूत ज्ञान की उत्पादिका सामग्री से मानी जाय, तब अप्रमाणभूत ज्ञान में भी प्रामाण्य की उत्पत्ति माननी होगी, क्योंकि वहाँ भी ज्ञान सामान्य की उत्पादिका सामग्री विद्यमान है, अन्यथा अप्रमाणभूत ज्ञान भी उत्पन्न न हो सकेगा । उसी प्रकार अप्रामाण्य की उत्पत्ति भी यदि अपने आश्रयीभूत ज्ञान के उत्पादक कारणकलाप से मानी जाती है, तब प्रमाणभूत ज्ञान में भी अप्रामाण्य मानना होगा, अतः प्रत्यक्षादि ज्ञानों के कारणीभूत इन्द्रियादि

उभयोरुत्पत्तौ परतस्त्वम् ।

तथा प्रतिपत्तावपि परतस्त्वमेव युक्तं कल्पयितुम् । यदि ज्ञानग्राहकप्रमाणेनैव ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा गृह्यते, तर्हि कथं 'ममेदमुत्पन्नं ज्ञानं प्रमाणमप्रमाणं वा'—इति संशयोपपत्तिः ? न ह्यन्यतरस्य रूपावधारणे शङ्कावतरति, अतिप्रसङ्गात् । कथं तर्हि प्रामाण्यग्रहणम् ? उच्यते—ममेदमुत्पन्नं ज्ञानं प्रमाणम् , समर्थप्रवृत्तिजनकत्वाद्, यन्न समर्थां प्रवृत्तिं जनयति, न तत् प्रमाणं यथा प्रमाणाभासः इत्याद्यनुमानात् । तस्मादर्थक्रियानन्तरमेव प्रामाण्यनिश्चयः । एवमप्रामाण्यनिश्चयेऽप्यनुमानं द्रष्टव्यमिति सिद्धमुभयमुभयस्मात् परत इति ।

पदार्थों के गुणों से ज्ञानगत प्रामाण्य और उनके दोषों से अप्रामाण्य का उद्भव माना जाता है—इसे ही 'उत्पत्तौ परतस्त्वम्' कहते हैं ।

इसी प्रकार प्रतिपत्ति (प्रमात्व के ज्ञान) में भी परतस्त्व ही मानना युक्ति-युक्त है, क्योंकि यदि आश्रयीभूत ज्ञान की ग्राहक सामग्री से ही ज्ञानगत प्रामाण्य और अप्रामाण्य का ज्ञान हो जाता है, तव किसी को भी 'ममेदं ज्ञानं प्रमा ? न वा ?' इस प्रकार का संशय नहीं होना चाहिए, क्योंकि संशय-घटक दो कोटियों में से किसी एक का निश्चय हो जाने पर संशय नहीं हुआ करता, अन्यथा स्थाणुत्व-निश्चय हो जाने पर भी स्थाणुर्वा ? पुरुषो वा ? ऐसा संशय होना चाहिए । तब प्रामाण्य का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर है—अनुमान से । वह अनुमान-प्रकार है—'ममेदमुत्पन्नं ज्ञानं प्रमाणम्, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा—प्रमाणाभासः । अतः प्रवृत्ति का साफल्य हो जाने के अनन्तर ही प्रामाण्य का अनुमान हुआ करता है । इसी प्रकार अप्रामाण्य ज्ञान के लिए भी अनुमान कर लेना चाहिए—'इदं ज्ञानमप्रमाणम्, निष्फलप्रवृत्तिजनकत्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा—प्रमाणज्ञानम् । इस प्रकार प्रामाण्य और अप्रामाण्य—दोनों ही कारणगत गुण ओर दोष के आधार पर उत्पन्न एवं प्रवृत्ति के साफल्यासाफल्य से गृहीत होते हैं ।

अत्र वदामः—यदि ज्ञानस्य प्रामाण्यमप्रामाण्यं वा स्वोत्पत्तौ हेत्वन्तराधीनम् ; किमात्मकं तर्हि ज्ञानस्वरूपम् ? न हि प्रामाण्याप्रामाण्यव्यतिरिक्तं किञ्चिदपि स्वरूपमस्ति विज्ञानस्य । ननु सन्देहात्मकमस्तु, न, प्रतीतिविरोधात् । सन्देहस्याप्रामाण्यपक्षनिक्षेपेणाप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वप्रसङ्गाच्च ।

यत्तु प्रामाण्यस्य ज्ञानहेतुमात्राधीनत्वे शुक्तिरजतादिज्ञानेष्वपि प्रामाण्यप्रसङ्ग इत्युक्तम्, तत् तत्रापि पुरोवर्तित्वसत्त्वशुक्लत्वभास्वरत्वाद्यंशेषु प्रामाण्यस्यानुवृत्तेरस्माकमनुकूलमेव ।

यत् पुनरुदयनेन प्रामाण्यस्य परायत्तत्वेऽनुमानं प्रयुक्तम्—प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वाद्, अप्रमावदिति । तदप्यसत्, प्रमा

तार्किक मत की आलोचना—यदि ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य अपनी उत्पत्ति में हेत्वन्तर की अपेक्षा किया करते हैं, तव हेत्वन्तर की उपस्थिति के पूर्व उत्पन्न ज्ञान को प्रमा या अप्रमा कुछ भी नहीं कह सकते, उसे फिर क्या कहेंगे ? ज्ञान की प्रमा और अप्रमा—दो ही विधाएँ होती हैं, दोनों के न कह सकने पर उसे 'ज्ञान' पद से भी नहीं कहा जा सकेगा, वार्तिककार ने भी यही प्रश्न उठाया है—"किमात्मकं भवेत् तच्च स्वभावद्वयवर्जितम्" (श्लो० वा० पृ० ५५) । उस ज्ञान को संशयात्मक मानने में अनुभव का विरोध होता है । दूसरी वात यह भी है कि संशय ज्ञान भी अप्रमाण का ही एक भेद है, इसे परतस्त्ववादी स्वतः क्योंकर मान सकेगा ? यह जो प्रामाण्य के स्वतस्त्व-पक्ष में आपत्ति की गई कि प्रामाण्य को ज्ञान-हेतुमात्र के अधीन मानने पर शुक्ति-रजतादि प्रमाणाभास ज्ञानों में प्रामाण्य-प्रसङ्ग होता है। वह हमें (भाट्टगणों) को अभीष्ट ही है, क्योंकि वहाँ भी पुरोवर्तित्व, शुक्लत्व, भास्वरत्वादि अंशों में प्रामाण्य माना ही जाता है ।

यह जो श्री उदयनाचार्य ने प्रामाण्य के परतस्त्व में अनुमान-प्रयोग किया है—"प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वे सति तद्विशेषाद्, अप्रमावत्" (न्या. कु. २।१) । वह अनुमान इसलिए निरस्त हो

गुणदोषाभावयोरन्यतराधीना न भवति, ज्ञानत्वाद् अप्रमावदित्यनेनानुमानेन बाधितविषयत्वात् । सविशेषणहेतुजात् प्राचीनानुमानादविशेषणहेतुजस्यास्यानुमानस्य शीघ्रप्रवृत्त्युपपत्तेर्युक्तं च प्राचीनानुमानस्य बाधितविषयत्वमिति सिद्धमुत्पत्तौ स्वतस्त्वम् ।

एवं प्रतिपत्तावपि स्वतस्त्वमेव युक्तमभ्युपगन्तुम्, तथाहि—तथाभूतोऽयमर्थ इत्यर्थस्य तथात्वावधारणात् प्रामाण्यसंवित्तिः । अतथाभूतोऽयमर्थ इत्यतथात्वावधारणादप्रामाण्यसंवित्तिः । तत्र तथाभूतोऽयमर्थ इति तथात्वावधारणं ज्ञानस्वरूपाधीनमिति तादृशावधारणगम्यं प्रामाण्यं स्वतोऽवगम्यते—इत्युच्यते । अतथाभूतोऽयमर्थ इत्यतथाभावावधारणं तु कारणदोषावगमाद् बाधकप्रत्ययाद् वा परतो जायत इति तादृशावधारणगम्यमप्रामाण्यं परतोऽवगम्यत इत्युच्यते । तस्मादतथाभूतोऽयमर्थ इत्येव ज्ञानस्वरूपमवगमयति । अर्थतथात्वनिश्च-

---

जाता है कि 'प्रमा गुणदोषाभावयोरन्यतराधीना न भवति, ज्ञानत्वाद्, अप्रमावत्'—इस अनुमान के द्वारा बाधित हो जाता है। सविशेषण हेतु से उत्पन्न पूर्व अनुमान उस अनुमान से बाधित हो जाता है, जो कि विशेषण-रहित हेतु से उत्पन्न होता है, क्योंकि विशेषण-सापेक्ष हेतुक अनुमान की अपने कार्य-साधन में उतनी त्वरा नहीं हो सकती, जैसी कि विशेषण-निरपेक्षहेतुक अनुमान की होती है।

इसी प्रकार प्रामाण्य के ज्ञान में भी स्वतस्त्व मानना ही उचित है, क्योंकि 'तथाभूतोऽयमर्थः'—इस प्रकार अर्थगत तथात्वावधारण से प्रामाण्य का और 'अतथाभूतोऽयमर्थः'—इस प्रकार पदार्थगत अतथात्वावधारण से अप्रमात्व का ज्ञान होता है। उनमें पदार्थ के तथात्व का निश्चय ज्ञानस्वरूप के अधीन होता है, अतः प्रामाण्य की स्वतः अवगति का होना नैसर्गिक है, किन्तु पदार्थ का अतथात्वावधारण कारणगत दोष के निश्चय पर निर्भर होता है या बाधक प्रत्यय पर, अतः अप्रामाण्यावगम परतः होता है, क्योंकि अप्रमाण ज्ञान अतथाभूत अर्थ को तथाभूतरूप में प्रदर्शित करता है, जैसा कि विपर्यय का लक्षण वार्तिककार ने कहा—

यस्य भ्रमरूपत्वात् प्रामाण्यनिश्चयोऽपि तत्र भ्रम इत्येव विशेषः। भ्रमत्वं तु तस्य बाधकप्रत्ययावसेयमेव।

न चैतादृशभ्रमदर्शनादर्थतथात्वावधारणेन प्रामाण्यावगमो दुष्कर इति वाच्यम्, बाष्पे धूमभ्रमदर्शनेऽपि धूमादग्न्यनुमानस्य सुकरत्वात्। न च तथाभूतोऽयमर्थ इत्यर्थतथात्वावधारणमर्थक्रियाज्ञानादिलक्षणपरापेक्षमिति वाच्यम्, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—किमिदमर्थक्रियाज्ञानं स्वत एव प्रमाणम्? उत परतः? न तावत् परतः, तस्याप्यर्थक्रियाद्यन्तरापेक्षत्वेनानवस्थाप्रसङ्गात्। अथ स्वत एव, किमपराद्धमाद्यज्ञानेन येन तस्य परतःप्रामाण्यपक्षनिक्षेपः?

"को विपर्ययः ? अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः" (न्या. वा. पृ. २४)। यद्यपि तथाभूतार्थ-निश्चय को प्रामाण्य-निश्चय ही माना जाता है, तथापि अतथाभूत अर्थ में तथाभूतार्थ का निश्चय भ्रम होता है, बाधक प्रत्यय से उसमें भ्रमत्व पर्यवसित होता है।

यदि अर्थतथात्व-निश्चय भी भ्रमात्मक होता है, तब अर्थतथात्वावधारण के द्वारा प्रामाण्य-निश्चय क्योंकर होगा? इस शङ्का का समाधान यह है कि सदा तो ऐसा नहीं होता, कदाचित् बाष्प में धूम-भ्रम के हो जाने पर भी धूम के द्वारा अग्नि का अनुमान सुकर होता है। यह जो कहा जाता है कि 'तथाभूतोऽयमर्थः'—इस प्रकार का प्रामाण्यावधारण अर्थक्रिया-ज्ञानादिरूप परपदार्थ से होने के कारण परतः गृहीत होता है। वह कहना उचित नहीं, क्योंकि इस पक्ष में जिज्ञासा होती है कि यह अर्थक्रिया-ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतः ज्ञात होता है? अथवा परतः गृहीत होता है? परतः मानने पर अनवस्था होगी, क्योंकि एक अर्थक्रिया-ज्ञान को अपने प्रामाण्यावधारण में दूसरे और दूसरे को तीसरे की अपेक्षा होती जाती है। यदि अर्थक्रिया-ज्ञान में स्वतः ही प्रामाण्य का निश्चय माना जाता है, तब मूलभूत प्रथम ज्ञान ने क्या बिगाड़ा है कि उसके प्रामाण्य का अवधारण परतः पक्ष में फेंक दिया गया है?

यत्तु समर्थप्रवृत्तिजनकत्वेन हेतुना प्रामाण्यमाद्यज्ञानस्यानुमेयमित्युक्तम्, तदप्ययुक्तम्, स्वप्ने कामिनीरूपदर्शनादिरूपस्यापूर्वज्ञानस्य तदालिङ्गनादिरूपसमर्थप्रवृत्तिजनकत्वेऽपि प्रामाण्याभावेन तत्रानैकान्त्यात्।

यत् पुनर्ममेदमुत्पन्नं ज्ञानं प्रमाणम्? अप्रमाणं वा? इति सन्देहदर्शनात् प्रामाण्यस्य न स्वतोऽवधारणमित्युक्तम्। तदप्यसत्, सर्वेषामपि ज्ञानानां सन्देहग्रस्तत्वादर्शनात्। यत्र पुनः कुत्रचित् भ्रमदर्शनात् किं तादृशमिदं ज्ञानम्? उतान्यादृशम्? इति संशयो भवति, तत्रापि ज्ञानस्वरूपं प्रथमत एव विषयतथात्वमवधारयति। दूरत्वादीनां विषयदोषाणां तिमिरादीनां करणदोषाणां पारिप्लवादीनां मनोदोषाणां चाभावावगमः पुनरतथाभावशङ्कोच्छेदमात्र एवोपकरोति, न तु ज्ञानस्वरूपाधीने विषयतथात्वावधारणे तदधीने प्रामाण्यनिश्चये

यह जो कहा जाता है कि समर्थ प्रवृत्ति-जनकत्वरूप हेतु के द्वारा प्रथम ज्ञान के प्रामाण्य का अनुमान होता है। वह उचित नहीं, क्योंकि 'इदं ज्ञानं प्रमाणम्, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्'—यह अनुमान स्वप्नगत कामिनीदर्शनरूप अप्रमाण ज्ञान में व्यभिचरित है, क्योंकि वह ज्ञान भी आलिङ्गनादिरूप समर्थ प्रवृत्ति का जनक होता है।

यह जो कहा गया कि 'ममेदमुत्पन्नं ज्ञानं प्रमाणम्? अप्रमाणं वा?'—इस प्रकार का सन्देह यह सिद्ध करता है कि ज्ञानगत प्रामाण्य का स्वतः अवधारण नहीं होता। वह कहना भी सत्य नहीं, क्योंकि सभी ज्ञानों में वैसा सन्देह नहीं देखा जाता। जहाँ कहीं किसी भ्रम को देख कर प्रकृत ज्ञान में 'तादृशमिदं ज्ञानम्? उतान्यादृशम्?'—ऐसा संशय हो जाता है, वहाँ भी ज्ञान का स्वरूप प्रथमतः ही अपने विषयतथात्व (प्रामाण्य) का अवधारण करा देता है। विषयगत दूरत्वादि, करणगत तिमिरादि और मनोगत व्यग्रत्वादि दोषों के अभाव का ज्ञान केवल अतथाभाव की शङ्का के निवारण में ही उपयोगी होता है, ज्ञानस्वरूपाधीन विषयतथात्वावधारण और विषयतथात्वावधारण के अधीन प्रामाण्यनिश्चय में नहीं। फलतः ज्ञानगत प्रामाण्य स्वतः गृहीत है, यहाँ 'स्व' शब्द

च । तस्मात् स्वशब्दस्यात्मीयवाचित्वेन ज्ञानस्वरूपाधीनादर्थतथात्वावधारणादवगम्यमानस्य प्रामाण्यस्य ज्ञप्तावपि स्वतस्त्वं सिद्धम् ।

यत्तु 'प्रामाण्यं परतो ज्ञायतेऽनभ्यासदशायां सांशयिकत्वाद्, अप्रामाण्यवद्'—इत्युदयनोक्तमनुमानम्, तदस्मन्मतेऽपि विषयतथात्वावगमरूपात् परत एव प्रामाण्यावधारणात् सिद्धसाधनं द्रष्टव्यम् । एताभिरेव युक्तिभिः 'अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परतः'—इति बौद्धसिद्धान्तोऽपि निरुद्धो वेदितव्य इत्यलमतिप्रसङ्गेन ।

सिद्धानि तावत् तमःपञ्चमान्यवयविद्रव्याणि तदारम्भकाण्यवयवद्रव्याणि च ।

स्वरूपाणि निरूप्यन्ते व्योमादीनामथ क्रमात् ।
नित्यानि चानवयवद्रव्याणि च विभूनि च ॥ २० ॥

शाङ्कराः पुनः आत्मन आकाशः सम्भूत इत्यादिश्रुत्यनुरोधेन गगनादीनाम-

---

का अर्थ स्वकीय है, अतः स्वाश्रयीभूत ज्ञान के अधीन विषयतथात्वावधारण से गृहीत स्वगत प्रामाण्य स्वतोगृहीत कहा जाता है, इस प्रकार प्रामाण्य-ज्ञप्ति में भी स्वतस्त्व सिद्ध हो गया ।

श्री उदयनाचार्य ने जो अनुमान किया है कि 'प्रामाण्यं परतो ज्ञायते, अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वाद्, अप्रामाण्यवत्' (न्या.कु. २।१) । वह भाट्टगणों के लिए सिद्ध-साधन है, क्योंकि वे भी विषयतथात्वावधारणरूप पर पदार्थ से ही प्रामाण्य का अवधारण मानते हैं । इन्हीं युक्तियों के द्वारा 'अप्रामाण्यं स्वतः, प्रामाण्यं परतः'—यह बौद्ध-सिद्धान्त भी निरस्त हुआ समझ लेना चाहिए ।

पृथिवी, जल, तेज वायु और तमस्—ये पाँच अवयवी द्रव्य और इनके आरम्भक परमाणु द्रव्य सिद्ध हो गए । अब आकाशादि निरवयवी और विभु द्रव्यों का क्रमशः निरूपण किया जाता है ॥ २० ॥

आचार्य शङ्कर के अनुयायी वेदान्तिगण "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः" (तै० उ० २।१।१) इस श्रुति के अनुरोध पर गगनादि

नित्यत्वमाहुः। तदयुक्तम्, 'विवादपदानि द्रव्याणि नित्यानि निरवयवद्रव्यत्वाद्, आत्मवद्—इत्याद्यनुमानविरोधेन श्रुतेर्यथाश्रुतेऽर्थे प्रामाण्यानुपपत्तेः।

एतानि मनोव्यतिरिक्तानि प्रत्यक्षाणि। तत्र च—

व्योमकालदिशामादौ प्रत्यक्षत्वं समर्थ्यते।
अनिष्टं भट्टपादोक्तिमाधुर्यानभिलाषिणाम्॥ २१॥

दिक्कालाकाशाः प्रत्यक्षाः, अमनस्त्वे सति विभुत्वाद्, आत्मवत्। अपिच दिक्कालाकाशा यदि न प्रत्यक्षाः, तर्हि तेषां स्वरूपमेव हीयेत, प्रत्यक्षव्यतिरेकेण तेषु प्रामाणाभावात्।

नन्वस्त्येव तत्र प्रमाणम्—शब्दस्य विशेषगुणत्वाद् गुणस्य च गुणिनम-

---

में जो अनित्यत्व सिद्ध करते हैं, वह युक्त नहीं, क्योंकि 'विवादपदानि द्रव्याणि नित्यानि, निरवयवद्रव्यत्वाद्, आत्मवत्'—इत्यादि अनुमानों का विरोध देख कर उक्त श्रुति का यथाश्रुतार्थ में प्रामाण्य नहीं माना जा सकता।

(६-८) **आकाश, काल और दिक्**—मन को छोड़ कर आकाश, काल, दिक्, आत्मा और शब्द—ये पाँच द्रव्य प्रत्यक्ष माने जाते हैं। सर्व-प्रथम आकाश, काल और दिशा की उस प्रत्यक्षता का समर्थन किया जाता है, जो कि भट्टपादोक्तिगत माधुर्य के रसास्वादन से वञ्चित व्यक्तियों को अभीष्ट नहीं॥ २१॥ 'दिक्कालाकाशाः, प्रत्यक्षाः अमनस्त्वे सति विभुत्वाद्, आत्मवत्'—इस अनुमान के द्वारा दिक् काल और आकाश की प्रत्यक्षता सिद्ध होती है। यदि इनका प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, तब इनका स्वरूप ही सिद्ध न हो सकेगा, क्योंकि प्रत्यक्ष को छोड़ कर इनमें अन्य कोई भी प्रमाण नहीं। [श्री चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है कि "आकाशं प्रत्यक्षम्, अमनस्त्वे सति विभुत्वादात्मवत् (नीति० पृ० ६७)। न च कालो न प्रत्यक्षः, अमनस्त्वे सति विभुत्वाद्, आत्मवदिति प्रत्यक्षत्वसाधनात्। किं च यदि कालो न प्रत्यक्षः स्यात् न स्यादेव तर्हि तत्सद्भावावेदकप्रमाणानुपपत्तेः" (नीति० पृ० ४१)]।

शङ्का—आकाशादि में प्रत्यक्षातिरिक्त प्रमाण का अभाव नहीं कहा

न्तरेणानुपपत्तेः, शब्दगुणाश्रयत्वेन तावदाकाशसिद्धिः। कालस्तु युगपदादिप्रत्ययानुमेयः। दिक् पुनः पूर्वापरादिप्रत्ययानुमेया इति कथं तेषु प्रमाणाभावः। अत्र वदामः—यत् तावदुक्तं शब्दगुणाश्रयत्वेनाकाशसिद्धिरिति। तदयुक्तम्, शब्दस्य गुणत्वानुपपत्तेर्वक्ष्यमाणत्वात्। भवतु वा गुणत्वम्, तथापि कथं दिक्कालादिव्यतिरिक्ताश्रयसिद्धिः। असिद्धद्रव्यकल्पनातः सिद्धस्यैव द्रव्यस्य गुणान्तरकल्पनाया लघीयस्तरत्वात्। किञ्च नयनोन्मीलनानन्तरमेवाबालवृद्धमध्यक्षतयाध्यवसीयमानस्याकाशस्याप्रत्यक्षत्वं वदन्तः प्राभाकरादयः करतलकलितमामलकफलमपि प्रत्यक्षानुपलभ्यमिति वदेयुरेव।

नापि कालो युगपदादिप्रत्ययानुमेयः। तथाहि—युगपदागतौ देवदत्तयज्ञदत्तौ चिरेणागतः पुत्र इत्यादिप्रत्ययाः किं कालविषयाः? अन्यविषयाः वा?

जा सकता, क्योंकि शब्द विशेष गुण है, कोई भी गुण अपने आश्रयीभूत द्रव्य के विना नहीं रह सकता। शब्दरूप गुण का आश्रय अन्य कोई द्रव्य नहीं हो सकता, अतः शब्दाश्रयत्वेन आकाश की सिद्धि हो जाती है। काल युगपदादि व्यवहारों और पूर्वापरादि प्रतीतियों के द्वारा अनुमेय है।

समाधान—शब्द गुण नहीं, अपितु स्वतन्त्र द्रव्य है—यह आगे कहा जायगा, अतः शब्दगुणाश्रयत्वेन आकाश की सिद्धि नहीं की जा सकती। शब्द को गुण मान लेने पर भी दिशा या काल को ही उसका आश्रय माना जा सकता है, उनसे भिन्न आकाश की सिद्धि नहीं हो सकती। आकाशरूप अप्रसिद्ध द्रव्य की कल्पना से दिशादि प्रसिद्ध द्रव्यों को ही शब्द गुण का आश्रय मान लेने में लाघव है। दूसरी बात यह भी है कि क्या बालक, क्या वृद्ध, सभी को आँख खोलते ही प्रत्यक्ष हो जाता है जिस अकाश का, उसे अप्रत्यक्ष मानने वाले प्राभाकरादि तो उनकी हथेली पर रखे आँवले को भी अप्रत्यक्ष कह सकते है, उनका क्या विश्वास?

युगपदादि प्रतीतियों के द्वारा काल का अनुमान नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'युगपदागतौ देवदत्तयज्ञदत्तौ', 'चिरेणागतः पुत्रः'—

न तावदन्यविषयाः, कालादन्येषां तेषां यौगपद्यादिलिङ्गानां प्रत्यक्षेण कालसम्बन्धानवधारणे पूर्ववत् पारिशेष्यासिद्धेः। सम्बन्धावधारणे च कालस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। अथ कालविषयाः, तर्हि किमक्षजन्याः? लिङ्गजन्या वा? न तावल्लिङ्गजन्याः, युगपदादिप्रत्ययातिरिक्तलिङ्गानङ्गीकरणात्। युगपदादिप्रत्ययानामेव लिङ्गत्वे चात्माश्रयप्रसङ्गात्। अथाक्षजन्याः, तर्हि प्रत्यक्षत्वमेव कालस्यापन्नम्, युगपदादिप्रत्ययानामक्षजन्यत्वकालविषयत्वयोः स्थितत्वात्। अतः 'प्रातःकालोऽयम्, सायंकालोऽयम्'—इत्यादिप्रत्ययानां सूर्योदयादिदर्शनानुगृहीतनयनजन्यत्वात् कालस्य प्रत्यक्षत्वं सिद्धम्। स च कालः षडिन्द्रियग्राह्य इति पूर्वमेवोक्तम्।

इत्यादि प्रतीतियाँ क्या काल को विषय कहती हैं? या अन्य पदार्थ को? अन्यविषयक मानने पर काल से भिन्न यौगपद्यादि लिङ्गों का काल के साथ सम्वन्ध प्रत्यक्षतः निश्चय न होने के कारण यौगपद्याद्याश्रयत्वेन काल का परिशेषावधारण न हो सकेगा और यदि यौगपद्यादि लिङ्गों का काल के साथ सम्वन्ध प्रत्यक्षतः गृहीत होता है, तव काल में प्रत्यक्षत्व प्रसक्त होता है।

यौगपद्यादि-प्रतीतियों को यदि कालविषयक माना जाता है, तव जिज्ञासा होती है कि यौगपद्यादि-प्रतीति को प्रत्यक्ष माना जाता है? अथवा लिङ्ग-जन्य? लिङ्ग-जन्य नहीं मान सकते, क्योंकि यौगपद्यादि-प्रतीतियों को ही लिङ्ग माना जाता है, उनसे भिन्न नहीं, अतः उन्हीं प्रतीतियों की उत्पत्ति उन्हीं से मानने पर आत्माश्रयादि दोष होते हैं। यौगपद्यादि-प्रतीतियों को इन्द्रिय-जन्य मानने पर काल में प्रत्यक्षत्व ही प्राप्त होता है, क्योंकि यौगपद्यादि-प्रतीतियों को कालविषयक एवं प्रत्यक्ष माना जाता है, प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय को प्रत्यक्ष कहा करते हैं। फलतः 'प्रातःकालोऽयम्', 'सायंकालोऽयम्'—इत्यादि प्रतीतियाँ सूर्योदयादि-दर्शन-सहकृत नेत्र से उत्पन्न होती हैं, अतः काल में प्रत्यक्षता पर्यवसित होती है। यह काल छः इन्द्रियों में से प्रत्येक के द्वारा गृहीत होता है—

एवं दिशोऽपि पूर्वापरादिप्रत्ययानां नेत्रमात्राधीनत्वाद्, दिग्विषयत्वाच्च प्रत्यक्षत्वं समर्थनीयम्। पूर्वापरादिप्रत्ययानां लिङ्गत्वेन दिगनुमानं तु पुरोवर्तिनां घटादीनामपि घटादिप्रत्ययानुमेयत्वप्रसंगप्रतिपादनेन निराकरणीयम्। तस्माद् व्योमादीनामप्रत्यक्षत्वसाधनपराणामनुमानानां तत्प्रतीत्यन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिबाधितविषयत्वात् सिद्धमप्रामाण्यम्।

तत्राकाशो विभुरपि घटाद्युपाधिवशाद् घटाकाशादिव्यपदेशं लभते कर्ण-

---

यह पहले विगत पृ० १६ पर कहा जा चुका है।

इसी प्रकार पूर्वापरादि प्रतीतियाँ भी दिग्विषयक एवं नेत्र-जन्य हैं, अतः दिशाओं में भी प्रत्यक्षता सिद्ध होती है। प्रत्यक्ष-सिद्ध दिक् का यदि पूर्वापरादि-प्रत्ययरूप लिङ्ग के द्वारा अनुमान किया जाता है तब प्रत्यक्ष-सिद्ध घटादि का भी उनके ज्ञानों से अनुमान ही प्रसक्त होगा। अतः आकाशादिगत अप्रत्यक्षता के साधक अनुमान आकाशादिगत प्रत्यक्षत्व-प्रतीति की अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से बाधित हो जाने के कारण अप्रमाण हो जाते हैं। [श्री चिदानन्द पण्डित ने इसी विषय का प्रतिपादन मनोरम ढंग से किया है—'यत्पुनः युगपदादिप्रत्ययाः काले लिङ्गमिति। तत्र प्रष्टव्यम्—किममी कालविषयाः? अन्यविषया वा? कालविषया अपि किमक्षजन्याः? लिङ्गजन्या वा? न तावदक्षजन्याः कालविषयाश्च, कालस्य प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। नापि कालविषया लिङ्गजन्याः, लिङ्गस्य युगपदादिप्रत्ययरूपत्वेनात्माश्रयात्। अथान्यविषयाः, कथं तर्हि कालसिद्धिः? अनेन क्रमेण दिशोऽपि पूर्वापरादिप्रत्ययानुमेयत्वं निरसनीयम्। यत्तु स्पर्शवत्त्वे सति महत्त्वं बाह्यप्रत्यक्षत्वस्य व्यापकमिति, तन्निवृत्तौ बाह्यप्रत्यक्षत्वस्यापि निवृत्तिः। तथा दिक्कालावप्रत्यक्षौ विशेषगुणशून्यद्रव्यत्वात् मनोवद्—इत्यादि तदुक्तेन क्रमेण दिक्कालयोरप्रत्यक्षत्वे स्वरूपस्यैवासिद्धेः तत्स्वरूपसिद्ध्यन्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिबाधितविषयत्वादसाधनमेव" (नीति. पृ. ४३-४४)]।

आकाश एक एवं विभु होने पर भी घटादि उपाधियों के द्वारा

शष्कुल्युपाधिवशेन श्रोत्रेन्द्रियव्यपदेशं च ।

कालस्यापि विभुत्वेऽप्युपाधिवशादौपाधिको भेदव्यवहारोऽस्ति । स यथा—पञ्चदश निमेषाः काष्ठा, ताभिस्त्रिंशता मुहूर्तः, ते त्रिंशदहोरात्रः, तैस्तावद्भिर्मासः, तैर्द्वादशभिः संवत्सरः, तैश्च क्रमेण युगादय इति । एवं दिशोऽपि पूर्वापराद्युपाधिवशाद् भेदव्यवहारो द्रष्टव्यः ।

आत्मा चैतन्याश्रयः । स च मानसप्रत्यक्षगम्यः । अत्र प्राभाकरास्तावदिदहमं जानामीति सर्वार्थवित्तिषु व्यवहारदर्शनाद् आत्मस्वात्मनोरप्यप्रकाशमानत्वे तदनुपपत्तेरात्मस्वात्मनोः कर्तृतया वित्तितया च प्रतीयमानत्वमभ्युपगच्छन्ति । तत्राहंप्रत्ययगम्यत्वेनात्मनः प्रत्यक्षत्वं ज्ञानस्य तु स्वयंप्रकाशत्वेनेति च व्यवस्थां प्रतिपेदिरे ।

तत्र ज्ञानस्य स्वयंप्रकाशत्वमुपरिष्टान्निराकरिष्यामः । आत्मा तु नाहंप्रत्य-

---

घटाकाशादि अनेक परिच्छिन्न रूपों एवं कर्णशष्कुलिरूप उपाधि से उपहित होकर श्रोत्रेन्द्रिय के रूप में व्यवहृत होता है ।

काल भी एक विभु द्रव्य है, फिर भी उसमें औपाधिक क्षणादि भेद-व्यवहार हो जाता है, जैसे कि पन्द्रह निमेष की एक काष्ठा, ३० काष्ठाओं का एक मुहूर्त, ३० मुहूर्तों का एक अहोरात्र, ३० अहोरात्र का एक मास, बारह मास का एक वर्ष । इसी प्रकार युगादि के व्यवहार भी होते हैं । दिक का भी पूर्व-परादि उपाधियों के आधार पर भेद-व्यवहार होता है ।

(९) **आत्मा**—आत्मा चैतन्य का आश्रय होता है । आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय माना जाता है ।

प्राभाकर मत—प्राभाकर का कहना है कि 'इदमहं जानामि'—ऐसा व्यवहार तब तक नहीं बन सकता, जब तक आत्मा और ज्ञान का प्रकाश प्रत्येक ज्ञान में न माना जाय, अतः सभी ज्ञानों में स्वात्मा का कर्तृत्वेन और ज्ञान का ज्ञानत्वेन भान होता है । आत्मा अहंप्रतीति का विषय एवं ज्ञान स्वयंप्रकाश होने के कारण प्रत्यक्ष होता है ।

प्राभाकर-मत की आलोचना—उक्त प्राभाकर सिद्धान्त युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि ज्ञान की स्वयंप्रकाशता का निराकरण आगे किया जायगा ।

यगम्यः सर्वत्रार्थवित्तिष्वहं जानामीति व्यवहारादर्शनात्। यत् पुनरत्र शालिकनाथेन कथितं अवश्यं च ज्ञातुरवभासो ज्ञेयावभासेष्वनुवर्तत इत्यास्थेयम्, अन्यथा स्वपरवेद्ययोरनतिशय इति। तदप्ययुक्तम्, ज्ञानस्य स्वात्मसमवेतत्वमात्रेणैवातिशयसिद्धेः। न च स्वात्मसमवेतत्वावगमस्यापि व्यवहाराङ्गत्वमस्तीति वाच्यम्, ऐन्द्रियकज्ञानेष्विन्द्रियावगमस्यापि व्यवहाराङ्गत्वप्रसङ्गात्। किञ्च—

अक्षसम्बन्धहीनात्मस्वात्मप्रत्यक्षतार्थिनः।
प्रत्यक्षशब्दव्युत्पत्तिः कथङ्कारं भवेद् गुरोः॥ २२॥

तस्माद् यथा दिगादीनां पूर्वापरादिप्रत्ययानुमेयत्वं भवद्भिरभ्युपगम्यते, तद्वदात्मनोऽप्यहंप्रत्ययानुमेयत्वमेव युक्तमभ्युपगन्तुम्, नाक्षसन्निकर्षहीनस्य प्रत्यक्ष-

---

आत्मा भी अहंप्रत्यय-गम्य नहीं हो सकता, क्योंकि सर्वत्र अर्थ-ज्ञानों में 'अहं जानामि'—ऐसा व्यवहार नहीं देखा जाता। यह जो शालिकनाथ ने कहा है कि "अवश्यं च ज्ञातुरवभासो ज्ञेयावभासेषु अनुवर्तते—इत्यास्थेयम्, अन्यथा स्वपरवेद्ययोरनतिशयः" (प्र. पं. पृ. १६८)। वह भी संगत नहीं, क्योंकि ज्ञान को आप स्वात्मसमवेत मानते हैं, इतने से ही स्वपर-वेदन में विशेषता आ जाती है! 'स्वात्मसमवेतत्व का ज्ञान भी व्यवहार का अङ्ग है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि विषय-प्रकाश में प्रकाशक का भी प्रकाश आवश्यक माना जाता है, तब सभी ऐन्द्रियक ज्ञानों में इन्द्रिय का ज्ञान भी आवश्यक हो जायगा, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः सभी ज्ञानों में ज्ञान का ज्ञान आवश्यक नहीं। दूसरी बात यह भी है कि अक्ष (इन्द्रिय) के सम्बन्ध से उत्पन्न ज्ञान को ही 'प्रत्यक्ष' शब्द से कहा जाता है, किन्तु गुरु-मतानुसार अक्ष-सम्बन्ध-रहित ज्ञानादि के ज्ञान में 'प्रत्यक्ष' शब्द की योजना किस व्युत्पत्ति से करेंगे?॥ २२॥ अतः जैसे दिगादि पदार्थों को पूर्वापरादि-प्रतीतियों के द्वारा आप अनुमेय कहते हैं, वैसे ही आत्मा को भी अहंप्रत्यय के द्वारा अनुमेय मानना चाहिये, न कि प्रत्यक्ष। यह भी एक जिज्ञासा होती है कि स्वप्रकाश ज्ञान के आश्रयीभूत आत्मा को भी आप स्वप्रकाश मानते

त्वम् । अपिच स्वप्रकाशज्ञानाश्रयत्वेऽप्यात्मनः स्वप्रकाशत्वानभ्युपगमे ज्ञानजन्यस्य तत्प्रकाशस्य घटप्रकाशस्येव कारणान्तरसापेक्षत्वं दुष्परिहरमेव । स्वप्रकाशत्वाभ्युपगमे च सिद्धो राद्धान्तविरोधः । अत्र प्रकाशरूपदहनाद्याश्रयेषु काष्ठादिष्वपि दह्यमानस्यांशस्याङ्गारावस्थत्वेन प्रकाशरूपाद् दहनादभिन्नत्वम् । इतरांशस्य तु घटादिवत् परितः प्रसर्पितेजोऽवयवप्रकाश्यत्वमेवेति न कस्याप्याश्रयत्वेन प्रकाश इत्यवगन्तव्यम् ।

शाङ्करास्तु ज्ञानज्ञात्रोरेकत्वं मन्यमानाः स्वयंप्रकाशत्वमात्मनः समर्थयन्ति । "अयं पुरुषः स्वयंज्योतिः", "आत्मैवास्य ज्योतिः" इत्यादिवेदान्त-

---

हैं ? या नहीं ? यदि नहीं मानते तब आत्मा के ज्ञान में वैसे ही कारणान्तर की अपेक्षा माननी पड़ेगी, जैसे कि ज्ञान से घट प्रकाशित है, अतः प्रकाश की अपेक्षा घट में मानी जाती है। आत्मा को स्वप्रकाश मानने पर अपसिद्धान्तापत्ति होती है। यहाँ प्रकाशरूप अग्न्यादि के आश्रयीभूत काष्ठादि में दह्यमान अंश अङ्गाररूप होने के कारण प्रकाशरूप अग्नि से अभिन्न होता है और उससे अतिरिक्त काष्ठ का (प्रकाशानाश्रय) अंश घटादि के समान समीप में फैले हुए प्रकाश से प्रकाशित होता है अतः प्रकाशाश्रयत्वेन किसी भी वस्तु का प्रकाश देखने में नहीं आता।

शाङ्कर मत—अद्वैत वेदान्ती ज्ञान और ज्ञाता की एकता मानते हुए आत्मा की स्वयंप्रकाशता का समर्थन करते हैं। "अयं पुरुषः स्वयं ज्योतिः" (बृह० उ० २।३।६), "आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति" (बृह० उ० ४।३।६) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों को आत्मा की स्वयंप्रकाशता में प्रमाण माना जाता है। श्री चित्सुखाचार्य का (चित्सु० १।३ में) सिंहनाद है—

चिद्रूपत्वादकर्मत्वात् स्वयंज्योतिरिति श्रुतेः।
आत्मनः स्वप्रकाशत्वं को निवारयितुं क्षमः॥

शाङ्कर मत की आलोचना—ज्ञान और ज्ञाता की एकरूपता का निराकरण तो इसी प्रकरण में किया जायगा। आत्मा की स्वप्रकाशता

वाक्यं च तत्र प्रमाणीकुर्वन्ति । तत्र ज्ञानज्ञात्रोरेकत्वमत्रैव निराकरिष्यते । न च वेदान्तवाक्यात् स्वप्रकाशत्वसिद्धिः, 'स मानसीन आत्मा जनानाम्" इति श्रुत्यन्तरविरोधात् । आत्मा ज्ञानान्तराधीनप्रकाशः व्यवहार्यत्वाद्, घटवदित्याद्यनुमानविरोधाच्च । न च व्यवहार्यत्वमसिद्धमिति वाच्यत्, 'आत्मा व्यवहार्यो न भवति'—इत्यस्यैव व्यवहारस्यात्मगोचरत्वेन स्ववचनविरुद्धत्वात् ।

नन्वेवं सत्येकस्यैव कर्तृत्वं कर्मत्वं च विरुद्धमिति चेत्, मैवम्, भवन्मते कर्तृत्वकरणत्वकर्मत्वानामिवास्मन्मते कर्तृत्वकर्मत्वयोरप्येकस्यैवोपपत्तेः, आत्मन

में प्रदर्शित "स्वयं ज्योतिरसौ पुरुषः" (बृह० उ० २।३।६) इत्यादि वेदान्त वाक्य स्वय "स मानसीन आत्मा जनानाम्" (चित्सु० ११।१।२) इत्यादि मानस ज्ञान विषयत्व-प्रतिपादक श्रुतियों से विरुद्ध पड़ जाते हैं, अतः उदाहृत वेदान्त वाक्यों का आत्मा की स्वप्रकाशता में कदापि तात्पर्य नहीं हो सकता । 'आत्मा ज्ञानान्तराधीनप्रकाशः, व्यवहार्यत्वाद्, घटवत्'—इस अनुमान से भी विरुद्ध स्वप्रकाशत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती । 'आत्मा व्यवहार्य नहीं'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि आपको 'आत्मा व्यवहार्यो न भवति'—इस प्रकार के निषेध-व्यवहार की विषयता आत्मा में अवश्य माननी पड़ेगी, अन्यथा व्यवहार्यता का निषेध न हो सकने के कारण व्यवहार्यता अक्षुण्ण रह जाती है [श्री चिदानन्द भी यही कहते हैं—'आत्मा ज्ञानान्तराधीनप्रकाशः, व्यवहार्यत्वाद्, घटवत् । न च व्यवहार्यत्वमसिद्धम् आत्मा व्यवहार्यो न भवतीत्यस्यैव व्यवहारस्य तद्गोचरत्वेन स्ववचनविरुद्धत्वात् । "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः", "आत्मैवास्य ज्योतिरित्यादिवचनात् स्वप्रकाशत्वमिति चेत्, न, पूर्वोक्तप्रमाणविरुद्धार्थत्वात् "स मानसीन आत्मा जनानाम्"—इति श्रुत्यन्तरविरुद्धत्वाच्च । तस्मादात्मा मानसप्रत्यक्षगम्यः" (नीति० पृ० १३०–३१)] ।

शङ्का—यदि आत्मा अपने ज्ञान का स्वयं आप विषय होता है, तब कर्तृत्व और कर्मत्व—दो विरुद्ध धर्म एक ही आत्मा में प्रसक्त होते हैं,

एव कर्तृत्वकर्मत्वयोर्लौकिकवैदिकप्रयोगगम्यत्वाच्च । आत्मानं जानीहीति हि लौकिकाः प्रयुञ्जते, आत्मा द्रष्टव्यः इति श्रूयते च । ज्ञानजन्यफलभागित्वलक्षणं कर्मत्वं पुनरात्मनः स्वयंप्रकाशवादिभिरप्यवश्याश्रयणीयम्, अन्यथात्मन एवाप्रकाशमानत्वप्रसङ्गात् । तस्मान्मानसप्रत्यक्ष एवात्मा ।

स च देहेन्द्रियज्ञानसुखेभ्यो व्यतिरिच्यते ।
नानाभूतो विभुर्नित्यो भोगस्वर्गापवर्गभाक् ॥ २३ ॥

अत्र केचित् स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यादिप्रत्ययानां शरीरगतस्थौल्यकार्श्यादि-

---

किन्तु 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति'—इत्यादि सभी स्थलों पर देवदत्त में गमन क्रिया का कर्तृत्व एवं उससे भिन्न ग्रामादि में कर्मत्व होता है, अतः कर्तृत्व और कर्मत्व का एकत्र रहना विरुद्ध क्यों नहीं ?

समाधान जैसे आप अद्वैत वेदान्ती के सम्मत "आत्मा स्वयंज्योतिषा आत्मानं प्रकाशयति'—इत्यादि व्यवहारों के आधार पर आत्मा में कर्तृत्व, करणत्व और कर्मत्व—तीनों विरुद्ध धर्मों का एकत्र समावेश माना जाता है, वैसे ही हमारे मत में कर्तृत्व और कर्मत्व का एकत्र समावेश क्यों नहीं हो सकता ? लौकिक और वैदिक प्रयोगों के आधार पर भी कर्तृत्व और कर्मत्व की एकत्र सिद्धि होती है, क्योंकि 'आत्मानं जानीहि'—ऐसा लौकिक जन प्रयोग करते हैं और "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः" (बृह० उ० २।४।५) इत्यादि वैदिक प्रयोग प्रसिद्ध हैं। जैसे देवदत्तगत गमन क्रिया से जनित प्राप्ति रूप फल की आश्रयतारूप कर्मता ग्रामादि में मानी जाती है, वैसे ही आत्मवृत्ति ज्ञान से जनित प्राकट्यरूप फल की आधारता आत्मस्वयंप्रकाशवादियों को भी माननी होगी, अन्यथा आत्मा का प्रकाश नहीं हो सकेगा, अतः आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय होने के कारण प्रत्यक्ष माना जाता है ।

वह आत्मा देह, इन्द्रिय, ज्ञान और सुखादि से भिन्न, शरीर-भेद से नाना, विभु, नित्य तथा स्वर्गापवर्गादि फलों का भोक्ता माना जाता है ॥ २३ ॥

चार्वाकगणों का जो कहना है कि 'स्थूलोऽहम्', 'कृशोऽहम्'—

विषयत्वात् स्थौल्यकार्श्याद्यधिकरणं शरीरमेवात्मेति सङ्गिरन्ते। तदयुक्तम्, आत्मविशेषगुणानां सुखदुःखादीनां शरीरगुणत्वानुपपत्तेः। यदि सुखदुःखादयः शरीरविशेषगुणाः, तर्हि ते यावच्छरीरमवतिष्ठेरन्, न हि ते मृतशरीरेषूपलभ्यन्ते। तस्मात् सुखदुःखादीनामन्याश्रयत्वमवश्याश्रयणीयम्—इति सिद्धः सुखदुःखाद्याश्रयस्यात्मनस्तदनाश्रयाद् देहाद् भेदः। स्थूलोऽहं कृशोऽहमित्यादिबुद्धिस्तु शरीरात्मनोरत्यन्तसंसृष्टतया तोयौष्ण्यप्रत्ययवदिति द्रष्टव्यम्। दृश्यते च मम शरीरमिति शरीरात्मनोर्भेदव्यपदेशः।

न चेन्द्रियाणामात्मत्वम्, तत्र बाह्येन्द्रियाणां भौतिकत्वात्, भूतेषु चात्मगुणानां चैतन्यादीनामनुपलम्भात् कार्यगुणस्य च कारणगुणपूर्वकत्वनियमाद-

---

इत्यादि प्रतीतियाँ शरीरगत स्थौल्यादि को ही विषय करती हैं, अतः स्थौल्य, कार्श्यादि धर्मों का आधारभूत भौतिक शरीर ही आत्मा है। उनका वह कहना अयुक्त है, क्योंकि आत्मा के सुख-दुःखादिरूप विशेष गुण कभी भी शरीर के गुण नहीं माने जा सकते, क्योंकि गुण यावद् द्रव्यभावी अर्थात् जब तक उनका आश्रयीभूत द्रव्य रहता है, तब तक उसमें विद्यमान रहते हैं, किन्तु मृत शरीर में सुख-दुःखादि का अनुभव नहीं होता, अतः वे शरीर के गुण क्योंकर होंगे ? अतः सुख-दुःखादि का शरीर से भिन्न आश्रय मानना होगा। फलतः सुख-दुःखादि का आश्रयीभूत आत्मा का सुखादि के अनाश्रयीभूत शरीर से भेद सिद्ध हो गया। 'स्थूलोऽहम्', 'कृशोऽहम्'—इत्यादि व्यवहार शरीर और आत्मा का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण वैसे ही औपचारिक हो जाते हैं, जैसे अग्नि के सम्बन्ध से जल में उष्णता का व्यवहार। जो वस्तु जहाँ नहीं होती, वहाँ उसके व्यवहार को औपचारिक या भाक्त माना जाता है, शरीर में भी आत्मा का अभेद नहीं, भेद ही रहता है, क्योंकि 'मम शरीरम्'—इस प्रकार का भेद-व्यवहार सर्वजनीन है।

इन्द्रियों को भी आत्मा नहीं माना जा सकता, क्योंकि इन्द्रियों में बाह्य इन्द्रियाँ तो भौतिक ही होती है, पृथिव्यादि भूतों में आत्मा के

चेतनभूताख्यानां तेषामात्मत्वं निराकरणीयम्। इयमेव युक्तिर्देहात्मवादि-निराकरणेऽपि समर्थेत्यवगन्तव्यम्।

अपरोक्षतया सिद्धरूपादात्मनस्तत्समवेतसुखदुःखाद्यापरोक्ष्यसाधनेन्द्रिय-त्वेन साध्यरूपस्यान्तःकरणस्य भेदावगमः पुनरनायाससाध्य एव।

न च ज्ञानमेवात्मा, तस्य क्षणिकत्वात्। आत्मनस्तु योऽहं प्राक् दुःख-मन्वभूवं स एवेदानीं सुखमनुभवामीति पूर्वापरकालयोरेकत्वावगमाद् अक्षणि-कत्वसिद्धेः। यस्य मे पूर्वं सुखमासीत् तस्यैवेदानीं दुःखमनुवर्तत इति पूर्वापर-कालयोरात्मन एकत्वावगमेऽपि सुखनिवृत्त्यनुसन्धानविरोधात् सुखरूपत्वमप्या-त्मनो निराकरणीयम्।

तत्र पुनरौपनिषदाः विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादिवेदान्तवाक्यबलादात्मनो

चैतन्यादि गुण उपलब्ध नहीं होते, कारण के गुण ही कार्य में सजातीय गुणों के आरम्भक माने जाते हैं, अतः अचेतनात्मक भूतों के कार्यभूत बाह्य इन्द्रियों में चैतन्य या आत्मत्व कभी सिद्ध नहीं हो सकता। आन्तर इन्द्रिय केवल मन है, वह अपरोक्षभूत आत्मा में विद्यमान सुख-दुःखादि गुणों की अपरोक्षता का साधन है, साधन या करण का कर्त्ता से नैसर्गिक भेद होता है।

योगाचार-सम्मत विज्ञान को भी आत्मा नहीं कह सकते, क्योंकि विज्ञान क्षणिक होता है और 'योऽहं प्राक् दुःखमन्वभूवम्, स एवेदानीं सुखमनुभवामि'—इस प्रकार पूर्वापरकालीन आत्मा की एकत्व—प्रत्यभिज्ञा से आत्मा में क्षणिकत्व-विरोधी स्थिरत्व सिद्ध होता है। आत्मा को सुखरूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि 'यस्य मे पूर्वं सुखमासीत् तस्यैवेदानीं दुःखमनुवर्तते--इस प्रकार पूर्वापरकालीन आत्मा की एकता का भान होने पर भी सुख की निवृत्ति का अनुसन्धान हो रहा है, अतः आत्मा को सुख रूप क्यों मान सकेंगे ?

औपनिषद मत—वेदान्तिगण "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृह० उ० ३।९।३४) इत्यादि वेदान्त वाक्यों के बल पर आत्मा को विज्ञानानन्दरूप

विज्ञानानन्दरूपत्वं समर्थयन्ति । न च विज्ञानस्य क्षणिकत्वाद् आत्मनश्च नित्यत्वादात्मनो विज्ञानात्मकत्वमयुक्तमिति वाच्यम्, विज्ञानस्य नित्यत्वाभ्युपगमात् । नीलपीतादिविज्ञानविशेषेष्वपि नीलपीताद्युपहितं विज्ञानमेकमेवेति वयमभ्युपगच्छामः । न च विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यत्र त्रयाणामपि पदानामैकार्थ्ये सत्येकेनैव पदेन चरितार्थत्वादितरपदद्वयाम्नानवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, व्यवच्छेद्यभेदादेकार्थत्वेऽपि वैयर्थ्यानुपपत्तेः, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इतिवत् । अत्र खल्वस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कतमश्चन्द्र इति चन्द्रप्रतिपादकप्रश्नस्योत्तरभूते प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्ये प्रकृष्टपदस्याप्रकृष्टनक्षत्रादिकं व्यावर्त्य प्रकाशपद-

---

कहते हैं। 'विज्ञान क्षणिक है और आत्मा स्थिर, अतः आत्मा विज्ञान प क्योंकर होगा ? इस प्रकार का सन्देह इस औपनिषद मत में नहीं कर सकते, क्योंकि इसमें विज्ञान को भी नित्य ही माना जाता है, क्षणिक नहीं। नील-पीतादि विषय के भेद से ज्ञान में जो भेद प्रतीत होता है, वह औपाधिक है, स्वरूपतः ज्ञान एक और नित्य ही होता है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म—यहाँ तीनों पद जब एक ही अर्थ का प्रतिपादन करते हैं, तब तीन पदों की क्या आवश्यकता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि 'विज्ञान' पद से अचेतन या जड़ और 'आनन्द' पद से दुःख की व्यावृत्ति की जाती है, नहीं तो आत्मा में जड़ और दुःखरूपता भी प्रसक्त हो जाती। व्यावर्त्य के भेद से व्यावर्तक पदों का सार्थक्य 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—इत्यादि लक्षण वाक्यों में भी माना जाता है—'प्रकृष्ट' पद से खद्योतादि निकृष्ट प्रकाश और 'प्रकाश' पद से प्रकृष्ट ध्वान्त की व्यावृत्ति की जाती है प्रकृष्ट और प्रकाश—दोनों पद एक ही अखण्ड चन्द्ररूप अर्थ का बोध कराते है, क्योंकि कोई प्रश्न करता है—'अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कतमश्चन्द्रः ? इस प्रश्न वाक्य में कई पद हैं, तथापि पूरे प्रश्न का तात्पर्य एक चन्द्ररूप प्रातिपदिकार्थ में ही माना जाता है, अत एव उस प्रश्न के 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—इस उत्तर वाक्य का भी तात्पर्य उसी चन्द्ररूप प्रातिपदिकार्थ में ही मानना होगा, अन्यथा प्रश्न और उत्तर का वैयधि-

स्याप्रकाशतिमिरादिकमिति व्यवच्छेद्यभेदादवैयर्थ्यं भवति। एवमविज्ञानानानन्दव्यवच्छेदार्थं विज्ञानानन्दपदद्वयम्।

अपिच प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इत्यत्र प्रकृष्टप्रकाशपदयोरन्योन्यं चन्द्रपदेन चाभिन्नार्थत्वमङ्गीकरणीयम्, अन्यथा चन्द्रप्रातिपदिकार्थस्य पृष्टत्वात् तदितरस्य कथनेन प्रश्नोत्तरयोः परस्परमसङ्गतिप्रसङ्गात्। तस्माद् विज्ञानानन्दपदयोः परस्परं ब्रह्मपदेन चाभिन्नार्थत्वमवश्याश्रयणीयम्।

अत एवाखण्डमेव वयं वाक्यार्थमङ्गीकुर्मः। प्रयोगश्च भवति—विज्ञानादिपदमखण्डनिष्ठम्, लक्षणवाक्यत्वात्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इतिवदिति। अतः सिद्धं विज्ञानानन्दपदयोरेकार्थत्वमपर्यायत्वमवैयर्थ्यं च।

करण्य हो जायगा। [पञ्चपादिकाचार्य ने भी कहा है—"व्यक्तिविशेषः कश्चित् चन्द्रप्रातिपदिकाभिधेयः केनचित् पृष्टः—अस्मिन् ज्योतिर्मण्डले कश्चन्द्रो नाम ? तस्य प्रतिवचनम्-प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति। तदेवं प्रतिवचनं भवति—यदि यथा चन्द्रपदेनोक्तम्, तथा आभ्यामपि पदाभ्यामुच्येत" (पं० पा० पृ० ३२४)]। अतः अविज्ञान और अनानन्द की व्यावृत्ति करने के लिए विज्ञान और आनन्द—ये दो पद रखे गये हैं। 'प्रकृष्ट प्रकाशश्चन्द्रः'—यहाँ प्रकृष्ट और प्रकाश—इन दोनों पदों का परस्पर एवं 'चन्द्र' पद के साथ अभिन्नार्थकत्व मानना ही होगा, अन्यथा चन्द्र प्रातिपदिकार्थविषयक प्रश्न के उत्तर में अन्यार्थ का कथन असङ्गत हो जायगा, इस लिए विज्ञान और आनन्द—इन दोनों पदों का परस्पर 'एवं 'ब्रह्म' पद के साथ अभिन्नार्थकत्व अवश्य मानना होगा। अत एव हम (अद्वैत वेदान्ती) महावाक्यों का अखण्ड ही अर्थ मानते हैं, उसके अनुरूप प्रयोग भी किया जाता है—विज्ञानादिपदमखण्डार्थबोधकम्, लक्षणवाक्यत्वात्, प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इतिवत्'। इस प्रकार विज्ञान और आनन्द—इन दोनों पदों में एकार्थत्व, अपर्यायत्व और अवैयर्थ्य सिद्ध हो जाता है। [श्री चित्सुखाचार्य ने कहा है—"व्यावृत्तिद्वारा पदानां स्वरूपमात्रपर्यवसायित्वाङ्गीकाराद् व्यावर्त्यभेदेनावैयर्थ्याच्च "सत्यं ज्ञान-

अत्र ब्रूमः—

वाक्यार्थं हि गुरुः कार्यमखण्डं शङ्करोऽब्रवीत् ।
संसर्गापरपर्यायं विशिष्टं ब्रूमहे वयम् ॥ २४ ॥

तत्र कार्यवाक्यार्थनिरासप्रकारं गुणनिर्णये वर्णयिष्यामः । नाप्यखण्डं वाक्यार्थः, सर्वेषां पदानामेकस्मिन्नेवार्थे तात्पर्ये सत्येकेनैव पदेन तस्यार्थस्य प्रतिपादितत्वादितरपदाम्नानवैयर्थ्यस्य दुष्परिहरत्वात् । न च व्यवच्छेद्यभेदादवैयर्थ्यमिति वाच्यम्, एकार्थत्वे पर्याययोरिव व्यवच्छेद्यभेदानुपपत्तेः, न हि हस्तः कर इत्यादिषु कश्चिदपि व्यवच्छेद्यभेदः ।

नापि प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्र इति वाक्यमखण्डनिष्ठम्, तस्य वाक्यस्य संज्ञासंज्ञि-

---

मनन्तं ब्रह्म" इत्यादौ सत्यज्ञानानन्तशब्दा अनृतजडदुःखान्तवत्त्वानात्मत्वभ्रान्तिनिवृत्तिपरा लक्ष्ये ब्रह्मणि पर्यवस्यन्ति" (चित्सु० पृ० १९६)]।

औपनिषद मत की आलोचना– प्रभाकर गुरु वाक्यार्थ कार्यरूप और श्री शङ्कराचार्य अखण्डार्थ को ही वाक्यार्थ मानते हैं किन्तु हम (भाट्टानुयायी) संसर्गापरपर्याय विशिष्टार्थ को वाक्यार्थ कहते हैं ॥ २४ ॥ कार्य या नियोग की वाक्यार्थता का निरास-प्रकार गुण-प्रकरण में कहा आयगा । यहाँ हमारा कहना है—'नाखण्डं वाक्यार्थः,' क्योंकि वाक्य-घटक सभी पदों का यदि एक अखण्ड ही वाक्यार्थ माना जाता है, तव एक ही पद के द्वारा ही वह एक अर्थ प्रतिपादित हो जाता है, इतर पदों का उच्चारण व्यर्थ है । यह जो कहा गया है कि सभी पदों का व्यावर्त्य अर्थ भिन्न-भिन्न होने के कारण वैयर्थ्यापत्ति नहीं होती । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि जब सभी पदों का एक ही अर्थ वाच्य माना जाता है, तब न तो भिन्न-भिन्न अर्थ होता है और न भिन्न-भिन्न व्यावर्त्य, जैसे कि 'हस्तः करः'—यहाँ पर एकार्थक दो पदों का भिन्न-भिन्न व्यावर्त्य नहीं होता ।

यह जो कहा गया कि 'प्रकृष्टप्रकाशः चन्द्रः'—यह लक्षण-वाक्य अखण्डार्थ का बोधक है, वह भी सत्य नहीं, क्योंकि वह वाक्य संज्ञा-

सम्बन्धप्रतिपादनमात्रपरत्वात्। नाप्येवं सति प्रश्नोत्तरयोरसङ्गतिप्रसङ्गः, प्रश्नस्यापि कस्यात्र चन्द्रसंज्ञेति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धविषयत्वात्। दृश्यमानस्य चन्द्रस्वलक्षणमात्रस्य प्रश्नोऽप्यनुपपन्न एव। अतः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्याज्ञातस्यैव प्रश्नावकाशः। तत्र च प्रकर्षविशिष्टप्रकाशोपलक्षितश्चन्द्रपदार्थं इत्युत्तरमपि सुस्थिरं भवति। तस्मात् विज्ञानमानन्दं ब्रह्म इत्यादिवाक्यं विज्ञानादिविशिष्टात्मस्वरूपविषयमेव न पुनरखण्डार्थविषयम्।

विज्ञानमानन्दं ब्रह्मेति सामानाधिकरण्यं पुनर्मधुरो गुड इतिवद् भेदसहिष्णोरभेदादिति द्रष्टव्यम्। किञ्च स एको ब्रह्मण आनन्दः आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् इति श्रुतिरप्यानन्दात्मनोः परस्परभेदं प्रतिपादयति। तस्मात् विज्ञानानन्दात्मानः परस्परं भिन्ना एव। विज्ञानस्य नित्यत्वाभ्युपगमः पुनः अवेदयन्नेवाह-

---

और संज्ञी के सम्बन्ध का प्रतिपादक होता है। ऐसा मानने पर प्रश्न और उत्तर वाक्य का वैरूप्य भी प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि प्रश्न का भी 'कस्यात्र चन्द्रसंज्ञा ?'—इस प्रकार संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध ही विषय होता है। दृश्यमान चन्द्ररूप प्रातिपदिकार्थ के विषय में न प्रश्न हो सकता है और न उत्तर। फलतः संज्ञासंज्ञिसम्बन्धरूप अज्ञात वस्तु के विषय में प्रश्न और उत्तर हो सकते हैं। प्रकर्ष-विशिष्ट चन्द्रोपलक्षित ही चन्द्र पदार्थ है—ऐसा उत्तर सुस्थिर हो जाता है, अतः 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'—इत्यादि वाक्य विज्ञानादि-विशिष्ट आत्मस्वरूप के ही समर्पक हैं, अखण्डार्थक नहीं।

विज्ञानम् आनन्दं ब्रह्म—इन पदों का सामानाधिकरण्य 'मधुरो गुड़ः' के समान भेद-सहिष्णु अभेद को लेकर उपपन्न हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि "स एको ब्रह्मण आनन्दः" (तै० उ० २।८) एवं "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" (तै० उ० २।४) इत्यादि श्रुतियाँ भी आनन्द और आत्मा के परस्पर भेद का प्रतिपादन करती हैं, अतः विज्ञान, आनन्द और आत्मा—तीनों परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। विज्ञान की नित्यता का उपपादन कभी नहीं हो सकता, क्योंकि 'अवेदयन्नेवाहमियन्तं कालम-

मियन्तं कालमस्वाप्सम्—इति सुषुप्तौ विज्ञानाभावानुसन्धानादनुपपन्न एव। सुखमहमस्वाप्समिति सुखानुभवानुसन्धानं पुनरखिलदुःखनिवृत्तिमात्रपरम्, अन्यथा कामिनीसम्भोगादिसुखलवलोपेन प्रबुद्धस्य दुःखोत्पत्त्यभावप्रसङ्गात्। न ह्यनुभूतनिरतिशयब्रह्मसुखस्य क्षुद्रसुखपरिक्षयाद् दुःखोद्भवः सम्भाव्येत। अनुभूतमपि विस्मृतमिति चेत्, तर्हि कथं सुखमहमस्वाप्समिति सुखानुभवानुसन्धनात् विज्ञानस्य नित्यत्ववाचोयुक्तिः? इति सिद्धमात्मनो देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तत्वम्। सोऽयमात्मा सकलशरीरेष्वेक इत्यौपनिषदाः। तदपि नोपपद्यते, एकस्मिन् सुखिनि दुःखिनि वा सर्वेषामपि सुखदुःखानुसन्धानप्रसङ्गात्। न चास्त्येवानुसन्धानमिति वाच्यम्, देवदत्तपादलग्नकण्टकोद्धरणाय तत्करव्यापारवदितरेषा-

---

स्वाप्सम्'—इस प्रकार सुषुप्ति में विज्ञानाभाव का अनुसन्धान विज्ञान को अनित्य सिद्ध कर रहा है। 'सुखमहमस्वाप्सम्'—इस प्रकार सुखानुभव का अनुसन्धान तो सुषुप्ति में अखिल दुःख की निवृत्ति का ही गमक है, अन्यथा कामिनी-सम्भोगादिरूप स्वल्प सुख का विलोप हो जाने से प्रबुद्ध व्यक्ति को दुःख की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि जिसने ब्रह्मरूप निरतिशयानन्द का अनुभव कर लिया है, उसे एक क्षुद्रतम सुख का परिक्षय हो जाने से दुःखोद्भव नहीं हो सकता। अनुभूत सुख का यदि विस्मरण माना जाता है, तब 'सुखमहमस्वाप्सम्'—इस प्रकार सुखानुभव के अनुसन्धान से विज्ञान में नित्यता क्योंकर स्थापित होगी? फलतः आत्मा देह, इन्द्रिय, विज्ञान और सुख से भिन्न सिद्ध होता है।

'यह आत्मा सभी शरीरों में एक ही है'—ऐसा जो अद्वैतवेदान्ती मानते हैं। वह भी अनुपपन्न है, क्योंकि यदि सभी शरीरों में आत्मा एक ही है, तब उसके अदृष्ट से जनित सुख-दुःखादि समान रूप से सभी शरीरों में प्रतीत होंगे, किसी शरीर में सुख, किसी में दुःख—ऐसे वैषम्य का दर्शन नहीं होना चाहिए एवं सभी शरीरों के सुख दुःखादि का अनुसन्धान सभी शरीरों में होना चाहिए। सभी को सभी शरीरों के सुख-दुःखादि का अनुसन्धान प्रत्येक शरीर में होता है—ऐसा नहीं

मपि युगपदेव करतलव्यापारप्रसङ्गात्। न चेन्द्रियभेदादनुसन्धानवैधुर्यमिति वाच्यम्, इन्द्रियभेदेऽपि योऽहमश्रौषम्, स एव पश्यामीत्याद्यनुसन्धानदर्शनात्। न च देहभेदादननुसन्धानम्, देहभेदेऽपि जातिस्मराणामनुसन्धानदर्शनात्। न च जीवभेदादनुसन्धानाभावः, आत्मव्यतिरिक्तजीवसद्भावे प्रमाणाभावात्। "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" इति श्रुतिरात्मद्वयसद्भावे प्रमाणमिति चेत्, न, विकल्पासहत्वात्। तथाहि—इयं श्रुतिर्जीवपरयोर्भेदं प्रतिपादयति वा ? न वा ? नाद्यः, अद्वैतभङ्गप्रसङ्गात्। नापि द्वितीयः, आत्मद्वयसद्भावे प्रमाणाभावप्रसङ्गात्। ननु कल्पनानिर्मित एव भेद इति नाद्वैतहानिः, नापि पूर्वोक्तवेदनाननुसन्धानदोषानुषङ्ग इति चेत्, न, कल्पनामात्रनिर्मितस्य भेदस्य प्रामाणिकव्यवस्थाहेतुत्वानुपपत्तेः। अन्यथा कल्पनानिर्मित-

---

मान सकते, अन्यथा जैसे एक शरीर के पैर में चुभा काँटा निकालने के लिए उसी शरीर का हाथ सक्रिय हो जाता है, वैसे ही दूसरे शरीरों के हाथों को भी उधर सहसा प्रवृत्त हो जाना चाहिए। इन्द्रियों के भेद से अनुसन्धान नहीं हो पाता ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि विभिन्न इन्द्रियों की अनुभूतियों का अनुसन्धान पाया जाता है—'योऽहमश्रौषम्, स एव पश्यामि'। देह-भेद भी अनुसन्धान में बाधक नहीं होता, क्योंकि कतिपय 'जातिस्मर' कहे जानेवाले व्यक्ति अपने विभिन्न शरीरों की सत्य-सत्य घटनाएँ सुनाते हुए पाये जाते हैं। जीव-भेद से अनुसन्धान का न होना उचित ही है, क्योंकि जीव ही आत्मा कहलाता है, आत्मा से भिन्न कभी जीव नहीं होता। "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" (मुण्डको० ३।१।१) यह श्रुति भी न तो ब्रह्म से जीव का भेद कह सकती है और न ब्रह्म से जीव का अभेद, अन्यथा प्रथम पक्ष में अद्वैतवाद की हानि होगी और द्वितीय पक्ष में जीव-भेद सिद्ध नहीं होगा। काल्पनिक भेद भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उससे काल्पनिक व्यवस्था का ही निर्वाह हो सकता है, परमार्थिक व्यवस्था का नहीं। काल्पनिक पदार्थ से प्रामाणिक कार्य का सम्पादन मानने पर शुक्ति-

रजतभावेन शुक्तिशकलेनापि कटकमकुटादिनिर्माणप्रसङ्गात्। तस्माद् "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः", "एक एव च भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः"-इत्यादि-श्रौतस्मार्तवचनानि प्रमाणान्तरविरोधात् न यथाश्रुतेऽर्थे प्रमाणं सहस्रसंवत्सर सत्रवाक्यवत्। तत्र हि कर्तव्यत्वप्रतिपादनविरोधात् सहस्रसंवत्सरपदं सहस्रदिवसपरतया व्याख्यातमाचार्यैः। तत् सिद्धमात्मा प्रतिक्षेत्रं भिन्न इति।

ननु कथमात्मनो विभुत्वम्? श्रूयताम्—युगपदेव चरणशिरसोः कण्टकविद्धस्य समकालमेव वेदनाद्वयानुसन्धानदर्शनादणुत्वं तावदनुपपन्नम्। मध्यमपरिमाणत्वे तु शरीरतुल्यपरिमाणत्वमङ्गीकर्तव्यम्। अधिकपरिमाणत्वे शरीरान्तःप्रवेशाभावप्रसङ्गात्, न्यूनपरिमाणत्वे तु शिरःपादवेदनयोर्युगपदनु-

---

रजतादि से भी वास्तविक कटक, मुकुटादि आभूषणों का निर्माण होना चाहिए। अतः "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वेता० ६।११), "एक एव च भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः" (त्रि. ता. ५।१२) इत्यादि अद्वैत-प्रतिपादक श्रौत और स्मार्त वाक्य प्रमाणान्तर से विरुद्ध होने के कारण अपने यथाश्रुतार्थ में वैसे ही प्रमाण नहीं माने जा सकते, जैसे कि एक हजार वर्षों में सम्पन्न होनेवाले सत्र कर्म के प्रतिपादक वाक्य अपने यथाश्रुतार्थ में प्रमाण नहीं माने जाते, क्योंकि हजार वर्ष तक कोई मनुष्य जीवित ही नहीं रह सकता कि उस सत्र का अनुष्ठान सम्पन्न करे, अत एवाचार्यों ने वहाँ 'सहस्र सवत्सर' का अर्थ 'सहस्र दिवस' किया है। फलतः आत्मा प्रत्येक शरीर में भिन्न सिद्ध होता है।

आत्मा को विभु क्यों माना जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्राणियों को जो शिर और पैर में काँटा चुभने की पीड़ा का एक ही समय अनुभव होता है, वह आत्मा को अणु मानने पर उपपन्न नहीं हो सकता। आत्मा का मध्यम परिमाण मानने पर उतना ही परिमाण मानना होगा, जितना कि शरीर का परिमाण है, क्योंकि शरीर से अधिक परिमाण मानने पर शरीर में आत्मा समा न सकेगा और शरीर से न्यून परिमाण मानने पर पूरे शरीर में व्याप्त न हो सकेगा, तब शिर

सन्धानाभावप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात्। तर्हि शरीरपरिमाणत्वमेवास्त्विति चेत्, मैवम्, गजादिगतस्यात्मनः पिपीलिकादिदेहानुप्रवेशाभावप्रसङ्गात्, तदभावे च वहुविधश्रुतिस्मृतिविरोधात्, तस्मात् पारिशेष्यात् सिद्धं विभुत्वम्। "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्"—इत्यादिभिः श्रुतिभिश्च विभुत्वसिद्धिः। नित्यत्वं पुनः अविनाशी वा अरे अयमात्मा इत्यादिश्रुतेरनवयवद्रव्यत्वाद् विभुत्वाच्च गगनादिवत् साधनीयम्।

ननु कौ पुनः स्वर्गापवर्गौ नाम? लौकिकेषु सुखदुःखेष्वेव स्वर्गनरकादि-

---

और पाद की वेदनाओं का युगपत् अनुसन्धान कैसे हो सकेगा? शरीर के समान परिमाण मान लेने पर गजादि-शरीरों का लम्वा-चौड़ा आत्मा चींटी के छोटे से शरीर में कैसे प्रविष्ट होगा? वड़े शरीर के आत्मा को छोटा शरीर मिलता ही नहीं—ऐसा मानने पर श्रुतियों, स्मृतियों का विरोध होता है, क्योंकि धर्म शास्त्रों की व्यवस्था के अनुसार किसी भी शरीर का आत्मा छोटे या वड़े किसी भी शरीर में जा सकता है, [अत एव जैनों ने आत्मा का मध्यम परिमाण मानते हुये प्रदीप के समान संकोच-विकासशील माना है—"प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यां प्रदीपवत्" (तत्त्वार्थ० ५।१६)। अत एव श्री पार्थसरथिमिश्र ने कहा है—"पुत्तिकाहस्तिदेहयोरतिसंकोचविस्तारकल्पनं नातीव हृदयमनुरञ्जयति" (शा० दी० पृ० १२४)। श्री चिदानन्द पण्डित ने सामान्यतः मध्यम परिमाण पर दोष दिया है—"मध्यमपरिमाणत्वे च कार्यत्वेन अनित्यताप्रसङ्गात्" (नीति० पृ० २२२)]। अतः आत्मा में विभुत्व ही शेष रहता है। "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" (श्वेता० ३।९) इत्यादि श्रुतियों से आत्मा में विभुत्व सिद्ध होता है। "अविनाशी वा अरे आत्मा अनुच्छित्तिधर्मा" (बृह. उ. ४।५।१४) इत्यादि श्रुतियों तथा निरवयवद्रव्यत्व और विभुत्वादि हेतुओं के द्वारा आत्मा में नित्यत्व सिद्ध किया जा सकता है।

स्वर्ग और अपवर्ग क्या है? इस प्रश्न का उत्तर जो देहात्मवादी

व्यपदेशः, मोक्षस्तु शरीरपात एव—इति देहात्मवादिनश्चार्वाकस्य मतम् । तत्तु देहव्यतिरिक्तात्मसद्भावप्रतिपादनेन निरस्तं वेदितव्यम् । स्वर्गस्तु वक्ष्यते ।

सौगतास्तु नीलपीतादिविषयोपधानविलये सति निरुपधानस्य बोधसन्तानस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्षमाचक्षते । तदयुक्तम्, निर्विषयस्य बोधसन्तानस्य स्वयमवस्थानानुपपत्तेः । क्षणे क्षणे निरन्तरमुपजायमानेषु विनश्यत्सु च बोधसन्तानेषु कस्यापि मोक्षफलानुभवानुपपत्तेः मुक्तेरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गाच्च ।

एकविंशतिप्रभेददुःखोच्छेदो मोक्ष इति तार्किकाः कीर्तयन्ति । देहः, षडिन्द्रियाणि, षड्विषयाः, षड्बुद्धयः, सुखं दुःखं चेत्येकविंशतिप्रभेदं च दुःखमाचक्षते । तत् सुखस्यापि विनाशेन मुक्तेरपरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गादुपेक्षणीयम् । न च सुषुप्तेरिव मुक्तेरपि दुःखाभावमात्रेण समीहितत्वमिति वाच्यम्, दुःखा-

---

चार्वाकगण देते हैं कि लौकिक सुख स्वर्ग, दुःख नरक तथा शरीर-पात मोक्ष है। वह देहादि से भिन्न आत्मा के सिद्ध कर देने पर अपने-आप निरस्त हो जाता है। स्वर्ग का स्वरूप आगे कहा जायगा।

सौगतगण जो नील-पीतादि विषयरूप उपाधि का विलय हो जाने पर उपाधि-रहित विज्ञान सन्तति का स्वरूपेण अवस्थान मोक्ष मानते हैं। वह भी अयुक्त है, क्योंकि निर्विषयक विज्ञान-सन्तति का स्वयं अवस्थान सम्भव नहीं। क्षण-क्षण में निरन्तर उत्पत्ति-विनाश से ग्रस्त किसी भी ज्ञानक्षण को मोक्षरूप फल का अनुभव नहीं हो सकता, अननुभूत वस्तु में पुरुष की अभिलाषा न होने के कारण उक्त मोक्ष में पुरुषार्थता ही उपपन्न नहीं होती।

तार्किकगण कहते हैं कि इक्कीस दुःखों का उच्छेद ही मोक्ष पदार्थ है। न्यायवार्तिककार ने सभी इक्कीस दुःख गिनाए हैं। "एकविंशतिप्रभेदभिन्नं पुनर्दुःखम्—शरीरं, षड् इन्द्रियाणि, षड् विषयाः, षड् बुद्धयः, सुखम्, दुःखं च" (न्या० वा० पृ० २)। तार्किकों के इस मोक्ष में सुख का भी विनाश मान लिया गया है, असुखरूप मोक्ष में भी पुरुषार्थत्व नहीं बनता, अतः यह भी पूर्ववत् उपेक्षणीय ही है। यदि

भावसमीहितस्याल्पविषयत्वात्। अन्यथा विस्मृत्य सुप्तोत्थितस्य दुःखाभावेऽनुसन्धीयमानेऽपि कामिनीसम्भोगादिसुखलवलोपनिमित्तदुःखानुषङ्गाभावप्रसङ्गात्। तस्मात् स्वर्गादिसुखमुन्मुच्य मोक्षमात्राकाङ्क्षा न मोक्षस्य दुःखाभावमात्रस्वरूपत्वे संभवति।

एतेन सकलबुद्ध्यादिविशेषगुणविलये सत्यात्मनः स्वरूपावस्थानं मोक्ष इति प्राभाकरमतमपि निरस्तं वेदितव्यं सुखविलयादपुरुषार्थत्वस्य तुल्यत्वात्। सततोर्ध्वगमनादयस्तु दूरापास्ताः, तेषामपरपुरुषार्थत्वस्य स्पष्टत्वात्।

कहा जाय कि मोक्ष में पुरुषार्थता का निष्पादन करने के लिए सुख या सुखरूपता मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि जैसे सुषुप्ति में दुःख का अभाव होने मात्र से पुरुषार्थता अनुभूत होती है, वैसे ही दुःखाभावरूप मोक्ष में पुरुषार्थता निभ जाती है। तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि केवल दुःखाभाव का होना पुरुषार्थता के लिए पर्याप्त नहीं, सुख का भी होना आवश्यक है। अन्यथा सुषुप्ति से उठे पुरुष को दुःखाभाव का स्मरण होने के साथ-साथ सुषुप्ति में स्वाप्न कामिनी-सम्भोग-जनित सुख के विलोप से जो महान् क्लेश होता है, वह नहीं होना चाहिए, क्योंकि दुःखाभावरूप परम पुरुषार्थ का सुषुप्ति में जब लाभ हो गया, तब एक स्वल्प सुखाभास के न होने का दुःख क्यों होगा ? अतः स्वर्ग के समान अनुपम सुख-सम्पत्ति को लात मार कर मोक्ष की लालसा महापुरुषों में होती है, वह मोक्ष में केवल दुःखाभाव के कारण नहीं हो सकती, मोक्ष में सुख या सुखरूपता मानना परम आवश्यक है।

प्रभाकर गुरु का कहना है कि ज्ञानादि सकल विशेष गुणों का विलय हो जाने पर आत्मा की जो स्वरूप में अवस्थिति है, वही मुक्ति है, जैसा कि श्री शालिकनाथ मिश्र कहते हैं—"आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्षः" (प्र० पं० पृ० ३४१)। प्राभाकरसम्मत इस मोक्ष में भी सुख का विलोप हो जाने के कारण पूर्ववत् अपुरुषार्थता ही पर्यवसित होती है।

प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानात् पुरुषस्य स्वरूपावस्थानं मोक्ष इति साङ्ख्याः। तस्याप्यानन्दव्यतिरेकसम्भवेनापुरुषार्थत्वमेव ।

प्रपञ्चविलयो मोक्ष इति शाङ्कराः। न च तस्यापुरुषार्थत्वम्, आत्मन आनन्दमयत्वाभ्युपगमात्। तदपि न सङ्गच्छते, प्रपञ्चविलयस्यैवाभावात्। ननु प्रपञ्चस्य मायामयत्वादुपपद्यत एव विज्ञानोदये विलयः शुक्तिकास्वरूपावबोधे रजतावबोधविलयवदिति चेत्, मैवम्, प्रपञ्चस्य मायामयत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वाद्, आत्मानन्दयोः परस्परभेदस्य समर्थितत्वाच्च आनन्दानुभवस्यैव पुरुषार्थत्वेन तद्भावप्राप्तेरपुरुषार्थत्वाच्च । कस्तर्हि मोक्षः? किं च तत्साधनम्?

जैनाचार्यों ने जो सतत ऊर्ध्व-गति को मोक्ष कहा है—"तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छन्त्यालोकान्तात्" (तत्त्वार्थ १०।५)। उसमें परम पुरुषार्थत्व सम्भव नहीं।

सांख्याचार्यों का मत है—प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान हो जाने पर आत्मा का स्वरूपावस्थान ही मोक्ष तत्त्व है—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (यो० सू० १।३)। इस मोक्ष तत्त्व में भी आनन्द का अभाव है, अतः पुरुषार्थता कैसे होगी ?

आचार्य शङ्कर का जो सिद्धान्त है कि प्रपञ्च का विलय ही मोक्ष तत्त्व है। प्रपञ्च-विलय आत्मस्वरूप और आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतः पुरुषार्थता की उपपत्ति हो जाती है। वह शाङ्कर सिद्धान्त भी संगत नहीं, क्योंकि प्रपञ्च का अत्यन्त विलय कभी सम्भव नहीं। प्रपञ्च को मायामय मानकर ज्ञान के द्वारा जो प्रपञ्च के विलय का उपपादन किया जाता है, वह संगत नहीं, क्योंकि प्रपञ्च मायामय नहीं, वास्तविक है—यह आगे कहा जायगा। दूसरी बात यह भी है कि आत्मा का आनन्द गुण है, आत्मा आनन्दरूप नहीं। पुरुषों की अभिलाषा भी 'सुखं मे स्यात्'—ऐसी ही होती है, 'सुखमहं स्याम्'—ऐसी नही, अतः आनन्दरूपता में पुरुषार्थता भी नहीं बनती।

तब मोक्ष क्या है और उसका साधन क्या ? इस प्रश्न का यथार्थ

उच्यते—

दुःखात्यन्तसमुच्छेदे सति प्रागात्मवर्तिनः ।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः ॥ २५ ॥

ननु यदि संसारावस्थायामप्यात्मसमवेत एवायमानन्दः, तर्हि कथं नानुभूयते ? अनुभवहेतोरभावादिति ब्रूमः । देहेन्द्रियादीनामात्यन्तिकपरिध्वंसानुगृहीतं मनस्तदनुभवसाधनम् । किं तर्हि तादृशानन्दसद्भावे प्रमाणम् ? "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते" इति श्रुतिरेव ।

न च "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" इति श्रुतिरानन्दानुभूतिबाधिकेति वाच्यम्, तस्या वैषयिकप्रियाप्रियस्पर्शनिवृत्तिमात्रपरत्वाद्, अन्यथा

उत्तर है कि दुःख का आत्यन्तिक समुच्छेद हो जाने पर जो आत्मा में पहले से ही वर्तमान आनन्द की मन के द्वारा अनुभूति होती है, उसे ही मोक्ष पदार्थ भाट्टगण मानते हैं ॥ २५ ॥

शङ्का—मोक्षावस्था में अनुभूयमान आनन्द यदि पहले से ही आत्मा में वर्तमान रहता है, तब संसारावस्था में उसकी अनुभूति क्यों नहीं होती ?

समाधान—संसारावस्था में उस आनन्द के अनुभव का साधन नहीं होता। देहेन्द्रियादि के आत्यन्तिक ध्वंस से युक्त मन ही उस आनन्दानुभूति का साधन है, संसारावस्था में देहादि के आवरण से आवृत होने के कारण मन उस सुख को ग्रहण करने में सक्षम नहीं हो पाता। यदि संसारावस्था में वह आनन्द अनुभूत नहीं होता, तब उसके सद्भाव में क्या प्रमाण ? इस प्रश्न के उत्तर में यह श्रुति प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है—"आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते" [ब्रह्म का वास्तविक रूप या गुण सुख होता है, जिसकी अभिव्यक्ति मोक्ष में ही होती है।

शङ्का—"अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" (छां० ८।१२।१) यह श्रुति कहती है कि शरीर के न रहने पर न सुख की अनुभूति होती है और न दुःख की, अतः मोक्षावस्था में अनन्दानुभूति

मुक्तेरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गात् ।

निषिद्धकाम्यकर्मभ्यः सम्यग्व्यावृत्तचेतसः ।
नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तप्रध्वस्तदुष्कृतेः ॥ २६ ॥
सुखदुःखानुभूतिभ्यां क्षीणप्रारब्धकर्मणः ।
युक्तस्य ब्रह्मचर्याद्यैरङ्गैः शमदमादिभिः ॥ २७ ॥
कुर्वाणस्यात्ममीमांसां वेदान्तोक्तेन वर्त्मना ।
मुक्तिः सम्पद्यते सद्यो नित्यानन्दप्रकाशिनी ॥ २८ ॥

सुखाद्यापरोक्ष्यसाधनेन्द्रियत्वेन कल्प्यमन्तरिन्द्रियं विभुपरिमाणमस्पन्दं च

क्योंकर होगी ?

समाधान—संसारावस्था में वैषयिक सुख की अनुभूति होती है, अतः शरीर के न रहने पर वैषयिक सुखादि का स्पर्श या ग्रहण सम्भव नहीं—यही उक्त श्रुति का तात्पर्य है । यदि मोक्षावस्था में स्वरूप सुख का ग्रहण न माना जाय, तब मुक्ति में पुरुषार्थता नहीं बन सकेगी। नित्यसुखाभिव्यक्ति के लिए मोक्ष में मन की सत्ता भी मानी गई है— "बाह्येन्द्रियाण्येव मुक्तस्य निवर्तन्ते मनस्तु तस्यामवस्थायामनुवर्तते" (शा० दी० पृ० १२७) । अतः जिस व्यक्ति ने निषिद्ध और काम्य कर्मों को त्याग दिया है, नित्य, नैमित्तिक और प्रायश्चित्त कर्मों के अनुष्ठान से जिसके पाप नष्ट हो गए हैं, प्रारब्ध कर्मों के फलोपभोग से जिसने प्रारब्ध कर्म समाप्त कर डाले हैं, जो ब्रह्मचर्य, शम, दमादि अङ्गों से युक्त है, ऐसा अधिकारी व्यक्ति वेदान्त-कथित मार्ग से आत्ममीमांसा (आत्म-विचार) करता हुआ नित्यानन्द-प्रकाशिनी मुक्ति को अविलम्ब ही पा लेता है ॥ २६–२८ ॥ [आत्मविचार में वेदान्त की आवश्यकता वार्तिककार ने भी (श्लो० वा० पृ० ७२८ पर) बताई है—

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तितां भाष्यकृदत्र युक्त्या ।
दृढत्वमेतद्विषयप्रबोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥]

(१०) **मन**—सुखादिविषयक अपरोक्ष के साधनीभूत इन्द्रिय के

मनः। अणुपरिमाणं चञ्चलं च मन इति केचिदूचिरे। तदसङ्गतम्। मनो विभु, स्पर्शानर्हद्रव्यत्वाद्, अनारभ्यारम्भकद्रव्यत्वाद्वा ज्ञानासमवायिकारणसंयोगाधारत्वाद्वा, आत्मवद्—इत्यादिभिरनुमानैर्महत्त्वसिद्धेः। सिद्धे विभुत्वे चाकाशादिवदस्पन्दात्मकत्वमपि न पृथक् साध्यम्।

ननु धर्मिग्राहकप्रमाणबाधितान्यनुमानानि। तथाहि—विभुनो मनसोऽ-

रूप में मन की सिद्धि की जाती है, वह विभु परिमाणवाला स्पन्दन-रहित माना जाता है। कुछ लोग जो मन को अणु एवं स्पन्दनशील कहते हैं, उनका कहना संगत नहीं, क्योंकि श्री चिदानन्द पण्डित ने मन की विभुता में अनुमान-प्रयोग प्रस्तुत किए हैं—"मनो विभु स्पर्शानर्हद्रव्यत्वाद् अनारभ्यारम्भकद्रव्यत्वाद्वा, ज्ञानासमवायिकारण-संयोगाधारत्वाद्वा, आत्मवत्" (नीति० पृ० ६१)। मन में विभुत्व सिद्ध हो जाने पर तार्किकादि-सम्मत मन की मूर्तरूपता (क्रियावत्ता) का निराकरण और आकाशादि के समान स्पन्दनाभाववत्त्व अपने आप पर्यवसित हो जाता है, उसे पृथक् सिद्ध करने की अपेक्षा नहीं।

शङ्का—मनोगत विभुत्व-साधक उक्त अनुमान धर्मिग्राहक प्रमाणों से बाधित हैं। [श्री चिदानन्द पण्डित ने (नीति० पृ० ६१ पर) कहा है कि मनोरूप धर्मी का ग्रहण तीन प्रकार से होता है—(१) युगपज्ज्ञानानुपपत्ति से (न्या० सू० १।१।१६) में कथित लक्षण के अनुसार अणुरूप मन की ही सिद्धि होती है, अन्यथा शरीर-व्यापी मन के द्वारा शिर से पैर तक की घटनाओं का युगपत् ज्ञान होना चाहिए, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः विभुत्व-साधक अनुमान का धर्मी (पक्ष) जब अणु है, तब उसमें विभुत्व का अनुमान क्योंकर हो सकेगा? (२) आत्मगत ज्ञानादि विशेष गुणों के असमवायिकारणीभूत संयोग की आश्रयता अपने आश्रयीभूत जिस मन की सिद्धि करती है, वह एक संयोगी द्रव्य के रूप में ही माना जा सकता है। आत्मा के साथ संयोग किसी विभु या मध्यम परिमाण के द्रव्य का सम्भव नहीं, अन्यथा सुषुप्ति में ज्ञानादि

नुपहितत्वे गगनादिवदिन्द्रियत्वायोगादुपाधिर्वक्तव्यः। तत्र श्रोत्रादीनामिव मनसः शरीरैकदेशोपाधित्वं नोपपद्यते। तदवयवनिरोधे मनोनिरोधप्रसङ्गात्। नापि सकलशरीरोपाधित्वम्, वेदनाविज्ञानसाधनस्यात्ममनःसंयोगस्य सार्वत्रिकत्वेन पादादिगतायाः कण्टकादिवेधवेदनायाः सकलशरीरव्यापित्वप्रतीतिप्रसङ्गात्। अणुत्वाश्रयणे तु तत्तद्देहावयवगतात्ममनःसंयोगविशेषवशादुपपद्यत एव वेदनायास्तत्तदधिकरणत्वप्रतीतिरिति मनोग्राहकमेव प्रमाणमणुत्वमपि गृह्णाति—इति सिद्धो धर्मिग्राहकप्रमाणबाधः।

अत्र वदामः—यत्तावदुक्तं मनसोऽनुपहितस्य नेन्द्रियत्वमिति, तदङ्गीकुर्मः, सकलशरीरोपाधित्वस्वीकारात्। न चैवं सति पादादिगताया वेदनायाः सार्व-

---

की प्रसक्ति होगी, परिशेषतः अणु मन के संयोग को असमवायिकारण मानना होगा]। (३) आत्मगत सुखादि के साक्षात्कार-जनकेन्द्रियत्वेन मन की सिद्धि होती है। विभु द्रव्य भी किसी-न-किसी उपाधि से उपहित होकर ही इन्द्रिय होता है, जैसे आकाश कर्णशष्कुलीरूप उपाधि से उपहित होकर ही श्रोत्र इन्द्रिय माना जाता है, वैसे ही विभु मन की उपाधि माननी आवश्यक है। कर्णशष्कुली के समान यदि शरीर के किसी भाग को उपाधि माना जाय, तब उसका नाश होने पर मन का भी नाश हो जायगा, अतः शरीरावच्छेदेन ही मन को इन्द्रिय मानना होगा। सुख-साक्षात्कार भी विभु द्रव्य का विशेष गुण है, अतः इसकी भी असमवायिकारणता आत्मा और मन के संयोग सन्निकर्ष में मानी जा सकती है, अतः संयोगाश्रयत्वेन मन को अणु मानना अनिवार्य है, अन्यथा पादादि संलग्न कण्टकादि-जनित वेदना का शरीर-व्यापित्वेन अनुभव प्रसक्त होगा। मन को अणु मानने पर परिच्छिन्न प्रतीतियों की उपपत्ति हो जाती है। फलतः अणु मन को विभुत्वानुमान का पक्ष कभी नहीं बनाया जा सकता।

समाधान—[आशङ्कित धर्मिग्राहक प्रमाणों के विरोध का परिहार करते हुए नीतितत्त्वाविर्भावकार ने ही कहा है कि (१) युगपज्ज्ञाना-

त्रिकत्वप्रतीतिप्रसङ्गः, मनसो बहिरिन्द्रियानुसारेणैव कार्यकरत्वस्वीकारात्। अतस्त्वगिन्द्रियैकदेशगतस्य स्पर्शस्य न सकलशरीरव्यापित्वप्रतीतिः। अपि च अणुत्वे सकलशरीरगतस्य चन्दनादिजनितस्य सुखस्य यौगपद्यप्रतीत्यनुदयप्रसङ्गात्। तस्मादणुत्वमहत्त्वयोर्गुणदोषसाम्यान्मनोग्राहकं प्रमाणं मनोमात्रमेव

नुपपत्ति को मन का लिङ्ग नहीं मान सकते, क्योंकि जैसे विभु आकाश को श्रोत्र मान लेने पर भी शब्दों की युगपद्ग्रहण-प्रसक्ति उपाधि को लेकर हटाई जाती है, वैसे ही विभु मन की भी युगपज्ज्ञानानुपपत्ति का समर्थन उपाधि को लेकर किया जा सकता है तथा शतावधान व्यक्ति को एक काल में ही अनेक ज्ञान होते हैं, जिससे मन की विभुता ही सिद्ध होती है। (२) आत्मगत ज्ञानादि के विशेष गुणों के असमवायिकारणीभूत संयोग की आधारता को लेकर जो अणु मन की सिद्धि की जाती है, वह भी संगत नहीं, क्योंकि जब शरीरावच्छेदेन आत्मा में ज्ञानादि उत्पन्न होते हैं, तब शरीर और आत्मा के संयोग को ही ज्ञानादि का असमवायिकारण भी माना जा सकता है, अतः यह मार्ग भी धर्मिग्राहक नहीं माना जा सकता]। (३) यह जो कहा गया कि आत्मगत सुखादि-साक्षात्कार-जनक इन्द्रिय के रूप में मन की सिद्धि और विभु में इन्द्रियत्व नहीं बन सकता, अतः अणु मन की कल्पना होती है, वह कहना भी संगत नहीं, क्योंकि इस प्रकार मनरूप धर्मी का ग्रहण हमें स्वीकृत है, किन्तु उसे अणु मानने की कोई आवश्यकता नहीं, विभु मन की उपाधि है—पूरा शरीर। पादादिगत वेदनाओं का जो यौगपद्यापादन किया गया, वह उचित नहीं, क्योंकि मन बाह्य इन्द्रियों के अनुसार ही कार्यकारी माना जाता है, अतः त्वगिन्द्रिय के एक भाग में कण्टकादि का स्पर्श सकल शरीर-व्यापी नहीं प्रतीत होता। मन को अणु मान लेने पर भी सकल शरीर में व्याप्त चन्दनादि से जनित सुख सभी भागों में जो युगपत् गृहीत होता है, वह नहीं हो सकेगा, इस प्रकार अणुत्व और विभुत्व दोनों पक्षों में गुण-दोष समान हैं, फलतः

गृह्णाति, विभुत्वं तु प्रमाणान्तरावसेयम् । तच्चोक्तमेव ।

न च संयोगस्यान्यतरकर्मजत्वादिनियमदर्शनाद् विभुत्वेनाकर्मणोरात्ममनसोः परस्परसंयोगासम्भवादात्ममनःसंयोगजन्यज्ञानस्यानुदयप्रसङ्ग इति वाच्यम्, उभयोरपि विभुत्वे सुतरामितरेतरसंयोगोपपत्तेः । विभूनां परस्परसंयोगः कर्मज इति न वयं सङ्गिरामहे, तत्संयोगस्याजन्यत्वात् ।

न च विभूनां परस्परसम्बन्धस्य क्वचिदप्यनुपलक्ष्यमाणत्वाद् विभुनोरप्यात्ममनसोः परस्परसम्बन्धानुमानं विशेषविरुद्धमिति वाच्यम्, विभूनामपि दिगाकाशादीनां प्राचीनाकाशः प्रतीचीनाकाश इति परस्परसम्बन्धस्याध्यात्मतया-

---

मनोग्राहक प्रमाण परिमाण-निरपेक्ष केवल मन का ग्रहण करता है, विभु या अणु का नहीं, विभुत्व की सिद्धि प्रमाणान्तर से होती है, वह ऊपर कहा जा चुका है ।

शङ्का—दो द्रव्यों का संयोग उनमें से अन्यतर द्रव्य या दोनों द्रव्यों के कर्म (क्रिया) से उत्पन्न होता है, मन और आत्मा दोनों विभु हैं, उनमें क्रिया सम्भव नहीं, अतः उनका संयोग कैसे उत्पन्न होगा ?

समाधान—दोनों जब विभु हैं, तब एक-दूसरे से वियुक्त हो ही नहीं सकता, अतः उनका संयोग स्वभाव-सिद्ध है । 'दो विभु द्रव्यों का संयोग कर्म-जन्य होता है'—ऐसा हम नहीं मानते, क्योंकि वह संयोग जन्य ही नहीं होता, अजन्य होता है ।

शङ्का—दो विभु द्रव्यों का संयोग कहीं भी नहीं देखा जाता, अतः आत्मा और मनोरूप दोनों विभु द्रव्यों के सम्बन्ध का अनुमान विशेष विरुद्ध है [क्योंकि सम्बन्ध सामान्य के घटकीभूत संयोगरूप सम्बन्ध-विशेष का बाध हो जाने के कारण सम्बन्ध सामान्य का अनुमान नहीं किया जा सकता] ।

समाधान—दिक् और आकाशादि विभु द्रव्यों का संयोग अनुभव-सिद्ध है, क्योंकि 'पूर्वीय आकाश', 'पश्चिमीय आकाश'—इत्यादि प्रतीतियों के आधार पर दिक् और आकाश का परस्पर सम्बन्ध मानना आवश्यक

व्यवसीयमानत्वादस्माभिः। प्रयोगश्च भवति—विभुनी द्रव्ये परस्परसंयोगिनी, अनारभ्यारम्भकद्रव्यत्वे सति निरन्तरत्वाद् घटवत्। आकाशः कालसंयोगी, कालव्यतिरिक्तत्वे सति निरन्तरत्वाद् घटवद्—इत्यादि।

ननु सुखाद्यापरोक्ष्यसाधनेन्द्रियत्वेन कल्प्यमानं द्रव्यं दिगाकाशादीनामन्यतममेवास्तु। किं द्रव्यान्तरकल्पनव्यसनेन? मैवम्, तत्र तावत् करणत्वात् कर्तृवैलक्षण्यसिद्धिः। दिगाकाशादीनां प्रत्यक्षत्वात् तदवगमे मनसः करणभूतत्वाद् दिगाकाशादिव्यतिरेकसिद्धिरपि स्वध्यवसेया—इति सिद्धं दशमं मनोद्रव्यम्।

है। अनुमान-प्रयोग भी श्री पार्थसारथि मिश्र ने न्यायरत्नमाला (पृ० ६३ पर) प्रस्तुत किया है—"विभुनी मिथः संयुक्ते, द्रव्यत्वे सति निरन्तरत्वाद्, घटाकाशवत्"। उसी प्रकार ये प्रयोग भी हो सकते हैं—(१) विभुनी द्रव्ये, परस्परसंयोगिनी, अनारभ्यारम्भकद्रव्यत्वे सति निरन्तरत्वाद्, घटवत् [यहाँ मन विभु होने के कारण किसी आरभ्य द्रव्यान्तर का आरम्भक नहीं और घट अन्त्यावयवी होने के कारण द्रव्यान्तर का अनारम्भक है]। (२) आकाशः कालसंयोगी, कालव्यतिरिक्तत्वे सति निरन्तरत्वाद्, घटवत्। [यहाँ निरन्तरता और संयोग—दोनों पर्याय नहीं, अपितु कालिक और दैशिक व्यवधान का न होना निरन्तरता और संयोग दो द्रव्यों का सम्बन्ध विशेष है, दोनों में में एक अभावात्मक और दूसरा भावात्मक भी है]।

शङ्का—सुखादि के अपरोक्षार्थ साधन द्रव्य के रूप में मन की कल्पना न कर प्रसिद्ध दिक् और आकाशादि में से किसी एक को ही साधन मान लेना ही लघु मार्ग है, द्रव्यान्तर की कल्पना में गौरव।

समाधान मन में करणता होने के कारण कर्त्ता का भेद सिद्ध हो जाता है। दिक् और आकाशादि प्रत्यक्ष है, उनके प्रत्यक्ष में भी मन करण है, अतः दिगादिरूप विषय से उसका भेद निश्चित है, इस प्रकार दशम द्रव्य मन सिद्ध हो गया।

श्रोत्रमात्रेन्द्रियग्राह्यः शब्दः शब्दत्वजातिमान् ।
द्रव्यं सर्वगतो नित्यः कुमारिलमते मतः ॥ २९ ॥

तत्र श्रोत्रग्राह्यत्वे शब्दस्य न विवादः । शब्दत्वं नाम जातिर्जातिनिर्णये वर्ण्यते च ।

वियद्गुणत्वं शब्दस्य केचिदूचुर्मनीषिणः ।
प्रत्यक्षादिविरोधात् तद्भट्टपादैरुपेक्षितम् ॥ ३० ॥

तत्र गुणस्य सर्वत्र साश्रयतया प्रतीयमानत्वादिह च निराश्रयतयैव प्रतीतिदर्शनात् प्रत्यक्षविरोधः । शब्दो द्रव्यम्, साक्षादक्षसम्बन्धसाक्षात्कार्यत्वाद्, घटवत् । शब्दो द्रव्यम्, सत्त्वे सत्यनाश्रयत्वाद्, गगनवत्—इत्याद्यनुमानविरोधोऽपि । न चास्यानाश्रयत्वमसिद्धमिति वाच्यम्, प्रतीतिविरोधात् । विमतं द्रव्यम्, शब्दाश्रयो न भवति, द्रव्यत्वात् सम्प्रतिपन्नद्रव्यवदिति निराश्रयत्व-

---

(११) **शब्द**—शब्द श्रोत्र मात्र-ग्राह्य और शब्दत्व जाति का आश्रय होता है । भाट्ट मत में शब्द को सर्वगत (विभु) और नित्य द्रव्य माना जाता है ॥ २९ ॥ शब्द की श्रोत्र-ग्राह्यता में किसी प्रकार का विवाद नहीं । 'शब्दत्व' नाम की जाति का जाति-निर्णय प्रकारण में वर्णन किया जायगा ।

तार्किकादि शब्द को जो आकाश का गुण मानते हैं, वह प्रत्यक्षादि से विरुद्ध होने के कारण भट्टपाद के द्वारा उपेक्षित कर दिया गया है ॥ ३० ॥ गुण सब कहीं किसी-न-किसी द्रव्य के आश्रित ही प्रतीत होता है, किन्तु शब्द निराश्रित ही प्रतीत होता है, अतः उसे गुण मानना प्रत्यक्ष-विरुद्ध है । (१) शब्दो द्रव्यम्, साक्षादक्षसम्बन्धसाक्षात्कार्यत्वाद्, घटवत् । (२) शब्दो द्रव्यम्, सत्त्वे सत्यनाश्रयत्वाद्, गगनवत्—इत्यादि अनुमानों के द्वारा भी शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि कर गुणत्व का विरोध किया जाता है । शब्द में अनाश्रितत्व भी असिद्ध नहीं, क्योंकि साश्रयत्वेन उसकी प्रतीति ही नहीं होती । 'विमतं द्रव्यम् (आकाशादि) शब्दाश्रयो न भवति, द्रव्यत्वात्, पटादिवत्'—इस अनुमान के द्वारा भी शब्द में

सिद्धेश्च। शब्दो द्रव्यं न भवति, श्रोत्रग्राह्यत्वात्, शब्दत्ववदिति अद्रव्यत्वं साध्यमिति चेत्, न, शब्दो गुणो न भवति, श्रोत्रग्राह्यत्वात्, शब्दत्ववत् इत्येताभ्यामेव हेतुदृष्टान्ताभ्यां गुणत्वनिवृत्तेरपि सुसाधनीयत्वात्। तस्मात् द्रव्यत्वं प्रमाणान्तरावसेयम्, तत्तूक्तमेव।

शब्दो विभुः स्पर्शानर्हद्रव्यत्वाद्, अनारम्भकत्वे सत्यनवयवद्रव्यत्वाद्वा आत्मवद्—इति विभुत्वसिद्धिः। न च द्रव्यत्वमसिद्धम्, तस्य साधितत्वात्। एकस्यैव गकारस्य सर्वत्रावस्थितैरपि युगपदुपलभ्यमानत्वाच्च महत्त्वसिद्धिः।

नैयायिकाः पुनरेनमेव युगपदुपलम्भं व्यक्तिभेदेन समर्थयन्ति। व्यक्तीनां च विनाशित्वमभ्युपगच्छन्ति। स एवायं गकार इति प्रत्यभिज्ञानस्य तु जातिगो-

---

अनाश्रितत्व सिद्ध हो जाता है।

शङ्का—शब्दो द्रव्यं न भवति, श्रोत्रग्राह्यत्वात् , शब्दत्ववत्'—इस अनुमान के द्वारा शब्द में द्रव्यत्वाभाव सिद्ध किया जाता है, अतः इस के विरुद्ध द्रव्यत्व क्योंकर सिद्ध हो सकेगा ?

समाधान—शब्दो गुणो न भवति, श्रोत्रग्राह्यत्वात् , शब्दत्ववत्—इस प्रकार शब्द में उसी द्रव्यत्वाभावसाधक हेतु और दृष्टान्त के आधार पर गुणत्वाभाव भी सिद्ध किया जाता है, अतः प्रमाणान्तर के द्वारा शब्द में द्रव्यत्व की सिद्धि होती है, जिसकी चर्चा ऊपर आ चुकी है।

'शब्दो विभुः, स्पर्शानर्हद्रव्यत्वाद्, अनारम्भकत्वे सत्यनवयवद्रव्यत्वाद्, आत्मवत्'—इस अनुमान के द्वारा शब्द में विभुत्व सिद्ध होता है। शब्द में द्रव्यत्व सिद्ध किया जा चुका है, अतः उक्त अनुमान में असिद्धि दोष नहीं। एक ही गकार वर्ण सर्वत्र युगपत् गृहीत होता है, अतः शब्द में महत्त्व या विभुत्व निश्चित है।

तार्किकगण जो गकारादि की युगपत् उपलब्धि का व्यक्ति-भेद से समर्थन करते हैं, अर्थात् देवदत्त के द्वारा श्रुत गकार व्यक्ति से भिन्न दूसरी गकार व्यक्ति यज्ञदत्त को सुनाई देती है, एक ही शब्द सर्वत्र सुनाई नहीं देता। शब्द व्यक्तियों को तार्किक विनाशी मानते हैं। 'स

चरत्वमपि कल्पयन्ति । तच्चायुक्तम्, यस्य हि प्रत्यभिज्ञानस्य बलवत्प्रमाण-विरोधेन व्यक्तिगतमेकत्वं गोचरीकर्तुमशक्यम्, तस्यैव जात्यात्मनैकगोचरत्वक-ल्पनं युक्तम् । अन्यथा सर्वत्रापि जात्यात्मना प्रत्यभिज्ञानकल्पने सोऽयं देवदत्त इत्यादावपि तथात्वप्रसङ्गात् । न चात्र बाधकप्रमाणं किञ्चिदुपलभ्यते ।

ननु उत्पन्नः शब्दः, विनष्टः शब्द इत्यादिप्रत्यययोऽत्र बाधक इति चेत्, न, नित्यविभुत्वेन सम्मतानामपि गगनादीनां खननपूरणानन्तरभवस्य जननविनाश-

---

एवायं गकारः'—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा जाति-निबन्धन हो जाती है, अर्थात् जैसे 'तदेवेदमौषधम्'—इसका अर्थ 'तज्जातीयमिदमौषधम्'—ऐसा होता है, वैसे ही 'स एवायं गकारः' का अर्थ 'तज्जातीयोऽयं गकारः'—यही होता है, अतः प्रत्यभिज्ञा के आधार पर शब्द व्यक्तियों का अभेद सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

तार्किकों का वह समर्थन युक्ति-युक्त नहीं, क्योंकि जिस प्रत्यभिज्ञा का किसी सबल प्रमाण से विरोध होता है, उसी के द्वारा व्यक्तिगत एकत्व की सिद्धि न होकर जाति-निबन्धन व्यवहार माना जाता है, अन्यथा सर्वत्र जाति-निबन्धन प्रत्यभिज्ञा की कल्पना करने पर 'सोऽयं देवदत्तः'—इत्यादि स्थलों पर भी व्यक्तिगत एकत्व की सिद्धि न हो सकेगी । 'सोऽयं गकारः'—इस प्रत्यभिज्ञा का कोई बाधक प्रमाण भी उपलब्ध नहीं होता, अतः इसके द्वारा शब्द की एकता सिद्ध होती है ।

शङ्का—'उत्पन्नो गकारो विनष्टो गकारः'—इत्यादि प्रतीतियों को उक्त प्रत्यभिज्ञा का बाधक माना जा सकता है । शब्द का ध्वंस जब प्रत्यक्ष हो रहा है, तब उसे नित्य नहीं माना जा सकता ।

समाधान—किसी भी अभाव का प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता, अतः ध्वंसविषयक प्रत्यक्ष को एकत्व-प्रत्यभिज्ञा का विरोधी नहीं कह सकते । अभाव का ज्ञान योग्यानुपलब्धि से होता है, वह भी बाधक नहीं हो सकती, क्योंकि शब्द के व्यञ्जकीभूत ध्वनि के विनाश का ज्ञान अनु-पलम्भादि से होता है, शब्द के ध्वंस का नहीं । शब्द में उत्पाद-विनाश

प्रत्ययस्येवाभिव्यञ्जकसान्निध्यसदसद्भावनिबन्धनत्वात् तस्यापि। नित्यः शब्दः, सत्त्वे सत्यकारणत्वाद्, व्योमवद्—इति नित्यत्वसिद्धिः। न च तात्वादिव्यापाराणां कारणत्वदर्शनादकारणत्वमसिद्धमिति वाच्यम्, ताल्वादिव्यापाराणां खननादेर्मूलोदकाभिव्यञ्जकत्ववदभिव्यञ्जकत्वस्यैवोपपत्तेः। ताल्वादिव्यापारः शब्दकारणं न भवति, व्यापारत्वात्, सम्प्रतिपन्नव्यापारवद्—इत्यकारणत्वसिद्धेश्च।

ननु ताल्वादिव्यापारः शब्दकारणं भवति, शब्दस्य तदनन्तरभावित्वाद्,

---

का व्यवहार वैसे ही हो जाता है, जैसे कि कुआँ खोदने पर कूपाकाश की उत्पत्ति और कुआँ भर देने पर कूपाकाश के नाश का व्यवहार होता है। व्यञ्जक उपाधि के सन्निधान से नित्यभूत व्यङ्ग्य की अभिव्यक्ति और व्यञ्जक का असन्निधान होने से व्यङ्ग्य वस्तु की अनभिव्यक्ति से ही उसमें उत्पाद-विनाश का व्यवहार हो जाता है। 'शब्दो नित्यः, भावत्वे सति अकारणत्वाद्, व्योमवत्'—इस अनुमान के द्वारा शब्द में नित्यता सिद्ध होती है [प्रागभावादि अकारणक अनादि पदार्थों में व्यभिचार हटाने के लिए भावत्व विशेषण लगाया है। घटादि पदार्थों की अनित्यता के प्रयोजक घटादिगत सकारणत्व और भावत्वादि धर्म हैं, शब्द में भावत्व होने पर भी सकारणत्व नहीं, अतः वह नित्य है]। ताल्वादि-व्यापार शब्द के कारण हैं, अतः शब्द में अकारणत्व क्योंकर रह सकेगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे भू-खननादि व्यापार कन्द, मूल एवं जलादि का उत्पादक नहीं व्यञ्जक ही होता है, वैसे ही कण्ठ-ताल्वादि का व्यापार शब्द का केवल व्यञ्जक ही होता है, शब्द का कारण नहीं। 'ताल्वादिव्यापारः, शब्दकारणं न भवति, व्यापारत्वाद्, आकुञ्चनादि व्यापारवत्'—इस अनुमान के द्वारा ताल्वादि के व्यापार में शब्द की अकारणता भी सिद्ध हो जाती है।

शङ्का—'ताल्वादिव्यापारः शब्दस्य कारणं भवति, शब्दस्य तदनन्तरभावित्वाद्, यो यदनन्तरभावी, स तत्कारणकः, यथा कुलालव्यापारा-

यो यदनन्तरभावी, स तत्कारणकः, यथा कुलालव्यापारानन्तरभावी घटस्तत्कारणकः इति तस्य कारणत्वमपि साध्यमिति चेत्, न मूलोदकादौ व्यभिचारात्।

न च ताल्वादिव्यापाराणामभिव्यञ्जकत्वे शब्दानां विभुत्वादभिव्यक्तस्य वर्णस्य सर्वोपलभ्यत्वप्रसङ्ग इति वाच्यम्, ताल्वादिव्यापारोत्पन्नध्वनिश्रोत्रसंयोगस्यैवाभिव्यञ्जकत्वाङ्गीकाराद् ध्वनीनां वायुविशेषत्वात् तत्प्रेरकताल्वादिव्यापारबलानुसारेण अदूरश्रवणादिव्यवस्थोपपत्तेश्च। यदाह भाष्यकारः—

नन्तरभावी घटस्तत्कारणकः'—इस अनुमान के द्वारा ताल्वादि-व्यापार में शब्द की कारणता सिद्ध होती है, अतः शब्द में सकारणत्व ही है, अकारणकत्व नहीं।

समाधान—मूल और जलादि में उक्त अनुमान व्यभिचरित है, क्योंकि खननादि व्यापार के अनन्तर उनकी उपलब्धि होने पर भी खननादि को जलादि का कारण या उत्पादक नहीं माना जाता। फलतः ताल्वादि व्यापार को शब्द का व्यञ्जक ही मानना होगा, जैसे की (नीति० पृ० .९८ में) श्री चिदानन्द पण्डित ने कहा है—

अकारणत्वे ताल्वादिव्यापारस्य व्यवस्थिते।
तद्व्यङ्ग्योऽनन्तरं दृष्टः शब्दो मूलकादिवत्॥

शङ्का—ताल्वादि-व्यापार को शब्द का व्यञ्जक मानने पर अभिव्यक्त शब्द का सर्वत्र सभी व्यक्तियों को श्रवण होना चाहिए, क्योंकि शब्द विभु माना गया है।

समाधान—ताल्वादि स्थानों पर जिह्वा के अभिघात से जो नादसंज्ञक वायवीय कम्पन उत्पन्न होता है, वही शब्द का व्यञ्जक माना जाता है, उसकी शक्ति और गति सीमित होने के कारण जिस श्रोत्र तक पहुँच होती है, वही श्रोत्र शब्द सुन सकता है, दूर तक सभी श्रोत्रों से उस ध्वनि का संयोग न हो सकने के कारण शब्द का सर्वत्र श्रवण नहीं हो सकता, जैसा कि शबरस्वामी ने कहा है—"अभिघातेन प्रेरिता वायवः

"अभिघातेन हि प्रेरिता वायवः स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागानुत्पादयन्तो यावद्वेगं अभिप्रतिष्ठन्ते, अनुपरतेष्वेषु शब्द उपलभ्यते नोपरतेषु" इति ।

न चैकस्यैव गकारस्य तीव्रतीव्रतरमन्दमन्दतरत्वादिविरुद्धधर्मानुपपत्तेर्भिन्ना एवैते गकारा इति वाच्यम्, एकस्मिन्नेव मुखे मणिदर्पणकृपाणाद्यभिव्यञ्जकभेदेन भिन्नत्वप्रतीतिवत् तदभिव्यञ्जकध्वनिधर्मसमारोपेण वर्णेऽपि

स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिबाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागान् उत्पादयन्तो यावद्वेगमभिप्रतिष्ठन्ते, अनुपरतेष्वेव तेषु शब्द उपलभ्यते नोपरतेषु" (शा० भा० पृ० ७९–८०) । [अर्थात् कण्ठ, ताल्वादि भागों पर जिह्वा के आघात से प्रेरित वायवीय तरङ्गे कर्णशष्कुली में भरे हुए स्तब्ध वायु-मण्डल को फाड़ कर शब्द के व्यञ्जकीभूत नादाख्य वायवीय संयोग विभागों का सञ्चार करती है। उन तरङ्गों की जितनी दूर तक पहुँचने और जितने समय तक ठहरने की शक्ति होती है, उतनी दूर तक पहुँच कर उतने समय तक नादों के माध्यम से शब्द की अभिव्यञ्जना तब तक करती रहती हैं, जब तक नादावलि अवस्थित रहती है] ।

शङ्का –सभी गकार वर्ण एक ही प्रकार के सुनाई नहीं देते, अपितु उनमें से कोई तीव्र, कोई तीव्रतर, कोई मन्द और कोई मन्दतर होता है, एक ही गकार में तीव्रत्व-मन्दत्वादि विरुद्ध धर्म नहीं रह सकते, अतः गकार नाना सिद्ध होते हैं, शब्द में एकत्व कभी सम्भव नहीं ।

समाधान—एक ही मुखरूप बिम्ब का मणि, दर्पण, कृपाणादि उपाधियों के भेद से भेद जैसे प्रतीत होने लगता है, वैसे ही शब्द की व्यञ्जकीभूत ध्वनियों (नादों) में तीव्रत्वादि धर्म होते हैं, अत एव ध्वनियाँ अनेक मानी जाती हैं, उन्हीं ध्वनि-धर्मों का शब्द में आरोप हो जाने के कारण भिन्नत्व प्रतीत होने लगता है, जैसा कि सूत्रकार ने कहा है—"नादवृद्धिपरा" (जै० सू० १।१।१)। भाष्यकार इसकी व्याख्या करते हैं—"संयोगविभागा नैरन्तर्येण क्रियमाणा शब्दमभिव्यञ्जन्तो नाद-

भिन्नत्वप्रतिपत्त्युपपत्तेः ।

ज्वालैकत्वप्रत्यभिज्ञानवद् भ्रान्तिमूलमिदं वर्णैकत्वप्रत्यभिज्ञानमिति न वाच्यम्, कारणदोषबाधकप्रत्यययोरन्यतरस्याभावे भ्रान्तिमूलत्वकल्पनानुपपत्तेः । ज्वालैकत्वप्रत्यभिज्ञानं हि ज्वालाया विशीर्यमाणावयवत्वदर्शनात् तेनावयविविशरणस्याप्यनुमेयत्वादेकस्यामेव वर्तिकायां ज्वलद्दीपनिर्वाणे दीपान्तरोद्दीपने च विहितेऽपि तदनवलोकयतः सैवेयं ज्वालेति पूर्ववदेव प्रत्यभिज्ञानदर्शनाच्च विषयगतसादृश्यादिदोषनिबन्धनमिति शक्यावगमम् । गकारप्रत्यभिज्ञाने तु विनाशप्रतिनियतलिङ्गादर्शनाद् विषयदोषकारणदोषयोरन्यतरस्या-

---

शब्दवाच्याः । तेन नादेनैषा वृद्धिर्न शब्दस्य" ।

शङ्का—गकारादि वर्णों में जो एकत्व की प्रत्यभिज्ञा होती कही जाती है—"स एवायं गकारः', वह वैसे ही भ्रमात्मक है, जैसे कि 'सेयं दीपज्वाला'—इत्यादि प्रत्यभिज्ञायें नाना ज्वालाओं में एकत्व का भान कराती हुई भ्रमात्मक होती है ।

समाधान—भ्रम ज्ञान का परिचय कराते हुए भाष्यकार कहते है—यस्य च दुष्टं करणम्, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययो नान्यः" (शा० भा० पृ० २८) अर्थात् जहाँ इन्द्रियादि कारण-कलाप में कोई दोष हो अथवा जिस ज्ञान का किसी बाधक प्रमाण से बाध हो जाता है, उसी ज्ञान को भ्रम कहा जा सकता है, सभी ज्ञानों में भ्रान्तिमूलकत्व की कल्पना उपपन्न नहीं होती । दीप-ज्वाला के अवयवों को विखरते देख ज्वालारूप अवयवी में नश्वरता का अनुमान हो जाता है एवं एक ही वत्ती में एक ज्वाला के बुझ जाने पर तुरन्त वह फिर जला दी जाती है किन्तु पुनरुद्दीपन क्रिया को न देखनेवाला व्यक्ति यही समझता है कि 'सैवेयं दीपज्वाला' । ऐसी प्रतीतियों को निश्चितरूप से सादृश्यमूलक कहा जा सकता है, किन्तु गकारादिगत एकत्व की प्रत्यभिज्ञा में कोई विषय-दोष या कारण-दोष नहीं पाया जाता और न कोई उसकी विनश्वरता का अनुमापक लिङ्ग ही देखा जाता है, अतः

दर्शनाच्च न भ्रान्तिमूलत्वकल्पनमुपपद्यते । तस्मादखिललोकैरपि युगपदुपलभ्यमानोऽयमेक एव गकारः ।

अपि च शब्दोत्पत्तिपक्षे प्रथमस्य शब्दस्य ताल्वादिव्यापारोत्पाद्यत्वम्, उत्तरेषां शब्दोत्पाद्यत्वम्, अन्त्येतरस्य कार्यविनाशित्वम्, अन्त्यस्य कारणविनाशित्वं श्रोत्रसमवेतस्यैव ग्राह्यत्वं, वीचीतरङ्गन्यायेन कदम्बमुकुलन्यायेन वारम्भ्यत्वमित्यादिबहुतरादृष्टकल्पनाभयात् नित्यत्वपक्षमेव वयमाद्रियामहे, इति सिद्धाः शब्दस्य द्रव्यत्वनित्यत्वसर्वगतत्वादयः ।

स पुनरयं शब्दो वाचकावाचकभेदेन द्विविधो भवति । तत्रावाचको भेरीप्रहरणादिजन्यध्वनिव्यङ्ग्यः, अन्यस्तु ताल्वादिव्यापारजन्यध्वनिव्यङ्ग्यो वर्णात्मकः ।

उसमें भ्रान्तिमूलकत्व की कल्पना निराधार है, इस प्रकार अनेक व्यक्तियों को युगपत् उपलम्यमान गकार एक ही है ।

यह भी यहाँ विचारणीय है कि शब्द के उत्पत्तिपक्ष में प्रथम शब्द की उत्पत्ति ताल्वादि-व्यापार से और द्वितोयादि उत्तरभावी शब्दों की उत्पत्ति पूर्व-पूर्व शब्द से माननी होगी । अन्तिम शब्द का नाश अपने पूर्व वर्ती कारणीभूत शब्द के नाश से और अन्तिम शब्द के पूर्वभावी शब्दों का नाश अपने अपने उत्तरभावी कार्यभूत शब्दों से होगा। वीचितरङ्ग या कदम्ब-गोलक के समान शब्द-सन्तान-क्रम से श्रोता के श्रोत्र-प्रदेश में उत्पन्न शब्द का समवाय सम्बन्ध से ग्रहण होना—इत्यादि अधिकतर लोक में न देखी जानवाली अघटित कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं, इनसे वचने के लिए भी हम (भाट्टगण) शब्द-नित्यत्व-पक्ष का ही आदर करते हैं—इस प्रकार शब्द में द्रव्यत्व, नित्यत्व, सर्वगतत्वादि धर्म सिद्ध हो जाते हैं ।

(१) वाचक और (२) अवाचक भेद से शब्द दो प्रकार का होता है । उनमें भेरी-प्रहरण (ढोल पीटने) आदि से जनित ध्वनि के द्वारा अभिव्यक्त शब्द अवाचक और कण्ठ-ताल्वादि-व्यापार से जनित

वर्णात्मकानां शब्दानां सम्भूयैकार्थवाचिनाम् ।
समाहारं पदं प्राहुराचार्यमतकोविदाः ॥ ३१ ॥
उत्तीर्णवर्णं यत्किञ्चित् तत्त्वं स्फोटपदोदितम् ।
वर्णव्यङ्ग्यं पदं प्रोक्तं पतञ्जलिमतानुगैः ॥ ३२ ॥

तत्र तावदुत्तीर्णवर्णे पदस्वरूपे किं प्रमाणम् ? नन्वस्ति तावदेकं पदमिति प्रत्यक्षानुभवः, नासौ वर्णविषयः तेषामनेकत्वादिति तदतिरिक्तत्वादिसिद्धिरिति चेत्, मैवम्, यथानेकपदारब्धं वाक्यमेकवाक्यार्थावबोधकत्वादेकबुद्धिविषयं भवति, तथानेकेषामपि वर्णानामेकपदार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वेनैकबुद्धिविषयत्वोपपत्तेः । न च वाक्येऽपि वाक्यस्फोटादेकत्वबुद्धिः, तत्राप्येकत्वप्रतिपादकत्वादेव

ध्वनि के द्वारा अभिव्यञ्जनीय वर्णात्मक शब्द वाचक होते हैं। वर्णात्मक शब्दों का वह समुदाय भाट्ट मत में पद कहलाता है, जिसमें सभी शब्द मिल कर एक अर्थ का अभिधान करते हैं ॥ ३१ ॥ वर्णात्मक शब्द से भी भिन्न पदध्वनि के द्वारा अभिव्यञ्जनीय स्फोटात्मक शब्द पातञ्जल मत में पद कहा जाता है ॥ ३२ ॥ वहाँ जिज्ञासा होती है कि वर्णातिरिक्त शब्द तत्त्व में क्या प्रमाण ?

शङ्का—'एकं पदम्'—इस प्रकार का प्रत्यक्ष अनुभव लोक-प्रसिद्ध है, यह वर्णविषयक नहीं हो सकता, क्योंकि वर्ण अनेक होते हैं, उनमें एकत्व नहीं घटता, अतः वर्णों से अतिरिक्त पदरूप में स्फुटित होने वाला पदस्फोट मानना आवश्यक है।

समाधान-जैसे अनेक पदों से आरब्ध वाक्य एक वाक्यार्थ का बोधक होने के कारण एकत्वविषयिणी बुद्धि का विषय होता है, वैसे ही अनेक वर्ण मिलकर जब एकार्थपर्यवसायी होते हैं, तब उन्हें ही 'एकं पदम्' कह दिया जाता है। वाक्य में भी वाक्यस्फोट-निबन्धन एकत्व-बुद्धि होती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वाक्य में भी एकार्थ-प्रतिपादकत्वेन ही एकत्व-व्यवहार निभ जाता है, वाक्यस्फोट मानने की कोई आवश्यकता नहीं। जहाँ तक दृष्ट या क्लृप्त पदार्थों से निर्वाह हो

तदुपपत्तेः । न हि दृष्टे सत्यदृष्टकल्पनावकाशः । तस्मात् पदे वाक्येऽप्येकत्व-बुद्धिरेकार्थावबोधकत्वादेव । वर्णे पुनरेकत्वप्रतीतिर्नानुपपन्ना, इति वर्णातिरिक्त-पदकल्पनानवकाशः ।

यत् पुनर्वर्णानां पदत्वमक्रमव्युत्क्रमपठितेभ्योऽपि वर्णेभ्योऽर्थप्रतीतिप्रसङ्गाद-सङ्गतमित्युक्तम् , तद् वर्णानां स्फोटाभिव्यञ्जकत्वपक्षेऽपि समानमेवेति न स्फोटाभिधानं पदान्तरं द्रव्यान्तरं वा कल्पनीयम् ।

एतादृशस्य पदस्य पदार्थेन सह प्रत्याय्यप्रत्यायकलक्षणः सम्बन्धोऽपि नित्य एव । पदपदार्थसम्बन्धः साङ्केतिकः ईश्वरोऽत्र संकेतयिता इति तार्किकाणां मतम्, तदपि तार्किकेश्वरनिराकरणेन निरस्तं वेदितव्यम् ।

गवादिजातिरेव गवादिपदवेदनीया । व्यक्तिस्तु गामानयेत्यादिवाक्येषु

जाय, वहाँ तक अदृष्ट पदार्थों की कल्पना नहीं की जाती । अतः पद और वाक्य में एकत्व का भान एकार्थ-बोधकत्वेन ही माना जाता है, वर्णों से अतिरिक्त किसी स्फोटादिरूप शब्द की कल्पना अनावश्यक है ।

यह जो कहा जाता है कि वर्ण-समूह को पद मानने पर 'कमल' पद के समान 'लमक' पद से भी उसी अर्थ का बोध होना चाहिए, क्योंकि क्रम-व्युत्क्रम का भेद होने पर वर्ण तो उतने ही दोनों पदों में हैं । वह कहना संगत नहीं, क्योंकि वर्णों को स्फोट का अभिव्यञ्जक मानने पर भी वही शङ्का बनी रहती है कि 'कमल' के समान 'लमक' पद से भी उसी स्फोट की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती ? अतः स्फोट नाम का कोई पदान्तर या द्रव्यान्तर मानने की आवश्यकता नहीं ।

वर्ण-समूहात्मक पद का अपने पदार्थ के साथ जो बोध्य-बोधकभाव-रूप सम्बन्ध होता है, वह भी नित्य ही है । तार्किकगण जो कहा करते हैं कि पद और पदार्थ का परस्पर साङ्केतिक सम्बन्ध है, सङ्केत-यिता ईश्वर होता है । वह उनका कहना तार्किक-सम्मत ईश्वर का निराकरण हो जाने से ही निरस्त हो जाता है ।

गोत्वादि जाति ही गवादि पदों की अभिधेय होती है और 'गामा-

जातेरानयनादिक्रियान्वयानुपपत्त्या लक्ष्यते । जातिनित्यत्वं पुनरत्रैव जातिनिर्णये वर्णयिष्याम इति । सम्वन्ध्यनित्यत्वनिवन्धनं सन्वन्धानित्यत्वमपि, इत्यलमतिविस्तरेण ।

अनित्यत्वे हि शब्दानां शशशृङ्गप्रहारवत् ।
शब्दात्मकानां वेदानां नित्यत्वं हास्यतां व्रजेत् ॥ ३३ ॥
इति संचिन्त्य वादोऽयं विस्तरेण प्रपञ्चितः ।
एकादशविधं द्रव्यं तस्मादस्मन्मते स्थितम् ॥ ३४ ॥



नय'—इत्यादि वाक्यों में गोत्व के साथ आनयनादि क्रिया का अन्वय अनुपपन्न होने के कारण व्यक्ति में लक्षणा की जाती है। जाति की नित्यता का अग्रिम जाति-प्रकरण में ही वर्णन किया जायगा और सम्वन्धी की अनित्यता के कारण सम्वन्ध की अनित्यता भी कही जायगी। शब्दों को अनित्य मानने पर शब्दात्मक वेदों की नित्यता वैसे ही उपहासास्पद हो जायगी, जैसे शशशृङ्ग का प्रहार ॥ ३३ ॥ इस प्रकार इस द्रव्य-प्रकरण का विस्तार से वर्णन किया गया, अतः हमारे (भाट्ट) मत में ग्यारह प्रकार का द्रव्य स्थिर हो गया ॥ ३४ ॥



(२) जातिः—

जातिर्व्यक्तिगता नित्या प्रत्यक्षज्ञानगोचरा।
भिन्नाभिन्ना च सा व्यक्तेः कुमारिलमते मता ॥ ३५ ॥

अत्र बौद्धास्तावज्जातिमेव नानुमन्यन्ते, वदन्ति च—जातिः सर्वगता ? व्यक्तिगता वा ? न तावत् सर्वगता, सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गात्। नापि व्यक्तिगता, तत्कालोत्पन्नाया व्यक्तेर्व्यक्त्यन्तरवर्तिजात्यन्वयाभावप्रसङ्गात्। न च व्यक्त्युत्पत्तिसमये तद्गता जातिरप्युत्पन्नेति वक्तव्यम्, मीमांसकैरेव जातेर्नित्यत्वाभ्युपगमात्। अस्तु तर्हि व्यक्त्यन्तरादागत्य सम्बन्ध इति चेत्, न, तैरेव निष्क्रियत्वाभ्युपगमाद् व्यक्त्यन्तरेऽनुपलब्धिप्रसङ्गाच्च। न चांशेनागत्य सम्बन्ध इति वाच्यम्, निरंशत्वपरिग्रहात्। अपि च जातिरियं व्यक्तिनाशे किं तयैव सह

---

(२) जाति—

जाति अपनी व्यक्ति के आश्रित, नित्य एवं प्रत्यक्ष ज्ञान की विषय मानी जाती है, श्री कुमारिल भट्ट के मत में जाति व्यक्ति से भिन्नाभिन्न कही जाती है ॥ ५ ॥

बौद्ध-मत—बौद्धगण जाति पदार्थ को ही नहीं मानते, और कहते हैं कि जाति सर्वगत होती है ? अथवा केवल व्यक्ति में ? यदि सर्वगत है, तव सर्वत्र उसकी उपलब्धि होनी चाहिए। व्यक्ति के आश्रित भी जाति को नहीं माना जा सकता, क्योंकि तत्कालोत्पन्न व्यक्ति के साथ अन्य व्यक्तियों में उपस्थित जाति का अन्वय नहीं हो सकता। व्यक्ति की उत्पत्ति के साथ-साथ तद्गत जाति भी उत्पन्न हो जाती है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि मीमांसकगण जाति को नित्य मानते हैं। व्यक्त्यन्तर से व्यक्त्यन्तर में जाति का आगमन भी सम्भव नहीं, क्योंकि मीमांसक ही जाति को निष्क्रिय मानते हैं एवं जात्यन्तर से जाति के निकल जाने पर वहाँ जाति की अनुपलब्धि प्रसक्त होगी। अंशतः जाति का आगमन और अंशत अवस्थान भी नहीं कह सकते, क्योंकि जाति को निरंश माना जाता है। यह भी जिज्ञासा होती है कि व्यक्ति का विनाश हो जाने

विनश्यति ? तत्रैव तिष्ठति वा ? व्यक्त्यन्तरं प्रति गच्छति वा ? नाद्यः, नित्यत्वात् । नापि द्वितीयः, तत्रानुपलम्भात् । न तृतीयः, निष्क्रियत्वाद् व्यक्त्यन्तरे जातिद्वयोपलम्भप्रसङ्गाच्च । तदुक्तम्—

नायाति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥ ३६ ॥ इति ।

तत्र वदामः—तत्र यत् तावत् पृष्टं सामान्यं सर्वगतम् ? व्यक्तिगतं वा ? इति, तत्र पक्षद्वयमपि वयं कक्षीकुर्मः, सर्वगतत्वे व्यक्तिगतस्यापृथक्साध्यत्वात् । न च सर्वगतत्वे सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्गः, व्यक्तेर्व्यञ्जकत्वाङ्गीकरणात् । न ह्यभिव्यञ्जकेन विनाभिव्यङ्ग्यस्योपलम्भः क्वचिदपि संभवति । न च व्यक्ति-

---

पर (१) क्या जाति भी व्यक्ति के साथ ही विनष्ट हो जाती है ? (२) या उसी देश में स्थित रहती है ? (३) अथवा व्यक्त्यन्तर में चली जाती है ? प्रथम (नाश) पक्ष उचित नहीं, क्योंकि जाति नित्य होती है । द्वितीय पक्ष भी युक्त नहीं, क्योंकि उस देश में उपलब्ध न होने के कारण वहाँ उसका अवस्थान नहीं माना जा सकता । तृतीय (गमन) पक्ष भी संगत नहीं, क्योंकि निष्क्रिय होने के कारण जाति में गति नहीं बनती, किसी प्रकार व्यक्त्यन्तर में गमन मान लेने पर भी व्यक्त्यन्तर में दो जातियों की उपलब्धि होनी चाहिए, इन सभी आक्षेपों को ध्यान में रखकर ही बौद्धों ने (प्र. वा. १।१५- में) कहा है—

नायाति न च तत्रासीदस्ति पश्चान्न चांशवत् ।
जहाति पूर्वं नाधारमहो व्यसनसन्ततिः ॥

बौद्ध-मत का निरास—यह जो प्रश्न किया गया कि जाति सर्वगत होती है ? अथवा केवल व्यक्तिगत ? उसके उत्तर में हमारा कहना है कि हम दोनों पक्षों को मानते और उनका समन्वय कर लेते हैं कि सर्वगतत्व सिद्ध हो जाने से ही व्यक्तिगतत्व भी सिद्ध हो जाता है, उसके पृथक् सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं । सर्वगत मानने पर सर्वत्रोपलब्धिप्रसङ्ग भी नहीं हो सकता, क्योंकि व्यक्तियों को ही जाति का व्यञ्जक

गतत्वे तत्कालोत्पन्नाया व्यक्तेर्जात्यन्वयवियोगयोरनुपपत्तिः, व्यक्त्युत्पत्तिविनाशहेतुभिरेव व्यक्तेर्जात्यन्वयवियोगयोरुपपत्तेः । अन्यत्रावस्थितस्यान्येनान्वयो गतिपूर्वक इत्यादिनियमानां पृथक्सिद्धवस्तुविषयत्वात्, न तादात्म्यसम्वन्धसम्वद्धयोर्जातिजातिमतोरपि शक्यन्ते समापादयितुम् । येन केनचित् साधर्म्येणान्यधर्मस्यान्यत्रारोपे सति विश्वस्य सङ्करप्रसङ्गादिति न पूर्वोक्तदोषानुषङ्गः ।

शावलेयादिष्वनुस्यूतो महिषादिभ्यो व्यावृत्तो गौरित्येकाकारावभासः प्रत्यक्षप्रमाणनिष्पन्नः कथं न सामान्यमनिच्छतोऽपि बौद्धानङ्गीकारयेत् ? न चायमगोनिवृत्तिमात्रविषयः प्रत्ययः, विधिमुखेन जायमानस्य प्रत्ययस्य निषेध-

---

माना जाता है । अभिव्यञ्जक के विना अभिव्यङ्ग्य का उपलम्भ कहीं नहीं होता । व्यक्तिगत मानने पर तत्कालोत्पन्न व्यक्ति में जाति का योग और व्यक्ति के नष्ट हो जाने पर जाति का वियोग क्योंकर होगा ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि व्यक्ति को उत्पादक और नाशक सामग्री से ही जाति का योग और वियोग सम्पन्न हो जाता है । 'अन्यत्र अवस्थित पदार्थ का अन्यत्र अन्वय गतिपूर्वक होता है'—यह नियम पृथक्सिद्ध पदार्थों के विषय में ही लागू होता है, अयुतसिद्ध पदार्थों में नहीं, अतः तादात्म्य सम्वन्ध से सम्वद्ध जाति और व्यक्ति के समन्वय में गतिपूर्वकत्व का आपादन नहीं किया जा सकता । पदार्थयोः तादात्म्यम्, गतिपूर्वकम् भवति, सम्वन्धत्वात्, संयोगवत्'—इस प्रकार युतसिद्ध-सम्वन्धत्व और अयुतसिद्ध-सम्वन्धत्वादि विशेषताओं की उपेक्षा कर यत्किञ्चित् साधर्म्य को लेकर अनिष्ट का साधन या आपादन करने पर विश्व का ही साङ्कर्य हो जायगा ।

शावलेयादि गोव्यक्तियों में अनुस्यूत और महिषादि से व्यावृत्त 'गौः'—इस प्रकार प्रत्यक्षप्रमाण-निष्पन्न एकाकारावभास एक ऐसा उत्कट प्रमाण है, जो कि जाति-वाद में विश्वास न रखनेवाले बौद्धों को भी जाति मानने के लिए वाध्य कर देता है । 'गौरयम्'—इस प्रकार के विधिमुख अनुभव को 'अयमगोभिन्नः'—इस प्रकार निषेध मुख प्रत्यय के

मुखत्वाङ्गीकरणानुपपत्तेः। अगोनिवृत्तिशब्दस्यापि निषेधद्वयविशिष्टत्वात् गोत्वमेवार्थ इति पुनरपि शब्दान्तरेण जात्यङ्गीकरणमेवापन्नमायुष्मताम्। तदुक्तमाचार्यैः—

अगोनिवृत्तिसामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्।
गोत्ववस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्फुटम्॥ इति।

नापि वृक्षेषु वनबुद्धिवद् व्यक्तिषु जातिबुद्धिरपि इति वाच्यम्, पृथगवलोकनेऽपि बाधकज्ञानानुदयात्। ननु सामान्यं व्यक्तेरत्यन्तमभिन्नम्? भिन्नं वा? नाद्यः, व्यक्तिव्यतिरेकेण जातेरभावप्रसङ्गात्। नापि भिन्नं, गोरेव गोत्वजातिसामान्यस्याभिव्यञ्जकत्वं नाश्वस्येति विभागाभावप्रसङ्गादिति चेत्,

---

रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, अतः बौद्धों के अपोहवाद से जातिवाद की गतार्थता कथमपि सम्भव नहीं हो सकती। कुछ ध्यान देकर देखने पर 'अगोनिवृत्ति' शब्द दो निषेधों से युक्त होने के कारण गोत्वरूप अर्थ को ही कहता है, अतः अपोह या इतर-निवृत्ति आदि शब्दान्तरों के द्वारा जाति तत्त्व का प्रतिपादन किया जाता है, जैसा कि वार्तिककार ने (श्लो० वा० पृ० ५६६ पर) कहा है—

अगोनिवृत्तिसामान्यं वाच्यं यैः परिकल्पितम्।
गोत्ववस्त्वेव तैरुक्तमगोऽपोहगिरा स्वयम्॥

जैसे वृक्ष-समूह में 'वनम्'—इस प्रकार की आरोपबुद्धि होती है, वैसे ही व्यक्तियों में जाति बुद्धि है—ऐसा कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि वृक्षों से अतिरिक्त वन पदार्थ का जैसे बाध होता है, वैसे व्यक्तियों से भिन्न जाति तत्त्व का बाध नहीं होता।

शङ्का—जाति व्यक्ति से अत्यन्त अभिन्न है? अथवा भिन्न? प्रथम पक्ष मानने पर व्यक्ति से भिन्न जाति सिद्ध न हो सकेगी। जाति को व्यक्ति से भिन्न भी नहीं कह सकते, क्योंकि 'गो व्यक्ति ही गोत्व जाति की व्यञ्जिका होती है, अश्व व्यक्ति नहीं'—इस प्रकार का अन्तर समाप्त हो जायगा, क्योंकि जैसे गोत्व जाति से अत्यन्त भिन्न गो व्यक्ति है, वैसे

तदयुक्तम्। जातिजातिमतोर्भेदाभेदसमुच्चयाङ्गीकरणादुभयपक्षोक्तदोषानुप्रवेशानुपपत्तेः। ननु पयःपावकयोरिवात्यन्तविरुद्धयोर्भेदाभेदयोः कथमेकत्र समुच्चयः? दर्शनबलादिति ब्रूमः। तत्र तावदयं गौरित्यत्रेदंशब्देन व्यक्तिरभिधीयते गोशब्देन तु जातिः। तत्र यदि जातिजातिमन्तावत्यन्तभिन्नौ, तर्हि इदंगोत्वे इति प्रतीतिः स्याद्, अत्यन्तभिन्नेषु घटपटादिषु तथा प्रतीतिदर्शनात्। यद्यत्यन्ताभिन्नौ, तर्हि हस्तः कर इत्यादिवत् पर्यायत्वमिदंगोपदयोः प्रसज्येत। तस्मादिदंगोपदयोरपर्यायत्वे सति सामानाधिकरण्यदर्शनाद् भेदाभेदसमुच्चयमेव वयं जातिजातिमतोराश्रयामहे।

ही अश्व व्यक्ति भी, अतः दोनों व्यक्तियों में गोत्व-व्यञ्जकत्व नहीं रहेगा या दोनों में रहेगा, गो व्यक्ति में गोत्व-व्यञ्जकत्व है, अश्व में नहीं—यह अन्तर तभी बन सकता है, जबकि गोत्व और गौ का अत्यन्त भेद न माना जाय।

समाधान—भाट्टमतानुसार जाति और जातिमान् का भेदाभेद अर्थात् भेद और अभेद का समुच्चय माना जाता है, अतः भेद और अभेद—दोनों पक्षों में कथित दोष प्रसक्त नहीं होते। पयः-पावक के समान अत्यन्त विरुद्ध स्वभाव के भेद और अभेद—दोनों का समुच्चय एकत्र क्योंकर होगा? इस प्रश्न का उत्तर है—'दर्शनबलात्'। अनुभव के बल पर जाति और व्यक्ति का भेदाभेद माना जाता है। 'अयं गौः'—यहाँ इदं शब्द से व्यक्ति और 'गो' शब्द से जाति अभिहित होती है। यहाँ यदि जाति और जातिमान्—दोनों अत्यन्त भिन्न माने जाते हैं, तब 'इदंगोत्वे'—ऐसी प्रतीति होनी चाहिए, क्योंकि अत्यन्त भिन्न घट-पटादि में वैसी ही प्रतीति होती है। यदि दोनों अत्यन्त अभिन्न है, तब 'हस्तः करः'—इत्यादि के समान इदं और 'गोत्व' में पर्यायत्व प्रसक्त होगा और उसका फल यह होगा कि 'अयं गौः'—इस प्रकार सह प्रयोग न हो सकेगा, किन्तु इदं और 'गो' पद में अपर्यायत्व और सामानाधिकरण्य देख कर भाट्टगण जाति और जातिमान् का भेदाभेद-समुच्चय मानते हैं।

समवायात् सामानाधिकरण्यमिति प्राभाकरः। तदुपरिष्टात् समवायनिराकरणे निराकरिष्यामः। ततो न जातिसिद्धौ काचिदनुपपत्तिः। एवं सिद्धायामपि जातौ तदवबोधस्य पूर्वाकारावमर्शनियतत्वात्, तदभावेन सत्त्वशब्दत्वब्राह्मणत्वादीनामभावमाह गुरुः। तदयुक्तम् , पूर्वाकारावमर्शस्य तत्रापि विद्यमानत्वात्। तथाहि कोऽयं पूर्वाकारावमर्शो नाम ? किं पूर्वानुभूतानां सर्वेषामाकाराणामवमर्शः ? उत कतिपयानाम् ? नाद्यः शावलेयीमुपलभ्य बाहुलेयीमुपलभमानस्य शावलेयीगतानां सर्वेषामाकाराणां बाहुलेयीगतत्वेनावमर्शादर्शनात्। दर्शने वा बाहुलेय्याः शावलेयीत्वप्रसङ्गात्। अथ द्वितीयः तर्हि

जाति और जातिमान् में समवाय सम्बन्ध होने के कारण उनके वाचक पदों का सामानाधिकरण्य उपपन्न हो जाता है—ऐसा जो प्रभाकर का मत है, उसका निराकरण समवाय के आगे होनेवाले निराकरण से ही हो जाता है।

गुरु-मत—इस प्रकार जाति के सिद्ध हो जाने पर भी प्रभाकर गुरु का जो कहना है कि जाति का अवबोध सदैव पूर्वाकारावमर्श से नियत होता है, जैसा कि शालिकनाथ (प० प० पृ० ६४ पर) कहते हैं—

जातिराश्रयतो भिन्ना प्रत्यक्षज्ञानगोचरः।
पूर्वाकारावमर्शेन प्रभाकरगुरोर्मता ॥

अत एव सत्त्व, शब्दत्व, ब्राह्मणत्वादि को जाति नहीं माना जा सकता।

गुरु-मत-निरास—सत्त्वादि में भी पूर्वाकारावमर्श करने के कारण जातित्व मानना चाहिए। यह पूर्वाकारावमर्श क्या है ? क्या पूर्वानुभूत सभी आकारों का अनुसन्धान ? अथवा पूर्वानुभूत कतिपय आकारों का भान ? प्रथम पक्ष मानने पर शावलेया व्यक्ति को देख कर बाहुलेयी को देखनेवाला व्यक्ति शावलेयीगत सभी आकारों का बाहुलेयी में अवमर्शन नहीं करता। यदि करे, तब दोनों व्यक्तियों का अत्यन्त अभेद हो जायगा। द्वितीय (एक व्यक्ति के अनुभूत कतिपय आकारों का अनुसन्धान) पक्ष मानने पर सत्त्व, शब्दत्व, ब्राह्मणत्वादि ने क्या

किमपराद्ध सत्त्वशब्दत्वब्राह्मणत्वादिभिः ? पूर्वानुभूतस्य सत्त्वाद्याकारस्य तत्राप्यनुभूयमानत्वात् । ततः पृथिवीसलिलादिषु द्रव्येषु गोत्वादिषु जातिषु रूपरसादिषु गुणेषु गमनादिषु कर्मसु च सत् सदितिप्रतीतिशब्दप्रयोगयोर्दर्शनाद् द्रव्यादिचतुष्टयवर्ति सत्त्वं नाम महासामान्यमाश्रयणीयम् ।

तार्किकास्तु सामान्यस्य सामान्यान्तराश्रयणेऽनवस्थाप्रसङ्गाद् द्रव्यगुण-कर्मगतमेव सत्त्वं न तु जातिगतमित्याहुः । तदयुक्तम्, यदि द्रव्यत्वस्य द्रव्यत्वा-न्तरं गोत्वस्य वा गोत्वान्तरमाश्रयामहे, तर्हि स्यादेवानवस्था । सत्त्वाश्रयणे तु न काचिदनवस्था इति नोक्तदोषानुषङ्गः । अपिच सत् सदिति शब्दप्रयोगप्रत्य-ययोस्तत्राविशेषेण विद्यमानत्वात् कथं नाम न तद्गतामपि सत्तामाश्रयामहे ? एवमश्रुतचरेऽपि शब्दे श्रूयमाणे झटिति शब्दोऽयं शब्दोऽयमित्यनुगताकारबुद्धि-दर्शनाच्छब्दत्वसिद्धिः । ननु पाचकादिवदेकोपाधिनिबन्धनेयं सत्त्वादावेकशब्द-

---

बिगाड़ा है कि पूर्वानुभूत सत्त्वादि आकारों का अनुसन्धान होने पर भी सत्त्वादि को जाति नहीं माना जाता ? फलतः पृथिवी एवं जलादि द्रव्यों में, गोत्वादि जातियों में, रूप-रसादि गुणों में, गमनादि कर्मों में, सत्-सत् ऐसा अनुभव और शब्द-प्रयोग देख कर द्रव्य, गुण, कर्म और जाति—इन चारों में सत्त्वनामक महासामान्य मानना नितान्त युक्ति-संगत है ।

तार्किकगण जो कहते हैं कि सामान्य में सामान्यान्तर मानने पर अनवस्था होती है, अतः द्रव्य, गुण और कर्म—इन तीनों में ही सत्त्व या सत्ता जाति रहती है, जाति में नहीं ।

तार्किकों का वह कहना अयुक्त है, क्योंकि यदि हम द्रव्यत्व में द्रव्यत्वान्तर या गोत्व में गोत्वान्तर मानते हैं, तब अवश्य अनवस्था होती है, किन्तु सत्त्व को चारों में मानने पर किसी प्रकार की अनवस्था नहीं होती । दूसरी बात यह भी है कि सत्-सत्—ऐसा शब्द-प्रयोग और ज्ञान जब अनुस्यूतरूप में विद्यमान है, तब उनमें रहनेवाली सत्ता को क्यों न मानें ? इसी प्रकार शब्द के सुनाई देने पर तुरन्त ही 'शब्दोऽयम्'—इस प्रकार अनुगताकार बुद्धि से शब्दत्व की भी सिद्धि हो जाती है ।

प्रवृत्तिः इति चेत्, न, तादृशोपाधेरनिरूपणात् । न च सत्त्वे प्रमाणसम्बन्धयोग्यत्वमुपाधिः, प्रमाणसम्बन्धयोग्यत्वावगमात् पूर्वमेव झटिति सदिति प्रत्ययोत्पत्तिदर्शनात् । न ह्युपाधिपरिज्ञानात् पूर्वमुपहितत्वबुद्धिरुत्पद्यते । देवदत्तादिविषयपाचकत्वादिबुद्धेस्तद्गतपाकादिव्यपारावगमात् पूर्वमुद्भवप्रसङ्गात् ।

अनेनैव शब्दत्वे श्रोत्रग्राह्यत्वमुपाधिरित्यपास्तम्, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां श्रोत्रग्राह्यत्वग्रहणात् पूर्वमेव झटिति शब्दोऽयमिति प्रतीतिदर्शनात् । एवमेव ब्राह्मणोऽयमिति शब्दप्रयोगप्रत्यययोर्दर्शनाद् ब्राह्मणत्वमपि साधनीयम् ।

यत् पुनर्मातापितृगतो ब्राह्मणशब्दप्रयोगः पुत्रे तत्प्रयोगनिमित्तमित्युक्तम्, तदयुक्तं एकत्र प्रयोगस्यान्यत्र प्रयोगनिमित्तत्वानुपपत्तेः । उपपत्तौ वा पित्रादिगतेन देवदत्तपदप्रयोगेण पुत्रादावपि तत्प्रयोगप्रसङ्गात् । तस्माद् भूयसां ब्राह्मणकुलानामेकवर्गीकरणं ब्राह्मणत्वजातिमन्तरेण नोपपद्यते इति सिद्धं

शङ्का—जैसे 'पाचकोऽयम्', 'पाचकोऽयम्'—इस प्रकार एक पाक क्रिया रूप उपाधि को लेकर 'पाचक' शब्द का प्रयोग हो जाता है, वैसे ही सत्त्वादि में भी एक उपाधि-निबन्धन एक शब्द-प्रयोग क्यों नहीं ?

समाधान—सत्त्वादि में वैसी कोई उपाधि अनुभव में नहीं आती, जिसे एक प्रयोग का नियामक माना जा सके । यदि कहा जाय कि सत्त्व के प्रयोग में प्रमाण-सम्बन्ध-योग्यत्व को उपाधि माना जा सकता है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रमाण-सम्बन्ध-योग्यत्व के अवगम से पूर्व ही सत्-सत् इस प्रकार का अनुगम देखा जाता है, अतः प्रमाण-सम्बन्ध-योग्यत्व को सत्त्व की उपाधि नहीं मान सकते, क्योंकि उपाधि के ज्ञान से पूर्व कभी भी औपाधिक व्यवहार नहीं देखा जाता । यदि उपाधि के ज्ञान से पूर्व औपाधिक व्यवहार हो सकता है, तब देवदत्तगत पाचकत्व के ज्ञान से पूर्व ही 'देवदत्तोऽयं पाचकः'—ऐसा व्यवहार होना चाहिए । इसी प्रकार शब्दत्व में श्रोत्रग्राह्यत्व उपाधि नहीं हो सकती । माता पिता में 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग देख कर यदि पुत्र में 'ब्राह्मण' पद का प्रयोग किया जाय, तब पिता में प्रयुक्त 'देवदत्त' पद का पुत्रादि में भी प्रयोग होना चाहिए । अतः अनेक ब्राह्मण-

ब्राह्मणत्वम् । अविप्लुतब्राह्मणत्वमातापितृसम्बन्धोत्पन्नत्वावगमानुगृहीतं चक्षुरेव तद्ग्राहकमिति न तस्याप्रत्यक्षत्वमपि । एवमेव द्रव्यत्वगुणत्वरसत्वादीन्यपि सामान्यान्तराणि प्राभाकरावकल्पिततत्तदुपाधिनिरसनेन निरुपाधिकत्वसमर्थनात् समर्थनीयानि इति सिद्धा जातिः ।

(३) **गुणाः**—

कर्मणो व्यतिरिक्तत्वे सत्यवान्तरजातिमान् ।
उपादानत्वनिर्मुक्तो गुणो गुणविदां मतः ॥ ३७ ॥

स च रूपरसगन्धस्पर्शसङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्कारध्वनिप्राकट्यशक्तिभेदाच्चतुर्विंशतिविधः ।

कुलों का वर्गीकरण 'ब्राह्मणत्व' जाति के विना सम्पन्न नहीं हो सकता, अतः 'ब्राह्मणत्व' जाति सिद्ध हो जाती है। ब्राह्मणत्व जाति प्रत्यक्ष भी है, क्योंकि जिस व्यक्ति के लिए यह सुन रखा है कि यह विशुद्ध ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न है, उस व्यक्ति को देखते ही उसमें ब्राह्मणत्व का साक्षात्कार हो जाता है। इसी प्रकार द्रव्यत्व, गुणत्व, रसत्वादि अन्यान्य जातियाँ भी सिद्ध हो जाती है, उनमें प्राभाकर-कल्पित उपाधियों का निरास पूर्ववत् हो जाता है, अतः जाति तत्त्व सिद्ध हो गया।

(३) **गुण**—

कर्म से जो भिन्न हो, अवान्तर जातिमान् हो और उपादानत्व-रहित हो, उसे गुण कहा करते हैं ॥ ३७ ॥ गुण के चौवीस भेद होते हैं—(१) रूप, (२) रस, (३) गन्ध, (४) स्पर्श, (५) संख्या, (६) परिमाण, (७) पृथक्त्व, (८) संयोग, (९) विभाग, (१०) परत्व, (११) अपरत्व, (१२) गुरुत्व, (१३) द्रवत्व, (१४) स्नेह, (१५) बुद्धि, (१६) सुख, (१७) दुःख, (१८) इच्छा, (१९) द्वेष, (२०) प्रयत्न, (२१) संस्कार, (२२) ध्वनि, (२३) प्राकट्य और (२४) शक्ति।

तत्र रूपं चक्षुरिन्द्रियमात्रग्राह्यं पृथिव्यादित्रये तमसि च वर्तमानं विशेषगुणः। तच्च शुक्लकृष्णपीतरक्तश्यामभेदेन पञ्चविधम्। एतेषामवान्तरभेदाः पुनरसङ्ख्याः।

रसो रसनेन्द्रियमात्रग्राह्यः पृथिवीजलमात्रवर्ती विशेषगुणः। स च मधुरतिक्ताम्लकषायकटुलवणभेदेन षड्विधः। एतेषामप्यवान्तरभेदा बहुविधाः।

गन्धो घ्राणेन्द्रियमात्रग्राह्यः पृथिवीमात्रवर्ती विशेषगुणः। स च सुगन्धदुर्गन्धसाधारणगन्धभेदेन त्रिविधः, जलादौ गन्धप्रतिभानं तु पृथिवीसम्बन्धादिति द्रष्टव्यम्।

स्पर्शस्त्वगिन्द्रियमात्रग्राह्यः पृथिव्यादिचतुष्टये वर्तमानो विशेषगुणः। सोऽपि शीतोष्णानुष्णाशीतभेदेन त्रिविधः।

सङ्ख्या पुनरेकत्वादिव्यवहारहेतुः सर्वद्रव्यवर्तित्वात् सामान्यगुणः। सा

---

(१) **रूप**—रूप केवल चक्षुरिन्द्रिय से ग्राह्य, पृथिव्यादि त्रय एवं तम में वृत्ति विशेष गुण है। वह पाँच प्रकार का होता है—(१) शुक्ल, (२) कृष्ण, (३) पीत, (४) रक्त और (५) श्याम। इनके अवान्तर भेद अनन्त होते हैं।

(२) **रस**—रस केवल रसना इन्द्रिय का विषय है, पृथिवी और जल—दो में रहता है और विशेष गुण है। वह (१) मधुर, (२) तिक्त, (३) आम्ल, (४) कषाय, (५) कटु और (६) लवण भेद से छः प्रकार का होता है, इनके भी अवान्तर भेद अनेक होते हैं।

(३) **गन्ध**—गन्ध केवल घ्राण इन्द्रिय से गृहीत होती है, पृथिवी मात्र में रहती है, विशेष गुण है। इसके तीन भेद होते हैं—(१) सुगन्ध, (२) दुर्गन्ध, (३) साधारण गन्ध। जलादि में गन्ध अपनी नहीं होती, अपितु पृथिवी के सम्बन्ध से आती है।

(४) **स्पर्श**—स्पर्श त्वगिन्द्रियमात्र से ग्राह्य पृथिवी, जल, तेज और वायु—इन चार द्रव्यों में रहता है, विशेष गुण है। शीत, उष्ण और अनुष्णाशीत भेद से तीन प्रकार का स्पर्श होता है।

पुनरेकादिपरार्धपर्यन्ता ।

परिमाणमपि मानव्यवहारकारणं सर्वद्रव्यगतं सामान्यगुणः अणुमहद्दीर्घादिभेदभिन्नं च । तत्राणुत्वं परमाणुगतम्, महत्परिमाणं गगनादिगतम्, इतराणि पुनरितरद्रव्यगतानि ।

पृथक्त्वं भेदव्यवहारकारणं सर्वद्रव्यगतं सामान्यगुणः । अत्र प्राभाकराः कार्यद्रव्येषु पृथक्त्वं नानुमन्यन्ते । तदुक्तं पदार्थदीपिकायाम्—

पृथक्त्वं तु गुणो नित्यद्रव्येषु परमाणुषु ।
भवेद् व्यावर्तको धर्मः कार्यद्रव्येषु नेष्यते ।। इति ।

---

(५) **संख्या**—एकत्वादि-व्यवहार के हेतुभूत गुण को संख्या कहते हैं, सर्व द्रव्यों में रहने के कारण सामान्य गुण है, वह एक से लेकर परार्ध-पर्यन्त संज्ञाए धारण करती है—

एकं दश शतञ्चैव सहस्रमयुतं तथा ।
लक्षं च नियुतं चैव कोटिरर्बुदमेव च ।।
पुनः खर्वो निखर्वश्च शंखः पद्मश्च सागरः ।
अन्त्यं मध्यं परार्धं च दशवृद्ध्या यथाक्रमात् ।।

पूर्व-पूर्व संख्या को दस से गुणन करने पर उत्तरोत्तर संख्या का लाभ होता है ।

(६) **परिमाण**—परिमाण भी मान-व्यवहार का असाधारण कारण सर्व द्रव्यवृत्ति, सामान्य गुण है । अणु, महत्, ह्रस्व और दीर्घादि भेदों में विभक्त होता है । इनमें से अणुत्व परिमाण परमाणु में और महत् परिमाण गगनादि में तथा ह्रस्वत्वादि इतर द्रव्यों में रहते हैं ।

(७) **पृथक्त्व**—पृथक्त्व गुण भेद-व्यवहार का कारण सर्व द्रव्यगत सामान्य गुण है । प्राभाकरगण जो कहते हैं कि कार्य द्रव्यों में पृथक्त्व नहीं रहता, जैसा कि अर्थदीपिका में कहा है—

पृक्त्वं तु गुणो नित्यद्रव्येषु परमाणुषु ।
भवेद् व्यावर्तको धर्मः कार्यद्रव्येषु नेष्यते ।।

तदयुक्तम्, कार्यद्रव्येष्वपि भेदप्रतिपत्तेरवश्याश्रयणीयत्वात् ।

ननु पदार्थानां स्वरूपमेव भेदः । तच्च कार्यद्रव्येषु प्रत्यक्षगम्यमिति न तत्र तदतिरिक्तव्यावर्तकधर्मकल्पनावकाशः । अदृष्टस्वलक्षणेषु तु स्वरूपदर्शनाभावाद् युक्तमेव व्यावर्तकधर्मानुमानम् । आत्मनि प्रत्यक्षेऽपि विभुत्वाद् व्यावर्तकधर्मस्वीकारः इति चेत् , मैवम्, स्वरूपभेदपक्षानुपपत्तेः । तथाहि—पदार्थानां स्वरूपस्यैव भेदत्वे घटस्य भेद इति सम्बन्धित्वेन घटात् पटो भिन्न इति विशेषणत्वेन च भेदप्रतीतिर्निराश्रया भवेद् , घटभेदपदयोः पर्यायत्वं च प्रसज्येत,

---

वह कहना उचित नहीं, क्योंकि नित्य द्रव्यों के समान ही कार्यभूत घटादि द्रव्यों में भी प्रतीयमान भेद के साधक पृथक्त्व गुण का होना आवश्यक है ।

शङ्का—प्रभाकर गुरु का जो यह कहना है कि भेद वस्तु का स्वरूप ही होता है, कार्य द्रव्यों का स्वरूप प्रत्यक्ष-गम्य ही है, अतः कार्य द्रव्यों में स्वरूपात्मक भेद से अतिरिक्त पृथक्त्व गुण मानने की आवश्यकता ही नहीं । हाँ, जिन द्रव्यों का स्वलक्षण (स्वरूप) प्रत्यक्ष-सिद्ध नहीं, वहाँ पृथक्त्वरूप व्यावर्तक गुण का अनुमान करना न्याय-संगत है । आत्मा प्रत्यक्ष होने पर भी विभु है, अतः उसका भेद तव तक सिद्ध नहीं हो सकता, जब तक उसमें पृथक्त्व गुणरूप व्यावर्तक धर्म न माना जाय, अतः नित्य द्रव्यों में ही पृथक्त्व रहता है ।

समाधान प्रभाकर गुरु का स्वरूपभेद-पक्ष युक्त नहीं, क्योंकि यदि पदार्थों के स्वरूप को ही भेद माना जाता है, तब 'घटस्य भेदः'—यहाँ भेद में घट-सम्बन्धित्व और 'घटात् पटो भिन्नः'—यहाँ पर भेद में पट-विशेषणत्व की प्रतीति निराधार हो जायगी तथा 'घट' पद और 'भेद' पद में पर्याय-वाचित्व भी मानना पड़ेगा । [श्री चिदानन्द पण्डित ने भी कहा है—"स्वरूपभेदयोरैक्ये नीलं भिन्नं नीलस्य भेद इति वा विशेषणत्वेन सम्बन्धित्वेन च भेदस्यावभासो नीलभेदपदयोरपर्यायित्वावभासश्च विरुध्येयाताम्" (नीति० पृ० १००)] । अतः सभी द्रव्यों में

तस्मात् सर्वद्रव्यगतमेव पृथक्त्वम् ।

औपनिषदास्तु स्तम्भात् कुम्भो भिन्न इति कुम्भभेदावगमस्य तत्पूर्वभाविस्तम्भभेदावगमनिबन्धनत्वात् स्तम्भभेदावगमस्य च तत्पूर्वभाविकुम्भभेदावगमाधीनत्वाद् भेदप्रतिपत्तिमेव दुःसम्पादनां मन्यमानाः तत्पूर्वकाणामनुमानादीनामपि भेदप्रतिपादकत्वं निराकुर्वन्तः नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादिवेदान्तवाक्यानां प्रत्यक्षादिविरोधं परिहर्तुं पृथक्त्वं नाम गुणान्तरं परमार्थतो नास्तीत्याहुः ।

तदपि न रमणीयम्, स्तम्भकुम्भौ वादिप्रतिवादिनौ पयःपावकावित्यादीनां परस्परभेदस्य क्वचिदप्यप्रतीयमानत्वे निषेधानुपपत्तेः । न हि घटं क्वचिदप्य-

---

पृथक्त्व गुण मानना चाहिए ।

औपनिषद-मत— अद्वैत वेदान्तियों का मत है कि विश्व में कहीं भी भेद की सिद्धि नहीं होती, अतः भेद के प्रयोजकीभूत पृथक्त्व गुण को कहीं भी मानने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'स्तम्भात् कुम्भो भिन्नः'-- यहाँ पर कुम्भ में स्तम्भ का भेद तभी अवगत होगा, जब कि स्तम्भ में कुम्भ का भेद ज्ञात हो जाय । इस प्रकार अन्योऽन्याश्रयादि दोषों के कारण भेद-प्रतीति का सम्पादन ही सम्भव नहीं । भेद-प्रतीति का आश्रय लेकर ही अनुमानादि प्रवृत्त होते हैं, उसके सिद्ध न होने पर अनुमानादि भी भेद के साधक नहीं हो सकते । "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" (बृह० उ० ४।४।१९) इत्यादि श्रुतियाँ भी भेद का निराकरण करती हैं, अतः इनसे विरुद्ध प्रत्यक्षादि प्रमाण न तो भेद सिद्ध कर सकते हैं और न पृथक्त्व गुण ।

औपनिषद-मत का निराकरण—अद्वैत वेदान्तियों का उक्त मत अयुक्त है, क्योंकि किसी वस्तु का निषेध तभी हो सकता है, जब कि उसका ज्ञान हो । भेद का यदि अवगम नहीं हो सकता, तब उसका निराकरण भी कैसे होगा ? अतः स्तम्भ-कुम्भ, वादी-प्रतिवादी, पयः-पावकादि के परस्पर भेद का निरास नहीं हो सकता, क्योंकि घट से

जानाना: इह भुतले घटो नास्तीति घटं प्रतिषेद्धुम् उत्सहन्ते । प्रतीयमानत्वे तु बलवत्प्रत्यक्षप्रमाणबाधितविषयत्वाद् भेदनिरासाय प्रवृत्तानामनुमानागमार्थापत्तीनाम् अनवकाशप्रसङ्गात् । न च भेदप्रतिपत्तौ परस्पराश्रयदोषः, सप्रतियोगित्वेनैव भेदस्य प्रतिपत्तिरिति नियमस्य सविकल्पकत्वप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवित्वात् । न च सविकल्पके तादृशनियमदर्शनात् निर्विकल्पकेऽपि प्रत्यक्षत्वेन हेतुना शक्यं तदनुमानमिति वाच्यम्, यथाकथञ्चित् साधर्म्येणान्यत्रान्यधर्मारोपे सविकल्पकप्रत्यक्षस्य निर्विकल्पकपूर्वत्वनियमदर्शनात् प्रत्यखत्वेन निर्विकल्पकस्यापि निर्विकल्पान्तरपूर्वत्वानुमानप्रसङ्गात् । तस्मात् निर्विकल्पकसंविदा

अत्यन्त अनभिज्ञ व्यक्ति 'इह भूतले घटो नास्ति'—इस प्रकार घट का निषेध कभी नहीं कर सकते। अतः बाध्य होकर 'स्तम्भः कुम्भो न भवति'—इत्यादि प्रत्यक्ष प्रमाण से भेद की अवगति माननी होगी, तब अनुमान और आगमादि प्रमाणों के द्वारा भेद का निराकरण नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण इतर सभी प्रमाणों से प्रबल होता है और अनुमान, आगमादि उससे दुर्बल। [श्रीचिदानन्द पण्डित ने (नीति० पृ० १०२–१०७ पर) "किं स्तम्भकुम्भौ वादिप्रतिवादिनौ साध्यसाधने दूषणभूषणे चेत्यादीनां मिथो भेदः परमार्थरूपो विद्यते, न वा ?" इत्यादि विकल्प-प्रणाली अपनाकर अद्वैतवाद का विस्तार से निरास किया है]। यह जो भेद की तीति में अन्योऽन्याश्रय दोष दिया है, वह भी संगत नहीं, क्योंकि भेदविषयक सविकल्पक ज्ञान में ही भेद और भेद्य का ज्ञान अपेक्षित होता है, निर्विकल्पक ज्ञान में नहीं, अतः निर्विकल्पक के द्वारा पहले भेदादि का स्वरूपतः भान हो जाने के पश्चात् सविकल्पक ज्ञान में भेद्य-भेद-सापेक्ष भेद की प्रतीति हो जाती है। निर्विकल्पक में भी 'प्रत्यक्षत्व' हेतु के द्वारा तादृशनियमपूर्वकत्व का अनुमान करने पर निर्विकल्पक में भी निर्विकल्पकपूर्वकत्व का अनुमान होने लगेगा, [चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं—"कथं तर्हि भेद्यभेदावधिज्ञानजन्यस्य भेदज्ञानस्य समसमयत्वमिति चेत्, मैवम्, भेदविषयस्य निर्विकल्पस्य

युगपदवभासितानां स्तम्भकुम्भभेदानां सविकल्पकसंविदा विशेषणविशेष्यभावेन सप्रतियोगित्वेन च प्रतीतौ न काचिदनुपपत्तिः—इति सिद्धं पृथक्त्वम् ।

संयोगः सर्वद्रव्यवर्ती सामान्यगुणः । स च नित्यानित्यभेदेन द्विविधः । तत्र नित्यविभूनां व्योमकालादीनां परस्परसंयोगो नित्यः । स च संयोगः प्रागेव दर्शितः । अनित्यः संयोगः पुनरन्यतरकर्मज उभयकर्मजः संयोगजश्चेति त्रिविधः । तत्र स्थाणुश्येनयोः संयोगोऽन्यतरकर्मजः, युध्यतोर्मल्लकृष्णयोः

भेद्यभेदावधिज्ञानजन्यत्वनियमासिद्धः । 'निर्विकल्पमपि तन्नियमयोगि, प्रत्यक्षत्वात्, सविकल्पकवदिति' चेन्न, तस्य सविकल्पत्वप्रयुक्तत्वात्" (नीति० पृ० १०५) । अर्थात् उक्त अनुमान में 'सविकल्पप्रयुक्तत्व' धर्म सविकल्पक ज्ञान में साध्य का व्यापक और निर्विकल्पकरूप पक्ष में साधन का अव्यापक होने से उपाधि है, अतः प्रत्यक्षत्व हेतु सोपाधिक होने के कारण साध्य का साधक नहीं हो सकता । यद्यपि इस उपाधि का पर्यवसान 'पक्ष-भिन्नत्व' में ही होता है, तथापि नारायण पण्डित-द्वारा प्रदर्शित 'निर्विकल्पस्यापि निर्विकान्तरपूर्वकत्वं स्यात्'—इस अनवस्था-पादक तर्क से युक्त होने के कारण उक्त उपाधि हेतु को अक्षम बनाने में समर्थ है] । अतः निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा युगपत् अवभासित स्तम्भ, कुम्भ और भेदों का विशेषण-विशेष्यभाव सविकल्पक ज्ञान के द्वारा स्थापित किया जाता है और सप्रतियोगिकत्वेन भेद की प्रतीति उपपन्न हो जाती है, फलतः भेद की उपपत्ति के साथ-साथ पृथक्त्व की सिद्धि हो जाती है ।

(८) **संयोग**—संयोग भी सर्वद्रव्यवर्त्ती सामान्य गुण माना जाता है । वह दो प्रकार का होता है—(१) नित्य संयोग और (२) अनित्य संयोग । नित्यभूत आकाश, कालादि का परस्पर संयोग नित्य होता है, जो कि मन की विभुता के प्रसङ्ग में ही कहा जा चुका है । अनित्य संयोग (१) अन्यतर-कर्म-जन्य, (२) उभय-कर्म-जन्य और (३) संयोग-जन्य—इन भेदों से तीन प्रकार का होता है । (१) स्थाणु और श्येन

संयोग उभयकर्मजः, हस्ततरुसंयोगात् कायतरुसंयोगः संयोगजः संयोगः ।

विभागः पुनरविभुद्रव्यमात्रवर्ती विशेषगुणः । तस्याप्यन्यतरकर्मजादिभेदेन त्रैविध्यं द्रष्टव्यम् ।

परत्वापरत्वे तु दिक्कालमात्रवर्तित्वाद् विशेषगुणौ । तत्र दूरस्थिते प्रतीयमानं परत्वम्, समीपस्थिते प्रतीयमानं चापरत्वम्, दिक्कृतमित्युच्यते, तयोर्दिङ्मात्रनिबन्धनत्वात् । स्थविरे प्रतीयमानं परत्वम्, यूनि प्रतीयमानमपरत्वं च कालकृतमित्युच्यते, तयोः कालमात्रनिबन्धनत्वात् ।

गुरुत्वं पतनासमवायिकारणं पृथिवीजलमात्रवर्ती विशेषगुणः । द्रवत्वं

पक्षी का संयोग अन्यतर-कर्म-जन्य होता है, क्योंकि स्थाणु और श्येन—इन दोनों में से केवल एक श्येन पक्षी की क्रिया से ही वह संयोग उत्पन्न होता है । (२) जहाँ कहीं पहलवान के साथ कृष्ण का मल्ल-युद्ध होता है, वहाँ दोनों का संयोग उभय के कर्म से जन्य माना जाता है । हा और वृक्ष के संयोग से उत्पन्न शरीर और वृक्ष का संयोग संयोगज संयोग कहलाता है ।

(९) **विभाग**—विभाग केवल अविभु द्रव्यों में रहता है, अतः विशेष गुण है, वह भी (१) अन्यतर-कर्म-जन्य, (२) उभय-कर्म-जन्य और (३) विभागज विभागभेद से तीन प्रकार का होता है ।

(१०, ११) **परत्वापरत्व**—परत्व और अपरत्व भी केवल दिक् और काल में रहने के कारण विशेष गुण कहे जाते हैं । दूरस्थ वस्तु में प्रतीयमान परत्व और समीपस्थ पदार्थ में ज्ञायमान अपरत्व दिक्कृत (दैशिक) कहे जाते हैं, क्योंकि वे दोनों दिक्प्रयुक्त होते हैं । स्थविर (वृद्ध) शरीर में परत्व (ज्येष्ठत्व) और युवा शरीर में अपरत्व कालिक माना जाता है, क्योंकि यह परत्व और अपरत्व काल की देन हैं ।

(१२) **गुरुत्व**—पतन क्रिया का असमवायिकारणभूत गुरुत्व केवल पृथिवी और जल में रहनेवाला विशेष गुण होता है ।

(१३) **द्रवत्व**—द्रवत्व पृथिवी, जल और तेज तीन द्रव्यों में रहने

पृथिव्यादित्रयवर्ती विशेषगुणः। स च स्वाभाविकनैमित्तिकभेदेन द्विविधः। तत्रापामेव स्वाभाविकं द्रवत्वम्। पृथिव्याः क्वचिज्जलसंयोगात् द्रवत्वं क्वचित्तु जतुप्रभृतावग्निसंयोगात्। तेजसः पुनः सुवर्णादेरग्निसंयोगादिति द्रष्टव्यम्।

स्नेहो जलमात्रवर्ती स्निग्धत्वादिबुद्धिविषयो विशेषगुणः।

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्ना आत्मविशेषगुणाः। तत्र बुद्धिव्यतिरिक्तं सुखादिपञ्चकं मानसप्रत्यक्षगम्यम्। बुद्धिः पुनरर्थप्रकाशापरनामधेयप्राकट्यान्यथानुपपत्तिप्रसूतार्थापत्तिगम्या।

बुद्धिः स्वयंप्रकाशेति गुरुशङ्करयोर्मतम्।
प्रत्यक्षेत्यक्षपादानां तन्निरासोऽभिधीयते ॥ ३८ ॥

वाला विशेष गुण है। वह दो प्रकार का होता है—(१) स्वाभाविक या सांसिद्धिक और (२) नैमित्तिक। जलीय द्रवत्व (तरलता) स्वाभाविक और घृतादिरूप पृथिवी का द्रवत्व नैमित्तिक है। वह कहीं जल के सयोगरूप निमित्त और कहीं जतु (लाख) आदि में अग्नि संयोग रूप निमित्त से उत्पन्न होता है। सुवर्णादिरूप तैजस द्रव्य में भी अग्नि के संयोग से ही द्रवत्व उद्भूत होता है।

(१४) **स्नेह**—स्नेह जल मात्र में रहनेवाला स्निग्धत्वादि व्यवहार का प्रयोजक विशेष गुण होता है।

(१५) **बुद्ध्यादि षट्क**—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न नाम के छः गुण आत्मा के विशेष गुण कहे जाते हैं। उनमें बुद्धि को छोड़कर शेष सुखादि पाँच गुण मानस प्रत्यक्ष के विषय होते हैं। बुद्धि की कल्पना अर्थापत्ति प्रमाण से की जाती है, क्योंकि 'ज्ञातोऽयं घटः'—इत्यादि प्रत्यक्ष ज्ञान के विषयीभूत ज्ञातत्व, प्रकाश, प्राकट्य इत्यादि नामों से प्रसिद्ध धर्म की अन्यथा (बुद्धि के विना) अनुपपत्ति होती है, उसकी उपपत्ति तभी हो सकती है, जवकि बुद्धि या ज्ञान की कल्पना की जाय।

प्रभाकर गुरु और आचार्य शङ्कर के मत में बुद्धि (ज्ञान) स्वयं-

तत्र स्वयंप्रकाशवादिनस्तावदेवं प्रयुञ्जते—ज्ञानं स्वगतव्यवहाररूपे कार्ये स्वसजातीयपरानपेक्षम्, तथाभूतपरगतकार्यकारित्वाद्, यथा प्रदीपः । न हि प्रदीपः स्वगतव्यवहाररूपे कार्ये प्रदीपान्तरमपेक्षते, तस्माद् बुद्धिरपि न बुद्ध्यन्तरम्—इति ।

तदयुक्तम्, अर्थान्तरानुमापके लिङ्गान्तरावगम्ये लिङ्गे व्यभिचारात् । तत्र हि परप्रकाशकं लिङ्गं स्वप्रकाशाय लिङ्गान्तरमपेक्षते । ननु ज्ञेयत्वे विज्ञानस्य घटादिवज्जडत्वं प्रसज्येत इति चेत्, न, स्वप्रकाशत्वपक्षेऽपि परगतस्य ज्ञानस्य चेष्टालिङ्गकानुमानगम्यत्वेन जडत्वप्रसङ्गस्य तादवस्थ्यात् । ततो न धीकर्मत्व-

---

प्रकाश है और नैयायिकों के मत में ज्ञान का प्रत्यक्ष माना जाता है, अतः इन तीनों का निराकरण किया जाता है ।। ३८ ।।

ज्ञान की स्वयंप्रकाशता—स्वप्रकाशतावादियों का अनुमान-प्रयोग है—'ज्ञान स्वविषयकव्यवहारे सजातीय परानपेक्षम्, अव्यवधानेन विषये प्रकाशादिव्यवहारनिमित्तत्वात्, प्रदीपालोकवत्" (पञ्च० वि० पृ० २४७)। विवरणकार ने व्यवहार चार प्रकार का बताया है—"व्यवहारः अभिज्ञा, अभिवदनम् उपादानम्, अर्थक्रिया—इति चतुर्विधः" (पञ्च० वि० पृ० ६२)। प्रकृत में अभिज्ञा और अर्थक्रिया विवक्षित हैं। जैसे प्रदीप स्वकीय ज्ञान या प्रकाशरूप व्यवहार में प्रदीपान्तर की अपेक्षा नहीं करता, वैसे ही ज्ञान भी अपने व्यवहार में ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं करता—यही ज्ञान की अपनी स्वप्रकाशता है ।

स्वयंप्रकाशता-निरास—उक्त अनुमान अर्थान्तरानुमापक लिङ्गान्तरानुमेय लिङ्ग में व्यभिचरित है, क्योंकि वह पर-प्रकाश लिङ्ग अपने ज्ञानरूप व्यवहार में अपने सजातीय लिङ्गान्तर की अपेक्षा करता है। 'ज्ञान भी यदि ज्ञेय माना जाता है, तब वह घटादि के समान जड़ या अप्रकाशरूप हो जायगा'—ऐसा आक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि स्वप्रकाश-पक्ष में भी देवदत्तादिगत ज्ञान चेष्टादिलिङ्गकानुमान से ज्ञेय होता है, उस ज्ञेयभूत ज्ञान में जड़त्वापत्ति समान ही है। अतः ज्ञान या

मात्रेण जडत्वसिद्धिर्ज्ञानस्यान्यस्य वा। यदधीनं व्यवहारानुगुणत्वं तदजडं यदधीनं तु न कस्यचित् तज्जडम्—इत्येव विभागः।

इत्थं निरस्ते परमते स्वपक्षस्थापनार्थमनुमानमुच्यते—संवेदनं स्वप्रकाशं न भवति, वस्तुत्वाद् घटवत्। विप्रतिपन्नो व्यवहारः स्वविषयसंवेदननिबन्धनः, व्यवहारत्वात् संप्रतिपन्नव्यवहारवत्। संवेदनव्यवहारः, संवेदनसंवेदननिबन्धनः, संवेदनव्यवहारत्वात् परगतसंवेदनव्यवहारवत्।

अन्य किसी भी पदार्थ में ज्ञान-कर्मत्वमात्र जड़त्व का प्रयोजक नहीं होता, अपितु वस्तुनिष्ठ व्यवहारानुगुणत्व जिसके अधीन होता है, वह अजड़ और जिसके अधीन किसी का व्यवहारानुगुणत्व नहीं होता, वह जड़ है।

इस प्रकार ज्ञान की स्वप्रकाशता के विषय में परमत का निराकरण किया गया, अब स्वकीय (भाट्ट) पक्ष की स्थापना के लिए अनुमान-प्रयोग किया जाता है—(१) 'ज्ञानं स्वप्रकाशं न भवति, वस्तुत्वाद्, घटवत्'। (२) विवादास्पदव्यवहारः, स्वविषयकज्ञाननिबन्धनः, व्यवहारत्वात्, घटादि-व्यवहारवत्। (३) 'संवेदनव्यवहारः, संवेदन-विषयकसंवेदनप्रयुक्तः', 'संवेदनव्यवहारत्वात्, परगतसंवेदनव्यवहारवत्' [श्री चिदानन्द पण्डित ने उक्त तीन अनुमानों से पहले एक अनुमान और प्रस्तुत किया है—"ज्ञानं स्वप्रतिबद्धव्यवहारे ज्ञानान्तरापेक्षम्, व्यवह्रियमाणत्वात्" (नीति० पृ० १२७)। सब मिलाकर परप्रकाशता में चार अनुमान किए गए हैं। आचार्य भा सर्वज्ञ ने जो प्रयोग किया है—"ज्ञानं स्वव्यतिरिक्तवेदनवेद्यम्, वेद्यत्वाद्, रूपादिवत्" (न्या० भू० पृ० १३६) वैसे प्रयोगों में तो दृष्टान्तभूत रूपादि जड़ पदार्थ हैं, उनकी समता का अजडात्मक पक्ष में न होना अनुचित नहीं। कथित तृतीय अनुमान में परगत अनुभूति को जो दृष्टान्त बनाया गया, वह अवश्य स्वप्रकाशता पर एक प्रबल प्रहार है, क्योंकि परकीय ज्ञान में ज्ञेयत्व न मानने पर वादी-प्रतिवादी आदि के व्यवहारों की उपपत्ति नहीं हो सकती, जैसा कि वेदान्तदेशिक कहते हैं—"यदि परगतानुभूतिः

मानसप्रत्यक्षं विज्ञानमिति तार्किकाणां मतम्। ते पुनरेवमाहुः—ज्ञानं प्रत्यक्षम्, क्षणिकात्मविशेषगुणत्वात्, सुखादिवदिति। तदिदमसारम्, सुषुप्त्यवस्थायां प्राणादिक्रियानिमित्तेन प्रयत्नेनानैकान्त्यात्। अप्रत्यक्षत्वे प्रमाण च

नानुभूयते, कथं शब्दार्थसम्बन्धः ? परबुद्धिविशेषानुमानेनैव हि सर्वत्र सिद्धे कार्ये वा व्युत्पत्तिः। एवं च व्युत्पत्तेरशक्यत्वात् चेष्टाशब्दयोः प्रमाणकोटिनिक्षेप एव न स्यात्। परस्पराभिप्रायानभिज्ञतया वादिनोः शुष्ककलह एव स्यात्। परस्पराशयपरिज्ञानादेव च सर्वो लौकिको व्यवहारः" (श० दू० पृ० १०३)। श्री उदयनाचार्य भी कहते हैं— "विवादाध्यासितवेदन वेदनान्तरगोचरः, वेदनत्वात्, पुरुषान्तरवेदनवत्। अवेदने तद्व्यवहारादिविलोपप्रसङ्गः" (किर० पृ० ५३६)। प्रत्येक व्यवहार में व्यवहर्तव्य का ज्ञान नियमतः अपेक्षित होता है, अतः परकीय ज्ञान का व्यवहार परकीय ज्ञान का ज्ञान न होने पर कथमपि सम्भव नहीं, अत एव शबरस्वामी ने कहा है—"पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, न तु पूर्वं ज्ञायते, भवति हि कदाचिदेतद् यज्ज्ञातोऽप्यर्थः सन्नज्ञात इत्युच्यते। न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धे रूपोपलम्भनम्" (शा० भा० पृ० ३४)]।

तार्किक मत—तार्किकगण ज्ञान का मानस प्रत्यक्ष मानते हुए कहते है—"ज्ञानं प्रत्यक्षम्, क्षणिकात्मविशेषगुणत्वात्, सुखादिवत्" [आचार्य प्रशस्तपाद ने कहा है—"बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः"। श्री गङ्गेशोपाध्याय भी उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—'ज्ञानं मानसप्रत्यक्षम्, आत्मविशेषगुणत्वे सति क्षणमात्रस्थायित्वात् सुखवत्' (न्या० त० चि० पृ० ८४४)। न्यायलीलावतीकार भी कहते हैं—"ज्ञायते च मानसप्रत्यक्षात्" (न्या० ली० पृ० ८०१)]।

तार्किक-मत-निरास—ज्ञान की मानस प्रत्यक्षता में जो अनुमान किया गया वह सुषुप्तिगत प्राण-संचार के निमित्तभूत जीवनयोनि प्रयत्न में व्यभिचरित है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय माना जाता है, मानस प्रत्यक्षगम्य नहीं, फिर भी क्षणिकात्मविशेषगुणत्वरूप हेतु उसमें रहता है।

भवति—विवादपदं ज्ञानम् अप्रत्यक्षम्, ज्ञानत्वात्, सम्प्रतिपन्नज्ञानवदिति ।

ननु ज्ञानस्य प्राकट्यावगम्यत्वेऽपि ज्ञातस्यैव प्राकट्यस्य ज्ञानगमकत्वम् । ततश्च प्राकट्यगतेन ज्ञानान्तरेण भवितव्यम् । तदपि ज्ञानं प्राकट्यान्तरावसेयम्—इत्यनवस्थाप्रसङ्ग इति चेत्, मैवम्, मूलक्षयाभावेनास्या अनवस्थाया अदूषणत्वात् । तथा प्राहुः—"मूलक्षयकरीं प्राहुरनवस्थां हि दूषणीमि"ति । कथं च मूलक्षयाभावः? उत्पन्नस्य ज्ञानस्यावश्यवेदनीयत्वाभावादिति ब्रूमः । न चाविज्ञायमानस्य विषयप्रकाशकत्वानुपपत्तिरिति वाच्यम्, चक्षुरादीनामप्यप्रकाशकत्वप्रसङ्गात् । जिघृक्षायां सत्यां पश्चादर्थापत्तिगम्यत्वस्य चोभयत्रापि

ज्ञान की अप्रत्यक्षता में अनुमान प्रमाण भी है—'विवादास्पदं ज्ञानम्, अप्रत्यक्षम्, ज्ञानत्वात्, परकीयज्ञानवत्' ।

शङ्का—यदि ज्ञान को प्राकट्य (ज्ञातता) के द्वारा अनुमेय माना जाता है, तव ज्ञातता ज्ञात होकर ही ज्ञान की अनुमापिका हो सकेगी, प्राकट्यविषयक ज्ञान भी प्राकट्यान्तर से वेद्य होगा—इस प्रकार अनवस्था होती है ।

समाधान—ऐसी अनवस्था सभी मानते हैं, क्योंकि इससे मूलभूत वस्तु का नाश नहीं होता, जैसा कि कहा गया है—"मूलक्षयकरीं प्राहुरनवस्थां हि दूषणीम्" । [अर्थात् वीज-वृक्षादि स्थल पर भी उत्तरोत्तर वृक्षादि की सृष्टि पूर्व-पूर्व बीज से मानी ही जाती है, इससे मूल वीज का नाश नहीं होता, अतः ऐसी अनवस्था अनादि प्रपञ्च में कोई दोष नहीं मानी जाती] । उक्त अनवस्था से मूल-क्षय क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उत्पन्न ज्ञान की अवश्यवेदनीयता का कोई नियम नहीं होता । 'अविज्ञात ज्ञान विषय का प्रकाशक नहीं हो सकता'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अज्ञात प्रकाशक यदि प्रकाश नहीं कर सकता, तव चक्षुरादि इन्द्रियों में भी प्रकाशकत्व न वन सकेगा, क्योंकि अज्ञात इन्द्रियाँ ही विषय की प्रकाशक होती है । हाँ, जब कभी ज्ञातता और इन्द्रियादि प्रकाशक पदार्थों की जिज्ञासा उत्पन्न होती है, तब अर्थापत्ति

तुल्यत्वात् ।

विज्ञानं घटाद्याकारमिति बौद्धाः कथयन्ति । तदुपरिष्टान्निराकरिष्यामः । बुद्धिरयथार्थस्मरणानुवादयथार्थरूपेण चतुर्विधेति प्रमाणपरिच्छेदे समर्थितम् ।

सुखं पुनरैहिकसुखं स्वर्गसुखं मोक्षसुखं चेति त्रिविधम् । तत्र ऐहिकसुखं तु स्रक्चन्दनवनितादिजन्यं दुःखमिश्रं च । स्वर्गसुखं पुनर्देशान्तरप्राप्यं दुःखरहितं च । तत्तु दर्शपूर्णमासेष्टिज्योतिष्टोमादावविशेषेण स्वर्गफलश्रुतेः सातिशयम् । उभयत्रापि धर्म एव कारणम् । मोक्षसुखं प्रागेवाभिहितम् ।

दुःखं पुनरैहिकमामुष्मिकं च द्विविधम् । तत्रैहिकं रोगादिजन्यम् ।

के द्वारा उनकी सिद्धि हो ही जाती है ।

बौद्धगण जो विज्ञान को साकार (घटाद्याकारवाला) मानते हैं, उसका निराकरण आगे चल कर किया जायगा । प्रमाण-परिच्छेद (विगत पृ० ९) में यह कहा जा चुका है कि बुद्धि चार प्रकार की होती है—(१) अयथार्थ ज्ञान, (२) स्मरण, (३) अनुवाद और (४) अयथार्थ ज्ञान ।

(१६) **सुख**—सुख तीन प्रकार का होता है—(१) ऐहिक, (२) स्वर्ग और (३) मोक्ष । (१) ऐहिक सुख तो इसी शरीर में स्रक् (पुष्प-हार) चन्दन और वनिता (कामिनी) आदि उपकरणों से जनित दुःख-मिश्रित होता है । (२) स्वर्ग सुख लोकान्तर-प्राप्य दुःख-रहित विशुद्ध सुख को कहते हैं । वह दर्शपूर्णमास, अग्निष्टोम, ज्योतिष्टोम आदि कर्मों के अनुष्ठान से जनित होता है । कर्मों के तर-तमभाव से स्वर्ग सुख भी तर-तमभाव-युक्त सातिशय माना जाता है । उभय विध फल का नियामक धर्म ही होता है । मोक्ष सुख का निरूपण पहले ही किया जा चुका है ।

(१७) **दुःख**—दुःख भी ऐहिक और आमुष्मिक (पारलौकिक) भेद से दो प्रकार का होता है । ज्वरादि रोगों से जनित दुःख को ऐहिक और रौरवादि नरक लोकों में प्राप्त होनेवाला दुःख आमुष्मिक कहा

आमुष्मिकं तु रौरवमहारौरवादिरूपम् । तत्रोभयत्राप्यधर्मः कारणम् ।

इच्छा ममेदं स्यादित्येवमादिरूपा । द्वेषस्तु शत्रुविषयो भावविशेषः ।

प्रयत्नस्तु शरीरादौ हेतुः कर्मसमुद्भवे ।
एवमेते समुद्दिष्टाः संक्षेपादात्मनो गुणाः ॥ ३९ ॥

संस्कारस्तु लौकिकवैदिकभेदेन द्विविधः । लौकिकस्तत्र वेगो भावना स्थितस्थापकश्चेति त्रिविधः । तत्र वेगः पृथिव्यादिपञ्चद्रव्यवर्ती विशेषगुणः क्रियाहेतुश्च । भावनात्मकस्तु संस्कार आत्ममात्रवर्ती विशेषगुणः । पूर्वानुभवोऽस्य कारणम्, स्मृतिस्तु कार्यम् । स्थितस्थापकस्तु संस्कारः स्पर्शवत्सु द्रव्येषु वर्तमानो विशेषगुणः । स यथा—

वेणुरन्ध्रप्रयुक्तं वा बद्धं वा बहुवत्सरम् ।
मुच्यमानं श्वलाङ्गूलं वक्रभावं न मुञ्चति ॥ ४० ॥ इति

जाता है । इन दोनों प्रकार के दुःखों की उत्पत्ति अधर्म से होती है ।

(१८) इच्छा—'ममेदं स्यात्'—इस प्रकार की कामना को इच्छा कहते हैं ।

(१९) द्वेष—शत्रु को देख कर उत्पन्न होनेवाले द्रोह को द्वेष कहा जाता है ।

(२०) प्रयत्न—शारीरिकादि क्रिया का जनक कृतिरूप गुणविशेष प्रयत्न कहलाता है । इस प्रकार आत्मा के विशेष गुणों का संक्षिप्त परिचय कराया गया ॥ ३९ ॥

(२१) संस्कार—संस्कारों के दो भेद होते हैं—(१) लौकिक और (२) वैदिक । (१) लौकिक संस्कार तीन प्रकार का होता है—(१) वेग, (२) भावना तथा (३) स्थितस्थापक । पृथिव्यादि पाँच द्रव्यों में क्रिया के जनक विशेष गुण की संज्ञा वेग है । भावनाख्य संस्कार आत्मगत पूर्वानुभव से उत्पन्न और उत्तर स्मृति का जनक होता है । स्थितस्थापक संस्कार स्पर्शगुणवाले द्रव्यों में रहनेवाला विशेष गुण है, जिस गुण के कारण ही कुत्ते की पूँछ अपना वक्रभाव (टेढ़ापन) नहीं

वैदिकस्तु संस्कारस्तक्षणोत्पवनप्रोक्षणावहननादिक्रियाजन्यः। स च द्वितीयाश्रुत्यवसेयः। यथा यूपं तक्षति आज्यमुत्पुनाति तण्डुलान् प्रोक्षति व्रीहीनवहन्तीत्यादि। तत्र हि द्वितीयाश्रुत्या तक्षणादिभिर्यूपादीन् संस्कुर्यादित्यर्थः सिध्यति। स च भूतभाव्युपयोगिद्रव्यमात्रवर्ती विशेषगुणः। यथाहुः—भूतभाव्युपयोगं हि द्रव्यं संस्कारमर्हति—इति। स तु शक्त्यन्तर्भूत इति केचित्। तदप्यनुमन्यामहे।

ध्वनिर्वायुगुणः शब्दाभिव्यञ्जकः। स च प्रागेवोक्तः।

प्राकट्यं विषयव्यवस्थापकः सर्वद्रव्यवर्ती सामान्यगुणः। स च संयुक्त-

---

छोड़ती, चाहे उसे बाँस की सीधी नली में या किसी लकड़ी के साथ कई वर्ष तक बाँध कर रखा जाय।

(२) **वैदिक संस्कार**—यूपादि में तक्षणादि, घृतादिगत उत्पवनादि, व्रीहिगत प्रोक्षण-अवहननादि क्रियाओं से उत्पन्न संस्कार वैदिक संस्कार है। वह द्वितीया विभक्तिरूप श्रुति से प्रमाणित होता है, जैसे—"यूपं तक्षति", "आज्यमुत्पुनाति", "व्रीहीन् प्रोक्षति", "व्रीहीनवहन्ति"—इत्यादि स्थलों पर द्वितीया श्रुति (विभक्ति) का यह अर्थ प्रतीत होता है कि तक्षणादि क्रियाओं के द्वारा यूपादि का संस्कार करना चाहिए। वह संस्कार उपयुक्त और उपयोक्ष्यमाण द्रव्य में रहनेवाला विशेष गुण है, जैसा कि कहा गया है—"भूतभाव्युपयोगं हि संस्कार्यं द्रव्यमिष्यते" (तं० वा० पृ० ४११)। अर्थात् जिस द्रव्य का उपयोग हो चुका है, ऐसे उपयुक्त अथवा जिस द्रव्य का भविष्य में उपयोग होनेवाला है, ऐसे उपयोक्ष्यमाण द्रव्य का संस्कार किया जाता है। वह संस्कार शक्ति पदार्थ के अन्तर्गत है—ऐसा भी कुछ लोग कहते है, वह भी हमें सम्मत है।

(२२) **ध्वनि**—ध्वनि वायु का वह गुण है, जो कि शब्द का व्यञ्जक माना जाता है, उसका निरूपण पहले ही किया जा चुका है।

(२३) **प्राकट्य**—विषय का व्यवस्थापक सर्वद्रव्यवृत्ति सामान्य

तादात्म्यसम्बन्धेन प्रत्यक्षगम्यः ।

तच्च प्राकट्यं द्रव्याश्रितमपि तेन तादात्म्यसम्बन्धाज्जातिगुणकर्माण्यपि परम्परया समाश्रयते तत्प्रतियोगिकमभावमपीति न तेषामविषयत्वप्रसङ्गः । प्राकट्याश्रयो विषय इति विषयलक्षणमाहुराचार्याः ।

यस्यां संविदि योऽर्थोऽवभासते स तस्या विषयः इति प्राभाकराः । तत्तु पटादिज्ञानेष्ववभासमानयोरात्मस्वात्मनोरपि विषयत्वप्रसङ्गादयुक्तम् ।

ननु किमिदं प्राकट्यं नाम ? श्रूयताम्—सन्ति तावल्लौकिकपरीक्षकाणां

गुण का नाम प्राकट्य या ज्ञातता है । उसका संयुक्त-तादात्म्य सम्बन्ध से प्रत्यक्ष माना जाता है । ज्ञात घट चक्षुरादि से संयुक्त है, उसमें 'ज्ञातता' धर्म तादात्म्येन रहता है, अतः संयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध से घटादिगत रूपादि के समान ही ज्ञातता का प्रत्यक्ष होता है ।

यद्यपि प्राकट्यरूप गुण द्रव्य के आश्रित ही होता है, तथापि तादात्म्येन द्रव्यवर्ती जाति, गुण और कर्म को भी परम्परया (स्वाश्रय तादात्म्य सम्बन्ध से) अपना आश्रय बनाता है । इतना ही नहीं, द्रव्यादिप्रतियोगिक अभाव में भी प्राकट्य स्वाश्रयप्रतियोगिकत्वादि सम्बन्ध से रह जाता है, फलतः द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव—इन सभी में प्राकट्याश्रयत्वरूप विषयत्व सुलभ हो जाता है, क्योंकि चिदानन्द पण्डित ने कहा है—"यदवगतं ज्ञानं कल्पयति, तत् किमपि प्रकाशादिपदवेदनीयमर्थगतमर्थान्तरमभ्युपगमनीयम् । तच्च प्राकट्यमित्युच्यते, विषयत्वमर्थस्य तदाश्रयत्वमेव" (नीति० पृ० १३४) ।

प्राभाकरगण जो विषयता का लक्षण करते हैं कि "यस्यां संविदि योऽर्थो भासते, स तस्या विषयः" (प्र० पं० पृ० ४८) । वह अयुक्त है, क्योंकि उनके मतानुसार पटादिविषयक ज्ञानों में आत्मा और स्वयं ज्ञान भी भासमान होता है, अतः उनमें पटादिविषयक ज्ञान की विषयता प्रसक्त होती है ।

यह प्राकट्य वस्तु क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है कि

घटः प्रकाशते, घटो भाति, प्रकटो घट इत्यादयो व्यवहाराः। न चैते भ्रान्तिमूलाः, बाधकाभावात्। अबाधितानामपि प्रत्ययानां भ्रान्तिमूलत्वकल्पने सर्वेषामपि तथात्वप्रसङ्गात्। तस्मादेते व्यवहारा एव स्वोपपादनाय प्रकाशविशिष्टमर्थमवकल्पयन्ति। तत्र विशेषणभूतः प्रकाशपदार्थः प्राकट्यमित्युच्यते। न चागन्तुकं ज्ञानमेव प्रकाशपदार्थ इति वाच्यम्, आत्मसमवेतस्य ज्ञानस्य घटसमवेतत्वव्यवहारानुपपत्तेः।

ननु प्राकट्याश्रयस्यैव विषयत्वे भूतभविष्यतोः प्राकट्याश्रयत्वाभावात् कथं विषयत्वम्? न च तयोर्विषयत्वमेव नास्तीति वाच्यम्, नदीपूरणघनोन्न-

---

सभी लौकिक और परीक्षक व्यक्तियों को 'घटः प्रकाशते', 'घटो भाति', 'प्रकटो घटः' इत्यादि अनुभूतियाँ समानरूप से होती हैं। इनका बाध नहीं होता, अतः इन्हें भ्रमरूप भी नहीं कहा जा सकता। अबाधित ज्ञानों को भी भ्रमरूप मानने पर तो सभी प्रमा ज्ञान भ्रमात्मक हो जायँगे। अतः 'घटः प्रकाशते'—इत्यादि व्यवहार ही अपना उपपादन करने के लिए प्रकाश या प्राकट्य से विशिष्ट घटादि की कल्पना करते हैं। उसमें विशेषणीभूत प्रकाश पदार्थ ही प्राकट्य कहलाता है [श्री चिदानन्द पण्डित भी कहते हैं—"सन्ति तावद् घटः प्रकाशते, घटो भाति, घटप्रकाश इत्यादयो व्यवहारा लौकिकपरीक्षकाणाम्…अतो दृढप्रतिपन्नतादृशव्यवहारमूलत्वेन प्रकाशविशिष्टोऽर्थः कल्पनीयः, स च विशेषणभूतः प्रकाशपदार्थः, प्राकट्यम्" (नीति० पृ० १३२)]। घटादिविषयक जन्य ज्ञान को ही प्रकाश पदार्थ क्यों नहीं मान लिया जाता? इस शङ्का का समाधान यह है कि घटादिविषयक ज्ञान आत्मा में रहता है, घटादि विषय पर नहीं, किन्तु 'प्रकाशितोऽयमर्थः'—इस प्रकार का व्यवहार घटादि विषय पर रहने वाले प्रकाश पदार्थ से ही उपपन्न हो सकता है, आत्मसमवेत ज्ञान से नहीं।

शङ्का—यदि प्राकट्य के आश्रय को ही विषय माना जाता है, तब अतीत और अनागत पदार्थों में विषयता नहीं बन सकती, क्योंकि वे

तिप्रभृतिभिः भूतभविष्यद्वर्षानुमानाभावप्रसङ्गादिति चेत्, मैवम्, भूतभविष्यतोरपि प्राकटयोपपत्तेः । ननु गुणिनमन्तरेण कथं गुणोत्पत्तिः ? सङ्ख्यावदिति ब्रूमः । न च सङ्ख्यैव भूतभविष्यतोर्नास्तीति वाच्यम्, तिस्र आहुतयो हुताः, षडपूपा भक्षिताः, दश मोदकाः कार्या इत्यादि व्यवहाराणां भ्रान्तिमूलत्वप्रसङ्गात् । एवमभावस्यापि प्राकटयाश्रयत्वं द्रष्टव्यम्—इति सिद्धं प्राकटयम् ।

प्राकटय के आश्रय नहीं होते । 'अतीत और अनागत पदार्थ किसी ज्ञान के विषय ही नहीं होते'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि नदी की बाढ़ से अतीत वृष्टिविषयक और काली घटा को उमड़ते देख भावी वृष्टिविषयक जो अनुमान होते हैं, वे कैसे हो सकेंगे ?

समाधान—अतीत और अनागत विषयों पर भी ज्ञातता या प्राकटय माना जाता है । 'जब अतीतादि द्रव्यरूप गुणी ही नहीं, तब प्राकटयरूप गुण की उत्पत्ति ही कैसे होगी ?' इस प्रश्न का उत्तर है कि जैसे संख्यारूप गुणों की अतीतादि द्रव्य पर उत्पत्ति हो जाती है, वैसे ही प्राकट्य गुण भी उत्पन्न हो जायगा । 'अतीतादि पर संख्या की उत्पत्ति ही नहीं होता'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि 'मुनित्रयं नमस्कृत्य', तिस्र आहुतयो हुताः', षडपूपा भक्षिताः, 'दश मोदका कार्याः'—इत्यादि व्यवहारों के द्वारा अतीतादि पर संख्या की उत्पत्ति माननी पड़ती है । यदि नहीं मानी जाती, तब उक्त व्यवहारों को भ्रममूलक मानना होगा, किन्तु वे भ्रममूलक नहीं माने जाते, अतः उनके अनुरोध पर जैसे अतीतादि पर संख्या की उत्पत्ति मानी जाती है, वैसे ही प्राकटयरूप गुण की उत्पत्ति भी माननी आवश्यक है [श्री चिदानन्द पण्डित के भी वे ही प्रश्न और उत्तर हैं—"कथं तर्हि भूतभविष्यतोः प्रकाटयोत्पत्तिः ? संख्यावदेवेति ब्रूमः" (नीति० पृ० १३५)] । इसी प्रकार अभाव भी प्राकटय का आश्रय बन जाता है, अतः प्राकटयरूप गुण सिद्ध हो जाता है ।

(२४) **शक्ति**—श्री कुमारिल भट्ट द्रव्य, गुण और कर्म में रहने

शक्तित्वसामान्यवतीं द्रव्यकर्मगुणाश्रयाम् ।
श्रुत्यर्थापत्तिविज्ञेयां शक्तिमाहुः कुमारिलाः ।। ४१ ।।

सा तु लौकिकवैदिकभेदेन द्विविधा । तत्राद्या पुनरर्थापत्तिगम्या, यथा अग्न्यादीनां दाहकत्वशक्तिः । अन्या तु चोदनैकगम्या, यथा यागादीनां स्वर्गादिसाधकत्वशक्तिः । तत्राग्न्यादीनां दाहकत्वशक्तिर्द्रव्यगता । हिंसादीनां नरकपातसाधकत्वशक्तिः कर्मगता । वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः इत्यादिषु श्वेतत्वादिगुणविशिष्टस्यैव द्रव्यस्य भूतिसाधनत्वश्रवणात् गुणगतोऽपि कोऽप्यतिशयः कल्पनीयः । स एव गुणगता शक्तिरित्युच्यते । एवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ।

अत्र शक्तिरेव नास्तीति तार्किकाणां मतम् । अग्न्यादीनां दाहकत्वादिशक्तिं च स्वभावभेदेन समर्थयन्ति । तदयुक्तम्, स्वभावस्य यावद्द्रव्यभावित्वात् ।

वाली, शक्तित्व जाति से युक्त शक्ति को श्रुति और अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध करते हैं ।। ४१ ।। वह शक्ति लौकिक और वैदिक भेद से दो प्रकार की होती है । लौकिक शक्ति अर्थापत्ति-गम्य होती है, जैसे अग्नचादि में दाहकत्व-शक्ति । वैदिक शक्ति विधिवाक्यैकसमधिगम्य होती है, जैसे यागादि में स्वर्गादि-साधकत्व-शक्ति । दाहकत्वादि-शक्ति द्रव्यगत और स्वर्ग-नरकादि-साधकत्व-शक्ति शुभाशुभ कर्मगत मानी जाती है । "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" (तै० सं० २।१।१) इत्यादि वाक्यों के द्वारा श्वेतत्वादि गुण-विशिष्ट पशुरूप द्रव्य में भूति-साधनत्व प्रतिपादित है, अतः विशेषणीभूत श्वेतत्वादि गुणों में भी कोई अतिशय मानना पड़ता है, उसे ही गुणगत शक्ति कहते हैं । इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए ।

तार्किक-मत—तार्किकों का मत है कि शक्ति तत्त्व कोई पृथक् पदार्थ नहीं, अग्न्यादि में कोई दाहक शक्ति नहीं, अपितु अग्नचादि का दाहकत्व स्वभाव ही है ।

तार्किक-मत-निराकरण—वस्तु का स्वभाव यावद्वस्तुभावी होता है किन्तु अग्नि के रहने पर भी उसमें दाहकत्व नहीं रहता, यदि उसके

दाहकत्वादेश्च मणिमन्त्रादिनिराकार्यत्वात् । स्वभावशब्देनापि शक्तेरेव पर्याया-न्तरेण ग्रहणप्रसङ्गाच्च । न च प्रतिबन्धकाभावादेव दाह इति वाच्यम्, अभा-वस्य सर्वत्राप्यकारकत्वात् । न च नित्यकर्मणामकरणात् प्रत्यवायदर्शनादकार-कत्वमसिद्धमिति वाच्यम्, तत्रापि नित्यकर्मभिरक्षपितानामहरहः समापतिता-नामवर्जनीयानामेनसामेव प्रत्यवायहेतुत्वाभ्युपगमात् । यथाहुः—

स्वकाले यदकुर्वंस्तु करोत्यन्यदचेतनः ।
प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते ।। इति ।

कथं तर्हि विशेषज्ञानाभावस्य संशयजनकत्वमिति चेत्, तत्राभावस्य

साथ प्रतिबन्धक मणि-मन्त्रादि का सम्बन्ध हो जाता है, अतः अग्नि में दाहक शक्ति माननी आवश्यक है, जो कि प्रतिबन्धक मणि-मन्त्रादि के योग से नष्ट हो जाती है, अतः निर्विष सर्प के समान अग्नि शक्ति-हीन हो जाने के कारण दाहक नहीं रहती । शक्ति को ही यदि 'स्वभाव' शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है, तव 'शक्ति' और 'स्वभाव'—दोनों शव्द पर्यायवाची हो जाते हैं । यदि कहा जाय कि शक्ति से दाह नहीं होता, अपितु प्रतिबन्धकाभाव से होता है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रतिबन्धकाभाव एक अभाव पदार्थ है, अभाव पदार्थ किसी भी कार्य का कारक नहीं होता । नित्य कर्मों के अनुष्ठानाभाव से जो प्रत्यवाय देखा जाता है, उसका भी कारण नित्य कर्मों का अभाव नहीं होता, अपितु नित्य कर्मों से नष्ट न होनेवाले दिन-दिन उपचित पाप-राशि ही प्रत्यवाय का कारण होती है, जैसा कि कहा गया है—

स्वकाले यदकुर्वंस्तु करोत्यन्यदचेतनः ।
प्रत्यवायोऽस्य तेनैव नाभावेन स जन्यते ।।

[नित्य कर्म अपने नियत समय पर न करके अज्ञानपूर्वक जो पाप किए जाते हैं, उन्हीं से प्रत्यवाय होता है, नित्यकर्माभाव से नहीं] । यदि अभाव किसी कार्य का कारण नहीं होता, तब पुरुषत्व-व्याप्य करादिरूप विशेष दर्शन के अभाव को संशय का कारक क्यों माना जाता है ? इस

ज्ञापकत्वात् , ज्ञापकत्वकारकत्वयोश्च विशेषात् । इति शक्तिरवश्याश्रयणीया।

प्राभाकराः पुनरस्याः पदार्थान्तरत्वमनुमानगम्यत्वं च सङ्गिरन्ते। तदयुक्तम्, अस्याः सिद्धस्यैव पदार्थस्य गुणत्वेन कल्पने लाघवाद्, अन्यथा गौरवप्रसङ्गात् । शक्तेः पदार्थान्तरत्वमपि कौमारिलानामिष्टमेव, इत्यलं तन्निरासप्रयासेन । अनुमानगम्यत्वं तु प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धस्यैव लिङ्गस्यानुमापकत्वमिति समर्थयद्भिरस्माभिरेवानुमानपरीक्षायां निरस्तम् ।

ननु कथमर्थापत्त्या शक्तिग्रहणम् ? उच्यते—

यादृशादग्निसंयोगात् सर्वदा दाहदर्शनम् ।
तादृशादेव मन्त्रादिप्रयोगे तददर्शनात् ॥ ४२ ॥

प्रश्न का उत्तर यह है कि "विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः" (न्या० ५।१।२३) इस सूत्र में विशेष-दर्शनाभाव को संशय का कारक नहीं, ज्ञापकमात्र माना गया है । कारक और ज्ञापक में महान् अन्तर होता है, फलतः शक्तितत्त्व पृथक् सिद्ध हो जाता है ।

प्राभाकरगण जो शक्तितत्त्व की पदार्थान्तरता और अनुमान-गम्यता सिद्ध करते हैं, वह युक्त नहीं, क्योंकि गुणरूप से ही शक्ति की कल्पना में लाघव है, गुणों से भी भिन्न मानने पर अत्यन्त गौरव होगा । शक्ति को पृथक पदार्थ तो भाट्टगण भी मानते हैं, अतः पदार्थान्तरता-स्थापन का निरास करने की आवश्यकता नहीं । हाँ, शक्ति की अनुमानगम्यता का निराकरण अनुमान-परीक्षा में कर दिया गया है, क्योंकि वही लिङ्ग अनुमापक माना जाता है, जिसका सहचार-दर्शन प्रत्यक्षतः हो, शक्ति के विषय में वैसा लिङ्ग सम्भव नहीं, अतः अर्थापत्ति के द्वारा ही शक्ति की कल्पना की जा सकती है ।

अर्थापत्ति प्रमाण से शक्ति का ग्रहण कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जिस प्रकार के अग्नि-संयोग से सदैव दाह कार्य देखा जाता है, प्रतिवन्धक मन्त्रादि का योग हो जाने पर उसी प्रकार के ही अग्नि-संयोग से दाह कार्य नहीं होता, अतः अग्नि-संयोग से अतिरिक्त

अग्निसंयोगातिरिक्तं यत्किञ्चित् कारणान्तरम् ।
अस्ति दृश्यमदृश्यं वेत्येवं साधारणी प्रमा ॥ ४३ ॥
दृश्यादर्शनजाभावप्रमाणेन विहन्यते ।
तत्रानयोर्विरोधे सत्यविरोधाय कल्प्यते ॥ ४४ ॥
अदृश्यं कारणं किञ्चित् सा शक्तिरिति गीयते ।
गुणोक्तलक्ष्मसद्भावादस्याश्च गुणता मता ॥ ४५ ॥

सर्वद्रव्यवर्तित्वादेषापि सामान्यगुणः ।

ननु द्रव्यव्यतिरिक्तेष्वपि वर्तनात् कथमस्या गुणत्वमिति चेत्, मैवम्, गुणाश्रयो द्रव्यम्—इति द्रव्यलक्षणस्यास्माभिरनङ्गीकृतत्वात् । अतिव्याप्तं चेदं तार्किकोक्तं द्रव्यलक्षणम् । चतुर्विंशतिरुद्दिष्टा गुणाः कणभुजा स्वयम् । इति

कोई दृश्य या अदृश्य कारण अवश्य कल्पनीय है किन्तु योग्यानुपलब्धि के द्वारा उस कारणान्तर का अभाव निश्चित है—इस प्रकार दो प्रमाणों के विरोध का परिहार करने के लिए यह व्यवस्था की जाती है कि दृश्य कारण से अतिरिक्त कोई दाह का अदृश्य कारण अवश्य है, जिसे शक्ति कहा जाता है, उसमें गुण का कथित लक्षण घटने के कारण उसकी गुणों में गणना की जाती है ॥ ४२–४५ ॥ शक्ति तत्त्व सर्व द्रव्यों में रहने के कारण सामान्य गुण माना जाता है ।

शङ्का—शक्ति केवल द्रव्य में नहीं रहती, गुणादि में भी रहती है, अतः उसे गुण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गुण के आश्रय को द्रव्य कहते हैं और द्रव्याश्रितत्व गुणों में रहता है ।

समाधान—'गुणाश्रयो द्रव्यम्'—ऐसा द्रव्य का लक्षण हम नहीं मानते, क्योंकि महर्षि कणाद ने स्वयं अपने (वै० सू० १।१।६) सूत्र में 'गुणाः'—ऐसे बहुवचन के प्रयोग से गुणों में बहुत्वादि संख्या की आश्रयता सूचित की है और भाष्यकार प्रशस्तपादाचार्य ने तो अपने भाष्य (प्र० भा० पृ० ३) में स्पष्ट कहा है—"चतुर्विंशतिर्गुणाः" । संख्या की गणना गुणों में की गई है, अतः गुणाश्रयत्व गुणों में भी जैसे

गुणानामपि सङ्ख्याश्रयत्वस्य तैरेव कथितत्वात् सङ्ख्यायाश्च गुणत्वस्वीकाराद्—इति सिद्धा गुणाः।

अत्र तार्किकास्तु ध्वनिप्राकट्यशक्तीनां गुणत्वं नानुमन्यन्ते। शब्दधर्माधर्माणां गुणत्वमाकाङ्क्षन्ति च। तत्र ध्वन्यादीनामगुणत्वपक्षस्तेषां गुणत्वसमर्थनान्निरस्तो वेदितव्यः। शब्दस्य द्रव्यत्वं तु प्रागेव समर्थितम्। धर्माधर्मावात्मविशेषगुणाविति तार्किकाणां मतमुपेक्षणीयमेव आत्मविशेषगुणे लौकिकानां धर्माधर्मशब्दप्रयोगादर्शनात्। यथाहुः—"लोकप्रयोगगम्या हि शब्दार्थाः सर्व एव नः।" इति॥

अपि च श्रेयस्साधनमेव धर्मः। न ह्यग्निहोत्रात् स्वर्गो भवतीत्यत्राग्निहोत्रमिवात्मगुणं कस्यचिदपि श्रेयःसाधनतया श्रुतिरभिदधाति। ततो न तत्र

माना गया है, वैसे ही शक्तिरूप गुण के गुणादि में रहने पर भी कोई दोष उपस्थित नहीं होता, हमारा गुण का "अनुपादानत्वे सति कर्मभिन्नत्वे सति द्रव्याश्रितत्वम्'—यह लक्षण शक्ति में घट जाता है, अतः शक्ति को गुण मानते हैं। इस प्रकार गुण सिद्ध हो गए।

तार्किकादि जो ध्वनि, प्राकट्य और शक्ति को गुण नहीं मानते, उनके स्थान पर शब्द, धर्म और अधर्म को गुण मानते हैं। ध्वनि, प्राकट्य और शक्ति में गुणत्व की सिद्धि हो जाने से वह तार्किक मत निरस्त हो जाता है। शब्द में तो द्रव्यत्व पहले ही स्थापित किया जा चुका है। "धर्माधर्मौ आत्मविशेषगुणौ"—यह तार्किकों का मत भी उपेक्षणीय ही है, क्योंकि आत्मा के विशेष गुणों में धर्माधर्म का लौकिक प्रयोग नहीं पाया जाता, किन्तु शब्दार्थ का निर्णय लौकिक प्रयोगों पर ही निर्भर रहता है, जैसा कि कहा गया है—"लोकप्रयोगगम्या हि शब्दार्थाः सर्व एव नः"।

दूसरी बात यह भी है कि धर्म को श्रेयःसाधन माना गया है, अग्निहोत्रादि क्रिया को जैसे "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः"—इत्यादि वाक्यों में स्वर्गरूप श्रेय का साधन कहा गया है, वैसे आत्मा के किसी

धर्मत्वम् । एतेन आर्हतप्राभाकरादिमतेषु पुण्यपरमाण्वपूर्वादिष्वपि धर्मशब्द-वाच्यता निरस्ता वेदितव्या । तदुक्तमाचार्यैः—

पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि ।
प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो न च साधनम् ।
पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभिः ॥ इति ।

विशेष गुण को श्रेय का साधन नहीं कहा गया है, अतः आत्मा के विशेष गुण में धर्मता नहीं मानी जा सकती । इसलिए जैन और प्राभाकरादि के मतानुसार परमाणु और अपूर्वादि में 'धर्म' शब्द की वाच्यता निरस्त समझ लेनी चाहिए, जैसा कि वार्तिककार ने (श्लो० वा० पृ० १०५ में) कहा है—

अन्तःकरणवृत्तौ का वासनायां च चेतसः ।
पुद्गलेषु च पुण्येषु नृगुणेऽपूर्वजन्मनि ॥
प्रयोगो धर्मशब्दस्य न दृष्टो न च साधनम् ।
पुरुषार्थस्य ते ज्ञातुं शक्यन्ते चोदनादिभिः ॥

सांख्याचार्य यागादि के अनुष्ठान से उत्पन्न होनेवाली अन्तःकरण की वृत्ति को धर्म कहते हैं—"श्रुतिस्मृतिविहितानां कर्मणामनुष्ठानाद् बुद्धयवस्थः सत्त्वावयव आशयभूतो धर्म इत्युच्यते" (युक्ति० पृ० ११२) । बौद्धगण विज्ञानगत ज्ञानान्तर-जन्य वासना को धर्म मानते हैं । जैन गण असंखेय अवयववाले द्रव्यों को धर्माधर्म कहते हैं—"असंखेयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः" (तत्त्व० सू० ५।७) । वैशेषिकाचार्य धर्माधर्म को आत्मा के विशेष गुण मानते हैं—"धर्मः पुरुषगुणः" (प्र० भा० पृ० १३८) । प्राभाकर अपूर्व के लिए 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया करते हैं । किन्तु 'धर्म' शब्द का प्रयोग पुद्गलादि में न देखा गया है और न उनमें विधि वाक्यों के द्वारा पुरुषार्थ-साधनता ही प्रतिपादित होती है । परिशेषतः यागादि क्रियाएँ ही धर्म हैं, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है—"यागादिरेव धर्मः" (शा० भा० पृ० १८) ।

किञ्च अत्यन्तापरिदृष्टचरं कार्याद्यपरनामधेयमपूर्वमभिदधति लिङादय इत्यपि प्राभाकराणां दुराग्रहमात्रम्, प्रमाणान्तरेण संज्ञासंज्ञिसम्बन्धावधारणं विना कुत्रापि शब्दप्रवृत्त्यदर्शनात्, लिङादिभ्य एवावगमे परस्पराश्रयप्रसङ्गाच्च। तस्माल्लिङादीनामपूर्वाभिधायकत्वानुपपत्तेश्च नापूर्वे धर्मशब्दवाच्यतोपपत्तिः।

ननु कार्य एव व्युत्पत्तिः। तथा हि—स्तनपानादिषु सकलकर्तव्येषु ममेदं कार्यमिति कार्यबोधादेव स्वतन्त्रप्रवृत्तिर्दृष्टा। ततश्च गामानयेति। प्रवर्तक-वृद्धवाक्यश्रवणानन्तरं मध्यमवृद्धं प्रवर्तमानमवलोक्य प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्त्या नूनमेतस्माद्वाक्यादेतस्य कार्यबोधो जात इति व्युत्पित्सुरवगच्छति। पुनश्च तस्य कार्यप्रतिपादकमिदं वाक्यम्—इति मतिरुपजायते। अनन्तरमावापोद्वापाभ्यां लिङादीनामितरान्वितकार्यवाचकत्वमवधारयति। इतरपदानां कार्यान्वितस्वार्थवाचकत्वं च। इति क्रियाकार्ये व्युत्पत्तिः। पुनश्च स्वर्गकामो यजेत इत्यादिषु

लोक में अत्यन्ताप्रसिद्ध कार्य या अपूर्व का अभिधान लिङादि करते हैं—यह भी एक प्राभाकरगणों का दुराग्रहमात्र है। जब तक प्रमाणान्तर से संज्ञा-संज्ञी का संबन्ध अवधारित न हो, तब तक कहीं भी लिङादि शब्दों का प्रयोग सम्भव नहीं। यदि लिङादि से ही धर्म का बोध माना जाता है, तब अन्योऽन्याश्रय होता है, अतः लिङादि में अपूर्वाभिधायकत्व सम्भव न होने के कारण अपूर्व में धर्म पद-वाच्यता उपपन्न नहीं।

प्राभाकर मत—सभी शब्दों की कार्यरूप अर्थ में ही शक्ति होती है, क्योंकि बालकों की स्तनपानादि कर्तव्य अर्थों में ही "ममेदं कार्यम्'—इस प्रकार कार्यता के ज्ञान से स्वतन्त्र प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः 'गामानय'—इस प्रकार के प्रवर्तकवाक्य को सुनते ही कार्यार्थ में प्रवृत्त हुए व्युत्पन्न पुरुष को देख कर पार्श्वस्थ बालक यह कल्पना करता है कि 'नूनमेतस्माद्वाक्यादेवैतस्य कार्यबोधो जातः'। उसके पश्चात् आवाप और उद्वाप की सहायता से लिङादि पदों में इतरार्थान्वित कार्य की वाचकता निश्चित होती है। इस प्रकार लौकिक कार्य में लिङादि का शक्ति-ग्रह हो जाने पर "स्वर्गकामो यजेत"—इत्यादि वैदिक वाक्यों को

लिङादीनां क्षणभङ्गुरक्रियाकार्यत्वे स्वर्गकामपदसमभिव्याहारविरोधात् क्रियोत्तीर्णमपूर्वमेव मुख्यो लिङाद्यर्थः क्रियाकार्यन्तु लक्षणया इति क्रमादपूर्वे व्युत्पत्तिरुत्पद्यते ।

इति चेन्मैवम्, कार्य एव व्युत्पत्तिरिति नियमाभावात् । तथाहि—दृष्टपुत्रजन्मनः पित्रे तन्निवेदनाय धावन्तं भृत्यमनुधावतः पुत्रस्ते जात इति भृत्यवचनानन्तरं पितरं प्रसन्नवदनमवलोकयतः बालस्य पुत्रोत्पत्तिप्रतिपादकमिदं वाक्यम्—इति वाक्यार्थावगमपुरस्सरं पुत्रस्ते सुखी इत्यादिषु वाक्येषु श्रूयमाणेषु पूर्ववदावापोद्वापाभ्यां पुत्राद्यर्थेषु पुत्रादिपदव्युत्पत्तिरुत्पद्यते इति ।

अथ तत्र स्त्रियः सुखप्रसवादीनामनेकेषामपि दृष्टत्वात् न पारिशेष्यसिद्धि-

---

सुन कर लिङादि पदों की यागादि क्रिया से भिन्न अपूर्व या नियोग में संगति-ग्रहण होता है, क्योंकि यागादि क्रियाएँ क्षणभङ्गुर होने के कारण स्वर्ग-जनक नहीं हो सकती, अत एव तदर्थक लिङादि का 'स्वर्गकाम' पद के साथ समभिव्याहार नहीं हो सकता। परिशेषतः क्रिया से भिन्न अपूर्वात्मक कार्य लिङादि का मुख्य अर्थ और क्रियारूप कार्य में लक्षणया प्रयोग स्थिर होता है।

प्राभाकर-मत-खण्डन—कार्यभूत अर्थ में ही शब्दों की व्युत्पत्ति होती है—ऐसा नियम संगत नहीं, क्योंकि जिस व्युत्पित्सु बालक ने किसी सेठ के बालक का जन्म देखा है और उसकी सूचना देने वाले सन्देश-वाहक के साथ चल पड़ा है। सेठ के पास पहुँच कर सन्देश-वाहक कहता है—"पुत्रस्ते जातः", उसे सुनते ही सेठ का मुख-मण्डल खिल उठता है, प्रसन्नता की आभा से व्याप्त हो जाता है, उसे देखते ही बालक को यह समझते देर नहीं लगती कि 'पुत्रोत्पत्तिप्रतिपादकं तद्वाक्यम्'। सामूहिक शक्ति-ग्रह हो जाने के पश्चात् 'पुत्रस्ते सुखी'—इत्यादि वाक्यान्तरों को सुन आवाप-उद्वापादि की सहायता से प्रत्येक पुत्रादि पद का शक्ति-ग्रह हो जाता है। श्री चित्सुखाचार्य का संग्रह श्लोक है—

दृष्टचैत्रसुतोत्पत्तेस्तत्पदाङ्कितवाससा ।
वार्ताहारेण यातस्य परिशेषविनिश्चितेः ॥ (१।१५)

रिति मतम् , तर्हि गाम् आनय इति प्रवर्तकवाक्येऽपि वाक्यश्रवणानन्तरं श्रोतुर्गमनमेव आदौ दृष्टम्—इति कुतः कालान्तरभाविगवानयनरूपकार्यबोधानुमानम् । न हि कार्यबोधस्य प्रवर्तकत्वम्, कृतिसाध्येष्टोपायताबोधस्यैव प्रवर्तकत्वात् । न च तद् भवतामनिष्टम् , इष्टोपायताधिया ममेदं कार्यम् इति बुध्वा तत्र प्रवर्तते इति भवद्भिरेवोक्तत्वात् । तस्मादिष्टोपायताप्रतिपादनमेव वाक्येन क्रियते । चिकीर्षापरपर्यायकार्यबोधः पुनरिष्टोपायता धिया जन्यते इति युक्तमभ्युपगन्तुम्, अनन्यलभ्यः शास्त्रार्थः इति स्थितत्वात् । कृतिसाध्यं कृतिं प्रति

यदि वहाँ एकमात्र पुत्रोत्पत्ति ही प्रसन्नतापादक नहीं, अपितु स्त्री का सुखपूर्वक प्रसवादि की अनेक सूचनाएँ पाकर भी श्रोता के मुख पर प्रसन्नता दौड़ सकती है, अतः एक मात्र पुत्रोत्पत्ति में ही 'पुत्रस्ते जातः'—इस वाक्य का शक्ति-ग्रह नहीं हो सकता। तब 'गामानय'—इस प्रकार के प्रवर्तक-वाक्य में भी वाक्य-श्रवण-समनन्तर श्रोता का पहले गमन ही देखा जाता, अतः उसे छोड़कर गवानयन में 'गामानय' शब्द का शक्ति-ग्रह क्योंकर होगा ? क्योंकि कार्य-बोध में प्रवर्तकत्व ही नहीं होता, अपितु कृति-साध्यता और इष्ट-साधना का ज्ञान ही पुरुष का प्रवर्तक माना जाता है। वह आप (प्राभाकर) को भी अनभीष्ट नहीं, क्योंकि 'इष्टोपायताधिया ममेदं कार्यमिति बुध्वा प्रवर्तते'—यह आपने ही कहा है। अतः वाक्य इष्ट-साधनता का ही प्रतिपादन करता है, कार्यता का नहीं। इष्ट-साधनता-ज्ञान से चिकीर्षा उत्पन्न होती है और चिकीर्षा का ही दूसरा नाम कार्यता-बोध है, अतः इष्ट-साधनता के ज्ञान से कार्य-बोध उत्पन्न होता है—ऐसा ही मानना न्याय-संगत है, क्योंकि "अनन्य लभ्यः शास्त्रार्थः"—इस न्याय के आधार पर जब कार्यविबोध का लाभ इष्ट साधनता-ज्ञान से ही हो जाता है, तब उसमें वाक्य का तात्पर्य नहीं माना जा सकता [स्कन्दपुराण में शास्त्र का विग्रह प्रतिपादित है—

ऋग्यजुः सामाथर्वा च भारतं पाञ्चरात्रकम् ।
मूलरामायणं चैव शास्त्रमित्यभिधीयते ॥

प्रधानं कार्यमिति कार्यलक्षणमपि फले व्यभिचारादुपेक्षणीयम् । ततो लिङादीनामपूर्वाभिधायकत्वानुपपत्तेश्च नापूर्वं धर्मशब्दवाच्यत्वम् ।

को तर्हि धर्माधर्मौ, यत्र लोके धर्माधर्मशब्दौ प्रवृत्तौ ? श्रूयताम्—यागादिषु लौकिकानां धर्मशब्दप्रयोगः यागाद्यनुष्ठातरि धार्मिकत्वसमाख्यानात् । अधर्मशब्दप्रयोगस्तु हिंसासुरापानादौ । यदाहुः—

अन्यत् साध्यमदृष्ट्वैव यागादीननुतिष्ठताम ।
धार्मिकत्वसमाख्यानं तद्योगादिति गम्यते ॥ इति ।

यच्चानुकूलमेतस्य तच्छास्त्रं प्रकीर्तितम् ।
अतोऽन्यः शास्त्रविस्तारो नैव शास्त्रं कुवर्त्म तत् ॥

बस इतना ही सच्चा शास्त्र है, इन्हीं में अनधिगतार्थ का प्रतिपादन है, इनसे भिन्न शास्त्र नहीं, अपितु अन्यतः प्राप्त अर्थ के अनुवादक या पिष्टपेषणमात्र हैं । इससे यह स्थिर हो जाता है कि अनन्यलभ्य अर्थ में ही शास्त्र का तात्पर्य होता है, चाहे वह कार्यार्थ हो, या सिद्धार्थ]। दूसरी बात यह भी है कि आप (प्राभाकर) ने जो कार्य का लक्षण किया है—"कृतिसाध्यं कृतिं प्रति प्रधानं कार्यम्" (प्र० पं० पृ० ४२६) । वह भी स्वर्गादि फल में अतिव्याप्त होने के कारण उपेक्षणीय ही है, अतः लिङादि में अपूर्वाभिधायकत्व उपपन्न न होने के कारण अपूर्व में धर्म शब्द-वाच्यत्व सम्भव नहीं ।

यदि अपूर्वादि को धर्म नहीं कह सकते, तब कौन हैं वे धर्म और अधर्म, जिनमें लौकिक जन धर्म और अधर्म शब्द का प्रयोग करते हैं ? इसका उत्तर शबरस्वामी ने बहुत पहले ही दे डाला है—"यो हि यागमनुतिष्ठति तं धार्मिक इति समाचक्षते, यश्च यस्य कर्त्ता, स तेन व्यपदिश्यते" (शा० भा० पृ० १८) अर्थात् यागादि क्रियायों में ही लौकिक व्यक्ति 'धर्म' शब्द और याग के अनुष्ठाता पुरुष में 'धार्मिक' शब्द का प्रयोग किया करते हैं, इसी प्रकार 'अधर्म' शब्द का प्रयोग हिंसा, सुरापानादि क्रियाओं में करते हैं, अतः ये ही धर्म और अधर्म हैं, जैसा कि

अत्राह शालिकनाथः—यागाद्यनुष्ठातरि धार्मिकशब्दप्रयोगो नियोगानुष्ठाननिमित्तकः। तथाहि अनधिकृतयागाद्यनुष्ठातर्यपि धार्मिकशब्दो न प्रयुज्यते इति। तदयुक्तम्, श्रेयःसाधनतयैव तेषां धर्मत्वाभ्युपगमात्। न हि अनधिकृतयागाद्यनुष्ठानं श्रेयःसाधनं भवति, अतो यागादिष्वेव धर्मशब्दप्रयोगः। न केवलं लोके, वेदेऽपि यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्

वार्तिककार ने (श्लो० वा० पृ० १०४ पर) कहा है—

अन्यत् साध्यमदृष्ट्वैव यागादीननुतिष्ठताम्।
धार्मिकत्वसमाख्यानं तद्योगादिति गम्यते॥

[यागादि से साध्य पुण्यादि संस्कारों को न देख कर लौकिक व्यक्ति यागादि क्रियाओं के कर्त्ता को धार्मिक कह देते हैं, अतः वह जो क्रिया करता है, उसे ही धर्म समझना चाहिए]।

प्राभाकर मत—आचार्य शालिकनाथ का कहना है कि यागादि के अनुष्ठाता पुरुष में जो धार्मिक शब्द का प्रयोग होता है, वह नियोगानुष्ठान के निमित्त से, क्योंकि यागादि के अनुष्ठाता अधिकारी व्यक्ति को ही धार्मिक कहते हैं, अनधिकारी शूद्रादि को श्रौत याग का अनुष्ठान करते देख उसे कोई भी धार्मिक नहीं कहता, अतः नियोग या अधिकार का सदुपयोग ही धार्मिक शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त होता है, यागानुष्ठानमात्र नहीं।

प्राभाकर मत-समीक्षा—आचार्य शालिकनाथ का उक्त कथन युक्त नहीं, क्योंकि यागादि को श्रेयःसाधनत्वरूपेण ही धर्म माना जाता है। अनधिकारी व्यक्ति के द्वारा किया जानेवाला याग श्रेयःसाधन नहीं होता, अतः श्रेयःसाधनत्वेन रूपेण यागादि ही 'धर्म' पद के वाच्य होते हैं। केवल लोक में ही वैसे प्रयोग नहीं होते, अपितु वेद में भी कहा है— "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माण्यासन्" (तै० आ० प्र० ३ अनु० १३) अर्थात् देवगणों ने जो यज्ञ कर्म किए थे, वे ही धर्म थे। इस वेद-वचन में स्पष्टरूप से 'यज्ञ' शब्द के वाच्यार्थ को ही 'धर्म' शब्द से

इति । अत्र हि यज्ञशब्दवाच्यमेव धर्मशब्दवाच्यतया व्यक्तमभिदधाति श्रुतिरेव । लिङ्गसङ्ख्याव्यत्ययस्तु छान्दसत्वात् ।

अपि च यागादीनामेव श्रेयस्साधनतां श्रुतिरभिदधाति । तथाहि—ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत इति श्रूयते । तत्र लिङ्लोट्तव्यप्रत्यययुक्तेषु वाक्येषु द्वे भावने प्रतीयेते शब्दभावनार्थभावना च । तत्रार्थभावना सर्वाख्यातसाधारणी । अन्या तु लिङाद्यभिधेया, यथाहुराचार्याः—

अभिधाभावनामाहुरन्यामेव　　लिङादयः ।
अर्थात्मभावना त्वन्या　सर्वाख्यातेषु　गम्यते ॥ इति ।

तत्रार्थभावनाया अयमभिधानप्रकारः—यजेत इत्यत्र लिङ्प्रत्ययस्य भावयेदित्यर्थः । तत्र किं भावयेदित्याकाङ्क्षां नियोज्यविशेषणतयोपात्तं स्वर्गपदं पूरयति स्वर्गं भावयेदिति । केन भावयेदित्याकाङ्क्षां प्रकृत्यर्थो यागशब्दः पूर-

---

कहा गया है । 'धर्माणि' शब्द में जो पुँल्लिङ्ग के स्थान पर नपुंसक और बहुवचन का प्रयोग किया गया है, वह छान्दसत्व के कारण ही है ।

यागादि क्रियाओं को ही श्रुति श्रेयःसाधन कहती है, क्योंकि "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"—इत्यादि लिङ्, लोट् और तव्यादि प्रत्ययों से युक्त श्रुति वाक्यों में दो भावनाएँ प्रतीत होती हैं—(१) शब्दभावना और (२) अर्थभावना । उनमें अर्थभावना समस्त आख्यात प्रत्ययों के द्वारा समान रूपेण अभिहित होती है और शब्दभावना केवल लिङादि विधि प्रत्ययों से ही प्रतिपादित होती है, जैसा कि वार्तिककार ने (तं० वा० पृ० ३७८ पर) कहा है—

अभिधाभावनामाहुरन्यामेव　　लिङादयः ।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु　गम्यते ॥

इनमें अर्थभावना के अभिधान की रीति यह है कि "यजेत"—यहाँ लिङ् प्रत्यय का अर्थ है—भावयेत् । इस भावना में किम् ? केन ? और कथम् ? तीन आकांक्षाएँ होती हैं । किं भावयेत् ? इस आकांक्षा को अधिकारी पुरुष के विशेषणरूप में श्रुत 'स्वर्ग' पद पूरा करता है—स्वर्गं भावयेत् ।

यति यागेन भावयेदिति । कथं भावयेदित्याकाङ्क्षामङ्गोपाङ्गादिवाक्यानि पूरयन्ति अग्नीनाधायान्वाधानप्रयाजादिभिरङ्गानि सम्पाद्य भावयेदिति ।

पुनश्च यागानन्तरं स्वर्गादर्शनसाधनत्वश्रवणरूपप्रमाणद्वयविरोधमूला श्रुतार्थापत्तिरपूर्वं कृत्वेति शब्दं कल्पयिष्यति । तस्मात् ज्योतिष्टोमयागेनान्वाधानप्रयाजाद्यनुष्ठानपुरस्सरं अपूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेदित्यर्थः सम्पद्यत इति । एवमेव घटं करोति इत्यादावपि मृद्दण्डचक्रादिकमुपकरणं कृत्वा प्रकृत्यर्थभूतेन व्यापारेण घटं भावयति इति सर्वाख्यातेष्वपि द्रष्टव्यम् ।

शब्दभावनायाः पुनरन्यत्र स्वर्ग इव पुरुषप्रवृत्तिर्भाव्या । तया भावनया यो लिङादीनां वाच्यवाचकलक्षणः सम्बन्धः, स तत्र याग इव करणम् । प्रवृत्तौ रुचिमुत्पादयन्त्यर्थवादवाक्यान्यंगोपांगादिवाक्यवदितिकर्तव्यताभावमनुभवन्तीति विशेषः । इदं अभिधाभावनामाहुः इत्यादिवार्तिकानुसारिणां सुचरितादीनां

केन भावयेत् ? इस द्वितीय आकांक्षा की पूर्ति 'याग' शब्द से होती है—'यागेन स्वर्गं भावयेत्' । 'कथं भावयेत्'—इस तृतीय आकांक्षा को प्रधान याग के अङ्गों का विधान करनेवाले अङ्ग वाक्य पूरा किया करते हैं—अग्नीनाधाय अन्वाधानप्रयाजादिभिरङ्गानि सम्पाद्य यागेन स्वर्गं भावयेत् । 'घटं करोति'—इत्यादि वाक्यों से भी 'मृद्दण्डचक्रादिकमुपकरणं कृत्वा कृतिरूपव्यापारेण घटं भावयेत्'—ऐसा अर्थ सम्पन्न होता है, इसी प्रकार सभी आख्यात प्रत्ययों में भावनार्थकत्व पर्यवसित होता है ।

'शाब्दी भावना की पुरुष-प्रवृत्ति वैसे ही भाव्य होती है, जैसे अन्यत्र (आर्थी भावना का) भाव्य स्वर्ग होता है । उस शाब्दी भावना का जो लिङादि के साथ वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध होता है, वह शाब्दी भावना का वैसे ही करण है, जैसे आर्थी भावना का करण यागादि धात्वर्थ होता है । आर्थी भावना में जैसे प्रयाजादि अङ्गोपाङ्गों के प्रतिपादक वाक्य इतिकर्त्तव्य होते हैं, वैसे ही शाब्दी भावना में अर्थवाद वाक्य, क्योंकि अर्थवाद वाक्य कर्म में पुरुष की रुचि उत्पन्न करते हुए लिङादि के सहायक माने जाते हैं'—यह शाब्दी भावना का स्वरूप सुचरित

मतमनुसृत्योक्तम् ।

श्रेयस्साधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते ।
कर्तुरिष्टाभ्युपाये हि कर्तव्यमिति लोकधीः ॥

इत्यादिवार्तिकानुसारिभिश्चिदानन्दादिभिः पुनरिष्टसाधनताप्रतिपादनमेव विध्यर्थ इत्युक्तम् । परितोषपार्थसारथिप्रभृतिभिस्तु पक्षद्वयमपि कक्षीकृत्य तत्र तत्रोक्तम्—इति तत्तद्ग्रन्थादवगन्तव्यम् ।

परमार्थतस्तु उभावपि लक्षणौ तुल्यार्थौ । इदमनेन इत्थं कुर्याद्—इति हि भावनायाः पिण्डितार्थः । अतः साध्यसाधनसंबन्धोऽपि भावनापदार्थ एव । तदुक्तं काशिकायाम् – न हि अनासादितस्वर्गयागादिसाध्यसाधनविशेषसंबन्धो

मिश्रादि के मतानुसार है, वे "अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः' (तं० वा० पृ० ३८) इस वार्तिक के अनुगामी हैं ।

"श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते" (श्लो० वा० पृ० ४६) इत्यादि वार्तिक का अनुसरण करनेवाले चिदानन्दादि विद्वान् विधि प्रत्यय का अर्थ इष्ट-साधनता ही करते हैं, जैसा कि (नीति० पृ० २४ पर) कहा है—

प्रवृत्तिहेतुः सर्वेषां कर्तव्यत्वैकसंश्रया ।
इष्टाभ्युपायता सैव लिङाद्यर्थो विधिर्मतः ॥

परितोष मिश्र तथा पार्थसारथि मिश्रादि उक्त दोनों मतों का सामञ्जस्य करते हुए ही विध्यर्थ मानते हैं, जैसा कि पार्थसारथि मिश्र ने कहा है—"तस्मात् समीहितसाधनत्वेन भावना विधिना सामान्येन बोधिता" (न्या० र० मा० पृ० ४८) ।

वस्तुतः कथित दोनों ही लक्षण समानार्थक हैं, क्योंकि 'इदमनेन इत्थं कुर्यात्'—यह भावना का समग्र विग्रह है, अतः साध्य और साधन का सम्बन्ध भी विध्यर्थभूत भावना के अन्तर्गत ही आ जाता है । सुचरित मिश्र ने काशिका व्याख्या में कहा है—'न हि अनासादितस्वर्गयागादिसाध्यसाधनविशेषसम्बन्धो भावयेत् ।" सभी प्रकार से यह निश्चित हो

भावयेदिति । सर्वथापि न यागाद्यतिरिक्तस्य श्रेयस्साधनतया धर्मत्वं लोकवेद-गम्यम् । तथा हिंसादीनामेव नरकपातादिसाधनत्वादधर्मत्वम् । यागहिंसादयश्च द्रव्यकर्मगुणात्मकाः । तस्मात् तेष्वेव धर्माधर्मयोरप्यन्तर्भावः, तदुक्तमाचार्यपादैः—

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः ।
चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात् तेष्वेव धर्मता ।। इति ।

न चापूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेद्—इत्यत्रापूर्वस्य गुणान्तरत्वं पदार्थान्तरत्वं वा कल्पनीयम्—

तस्मात् फले प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम् ।
उत्पत्तौ वापि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक् ।।

इति शक्त्यन्तर्भावात् । तस्मादस्मदुक्ता एव गुणाः ।।

जाता है कि यागादि से अतिरिक्त कोई भी श्रेयःसाधनीभूत धर्मतत्त्व लोक और वेद में विश्रुत नहीं । जैसे यागादि में श्रेयःसाधनता होने के कारण धर्मता मानी जाती है, वैसे ही हिंसादि क्रियाओं में नरक-पातादि की साधनता होने के कारण अधर्मता स्थिर होती है । याग और हिंसादि में साधनादिरूप से द्रव्य, कर्म और गुण का भी निवेश होने के कारण धर्म और अधर्म में अन्तर्भाव माना जाता है, जैसा कि वार्तिककार ने (श्लो० वा० पृ० १०४ पर) कहा है—

श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः सा द्रव्यगुणकर्मभिः ।
चोदनालक्षणैः साध्या तस्मात्तेष्वेव धर्मता ।।

[शबर स्वामी ने कहा है—'तस्मात् चोदनालक्षणः श्रेयस्करः" । वहाँ पुरुष-प्रीतिरूप श्रेय का साधन होने के कारण द्रव्य, गुण और कर्म सभी धर्म की वाच्य कक्षा में आ जाते हैं] । जो यह कहा जाता है कि 'अपूर्वं कृत्वा स्वर्गं भावयेत्' । वहाँ अपूर्व को कोई गुणान्तर या पदार्थान्तर नहीं माना जाता, अपितु शक्ति में ही उसका अन्तर्भाव कहा जा चुका है,

(४) कर्म—

अविभुद्रव्यमात्रस्थं प्रत्यक्षं चलनात्मकम् ।
वियोगयोगयोर्मूलं कर्म कर्मविदो विदुः ॥ ४६ ॥

तत् पुनरुत्क्षेणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनभेदात् पञ्चविधमेव ।

अत्र प्राभाकरादयः कर्मणो नयनेन्द्रियगम्यत्वं नानुमन्यन्ते । तदयुक्तम्, तस्यापि घटादिवदनन्यथासिद्धेन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानात् प्रत्यक्षत्वसिद्धेः ।

ननु संयोगविभागाभ्यामेव कर्मानुमेयम् । तेनेन्द्रियान्वयव्यतिरेकौ संयोग-

---

वार्तिककार (श्लो० वा० पृ० १०७ पर) कहते हैं—

तस्मात् फले प्रवृत्तस्य यागादेः शक्तिमात्रकम् ।
उत्पत्तौ वापि पश्वादेरपूर्वं न ततः पृथक् ॥

[स्वर्गादिरूप फल के लिए प्रवृत्त यागादि की शक्ति विशेष अपूर्व होता है अथवा उत्पद्यमान पश्वादिरूप फल की यागादिगत सूक्ष्मावस्था को अपूर्व माना जा सकता है, सर्वथा अपूर्व कोई वस्त्वन्तर नहीं]। अतः कथित चौबीस ही गुण सिद्ध होते हैं।

---

(४) कर्म—

कर्म या क्रिया अविभु द्रव्यों में अवस्थित वह गति-विशेष है, जिससे संयोग और विभाग उत्पन्न होते हैं ॥ ४६ ॥ वह कर्म पाँच प्रकार का होता है—(१) उत्क्षेपण, (२) अवक्षेपण, (३) आकुञ्चन, (४) प्रसारण और (५) गमन। कर्म चक्षुरादि का विषय होता है।

प्राभाकरगण जो कर्म को नेत्र इन्द्रिय का विषय नहीं मानते, वह उचित नहीं, क्योंकि कर्म में भी घटादि के समान ही प्रत्यक्षता अनन्यथा-सिद्धरूप इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक से सिद्ध होती है, जैसा कि श्री चिदानन्द पण्डित कहते हैं—"कर्मणोऽपि प्रत्यक्षत्वमनन्यथासिद्धे-न्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानात् समर्थनीयम्" (नीति० पृ० ६८)।

शङ्का—संयोग-विभागरूप गुणों के द्वारा कर्म का अनुमान किया

विभागदर्शनोपक्षीणौ। तस्मादनन्यथासिद्धत्वमसिद्धमेव। यदाह भट्टविष्णुः—

परोक्षं कर्म कर्मत्वादादित्यगतकर्मवत्।

अक्षतद्भावभावित्वं क्षीणं लिङ्गस्य दर्शने॥ इति।

तदिदमसारम्, अप्रत्यक्षत्वस्यानन्यथासिद्धेन्द्रियान्वयव्यतिरेकाभावप्रयुक्तव्याप्त्युपजीवित्वात्। न च संयोगविभागयोरेवान्यथासिद्धत्वात्तदनन्यथासिद्धत्वमसिद्धमिति वाच्यम्, संयोगविभागमात्रस्यैव नेत्रगोचरत्वे ताभ्यां च कर्मानुमाने श्येनसंयोगविभागाभ्यां स्थाणावपि कर्मकल्पनप्रसङ्गात्।

अथ मतम्—अर्थान्तरवियोगपूर्वकार्थान्तरसंयोगस्यैव कर्मानुमापकत्वम्।

जाता है, साधनीभूत संयोग और विभाग के दर्शन में ही इन्द्रियों का अन्वय-व्यतिरेक गतार्थ हो जाता है, अतः वह अन्यथा सिद्ध है, अन्यथा-सिद्ध नहीं, जैसा कि भट्टविष्णु ने अनुमान-प्रयोग प्रस्तुत किया है—कर्म परोक्षम्, कर्मत्वाद्, आदित्यकर्मवत्। इन्द्रियों का अन्वय-व्यतिरेक संयोगादिरूप लिङ्ग के दर्शन में ही उपक्षीण (चरितार्थ) हो जाता है।

समाधान—कर्म में अप्रत्यक्षता तभी सिद्ध हो सकती है, जब कि अनन्यथासिद्ध इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक का अभाव हो, किन्तु उसका अभाव सिद्ध न होने के कारण अप्रत्यक्षत्व सिद्ध नहीं हो सकता, प्रत्यक्षत्व ही स्थिर होता है।

संयोग और विभाग ही अन्यथासिद्ध हैं, उनमें अनन्यथासिद्धत्व असिद्ध है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि संयोग-विभाग-मात्र को नेत्र का विषय मानकर उनके द्वारा कर्म का अनुमान करने पर श्येन पक्षी के संयोग और विभाग के द्वारा स्थाणु में भी कर्म की कल्पना करनी पड़ेगी, जो कि सवथा अयुक्त है।

शङ्का—जब देवदत्त का पूर्व देश के साथ विभाग होकर उत्तर देश के साथ संयोग होता है, तब उन संयोग और विभागों के द्वारा देवदत्त में कर्म का अनुमान होता है, प्रकृत में स्थाणु के विभाग और संयोग भिन्न-भिन्न देशों या वस्तुओं के साथ नहीं हुए, किन्तु एक ही श्येन पक्षी से

स्थाणौ तु श्येनमात्रेणैव संयोगवियोगयोर्दर्शनान्न तत्र कर्मकल्पनमिति, तर्हि श्येनान्तरवियुक्ते श्येनान्तरसंयुक्ते च स्थाणौ कर्म कल्प्यं स्यात्। नदीप्रवाहवर्तिनि स्थिरे स्तम्भादौ जलावयवसंयोगवियोगयोर्दर्शनात् कर्मकल्पनमपि दुर्वारमेव।

नन्वन्यत्र क्लृप्तक्रिये श्येनादौ कर्मकल्पनादेव स्थाणौ संयोगवियोगयोरुपपत्तेर्न तत्र कर्मकल्पनमिति चेत्, मैवम्, अप्रत्यक्षत्वे कर्मणः श्येनस्यान्यत्र कुत्रापि क्लृप्तक्रियत्वानुपपत्तेः। तथाहि—नहि भवतामाकाशदेशसंयोगविभागयोर्दर्शनात् पतत्त्रिणि क्लृप्तक्रियत्वम्, आकाशदेशस्य भवतामप्रत्यक्षत्वेन तत्संयोगविभागदर्शनानुपपत्तेः।

संयोग और विभाग होते हैं, अतः स्थाणु में कर्म का अनुमान नहीं किया जा सकता।

समाधान—यदि भिन्न-भिन्न वस्तुओं का संयोग और विभाग कर्म का जनक माना जाता है, तब एक श्येन पक्षी का विभाग और दूसरे का संयोग हो जाने पर स्थाणु में कर्म का अनुमान होना चाहिये। एवं नदी-प्रवाह के मध्य में अवस्थित स्तम्भादि के साथ जल के विभिन्न अवयवों का संयोग-विभाग देखा जाता है, अतः उस स्तम्भ में कर्म का अनुमान क्यों नहीं होता ?

शङ्का—जिसमें अन्यत्र क्रिया की पहले कल्पना की जा चुकी है, ऐसे श्येन पक्षी के संयोग-विभाग से श्येन में ही कर्म की कल्पना जब कर ली गई, तब उसी के कर्म से स्थाणु में संयोग-विभाग उपपन्न हो जाते हैं, उससे पृथक् स्थाणु में कर्म-कल्पना की आवश्यकता नहीं रह जाती।

समाधान– श्येन पक्षी में पहले भी कभी कर्म का निश्चय तब तक सम्भव नहीं होता, जब तक कर्म को प्रत्यक्ष का विषय न मान लिया जाय, क्योंकि उड़ते हुए पक्षी का जो आकाश के साथ संयोग और विभाग होता है, उसका भी आप (प्राभाकर) को प्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि आप आकाश को प्रत्यक्ष का विषय नहीं मानते, तब उस संयोग-विभाग के द्वारा श्येन में कर्म की कल्पना नहीं की जा

न च वियद्गततेजोऽवयवसंयोगविभागदर्शनात् क्लृप्तक्रियत्वम्, तत्रापि तेजोऽवयवानामेव श्येनावयवैः सह संयोगवियोगयोर्दर्शनात् तेजोऽवयवेष्वेव कर्मकल्पनप्रसङ्गात् । एवं सर्वत्र दर्शयितव्यम्—इति सकललोकप्रसिद्धस्थावर-जङ्गमविभागोऽपि दत्तजलाञ्जलिरासीदायुष्मताम् ।

अपिच अन्धकारपदार्थस्यात्यान्ताभाववादिनां भवतां तेन सह संयोगविभागदर्शनानुपपत्तेः अन्धकारे खद्योतः पतति इति प्रत्ययो निरालम्बन एव भवेत् । न च तत्रापि खद्योगतेनैव तेजोंऽशेन संयोगविभागाविति वाच्यम् खद्योतस्य स्वगतेन तेजसा कदाचिदपि वियोगाप्रतीतेः ।

न च नयनस्य विपरिवृत्त्यावलोकनानुमितदेशसंयोगविभागाभ्यां खद्योते कर्मकल्पनमिति वाच्यम्, अभिमुखपतनादौ तदसम्भवात् । पूर्ववद्दिगादौ कर्म-

---

सकती । यदि आकाशगत तैजस अवयवों के साथ श्येन के संयोग और विभाग दृष्टिगोचर हो सकते हैं, तब उन्हीं के द्वारा तेजो धातु में कर्म की कल्पना प्रसक्त होती है । इस प्रकार क्रिया की सर्वत्र कल्पना हो जाने के कारण आप (प्राभाकर) के मत में कौन स्थावर (क्रिया-रहित) है और कौन जङ्गम (क्रियावान्) है—यह कहना भी सम्भव नहीं ।

दूसरी बात यह भी है कि आप (प्राभाकर) अन्धकार को अत्यन्ताभावरूप मानते हैं, अतः संयोग और विभाग का दर्शन सम्भव नहीं, तब 'अन्धकारे खद्योतः पतति'—ऐसी प्रतीति का कोई आधार नहीं रह जाता है । खद्योतगत तैजस अवयवों के साथ भी खद्योत के संयोग-विभाग का उपपादन नहीं किया जा सकता, क्योंकि खद्योत का स्वगत तैजस अवयवों के साथ कभी विभाग सम्भव नहीं ।

यदि कहा जाय कि खद्योत कभी पूर्व, कभी दक्षिण, कभी पश्चिम और कभी उत्तर दिशा में चमकता है, नेत्र उसे घूम-घूम कर देखते हैं, उसी से खद्योत के संयोग-विभागों का अनुमान और उनसे कर्म का अनुमान हो जाता है । तो वैसा नहीं कह सकते, क्योंकि यदि विविध दिशाओं में न चमक कर वह नेत्र की सीध में बराबर उड़ रहा है, तब

कल्पनप्रसङ्गाच्च । दिगादौ विभुत्वान्न कर्मकल्पनमिति चेत्, मैवम्, विभूनामक्रियत्वस्य अद्याप्यव्यवस्थितत्वात् ।

नौकाधिरूढस्य नमितवदनं तन्मध्यमेवालोकयतः सक्रियायामपि नावि निष्क्रियत्वप्रतीतिरत्यन्तसामीप्यजनितदोषनिबन्धनो भ्रम एव । दूरस्थितायां पुनरत्यन्तदूरत्वदोषनिबन्धनः । न हि तदा नौगतं परिमाणमपि गृह्यते । तस्मादेतादृशेषु स्थानेषु कर्माप्रतिपत्तिः अर्थेन्द्रिययोरुभयोरप्यवयवावयविनोः परस्परसंयोगरूपचतुष्टयसन्निकर्षाभावादेव, न संयोगविभागयोरदर्शनात् ।

अपि च यथा देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमवलोक्य आदित्येऽपि

संयोग-विभाग का अनुमान कैसे होगा ? इस प्रक्रिया में भी पूर्वोक्त दोष से पीछा नहीं छूटता कि उन्हीं दैशिक संयोग विभागों के द्वारा दिशा में कर्म की कल्पना प्रसक्त होती है। 'दिगादि विभु हैं, उनमें कर्म की कल्पना क्योंकर होगी ?' इस प्रश्न के उत्तर में इतना कह देना पर्याप्त है कि अभी तक विभु पदार्थ अक्रिय हैं—यह ही सिद्ध नहीं हो सका है।

चलती हुई नौका में नीचे नेत्र करके नौका के अन्दर ध्यान रखने पर नौका में जो निष्क्रियता प्रतीत होती है, वह अतिसामीप्य दोष के कारण भ्रम है। दूरस्थ नौका में भी जो स्थिरता प्रतीत होती है, वह दूरत्व दोषनिमित्तक भ्रम माना जाता है, क्योंकि अत्यन्त दूर होने के कारण नौका का पूरा परिमाण भी नहीं प्रतीत होता, अतः (१) विषयरूप अवयवी के साथ इन्द्रियरूप अवयवी का, (२) विषयावयव के साथ इन्द्रिय के अवयवों का, (३) विषयावयव के साथ इन्द्रियरूप अवयवी का एवं (४) विषयरूप अवयवी के साथ इन्द्रियावयवों का संयोग---इन चार प्रकार के संयोगों का अभाव ही उक्त स्थलों पर कर्म की अप्रतीति का कारण होता है, संयोग-विभाग का अदर्शन नहीं।

दूसरी बात यह भी है कि शबरस्वामी ने जो कहा है—"देवदत्तस्य गतिपूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमवलोक्य आदित्येऽपि गतिस्मरणम्" (शा. भा. पृ० ३७) यह भाष्य भी कुण्डलित (असङ्गत घोषित) कर देना होगा,

गतिस्मरणम् इति भाष्यमपि कुण्डलनां नेतव्यम्, उभयत्रापि कर्मणोऽनुमेयत्वे दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकत्वेन निर्देशानुपत्तेः ।

किंच यदि न कर्मणः ।प्रत्यक्षत्वम्, तर्हि कर्मैव न स्यात् । असमवायिकारणमात्रापेक्षौ हि संयोगविभागौ । तत्र असमवायिकारणं प्रयत्नवदात्मसंयोग एवास्तु, किं कर्मकल्पनया ?

ननु यत्र संयोगोऽसमवायिकारणं तत्र स्वाश्रये स्वाश्रयसमवेते वा कार्यं जायते । यथा तन्तुसंयोगस्यासमवायिकारणत्वे स्वाश्रयभूते तन्तौ पटः । यथा च प्रचितावयवसंयोगस्यासमवायिकारणत्वे स्वाश्रयसमवेते अवयविनि महत्वम्—इति कुतः प्रयत्नवदात्मसंयोगः स्वाश्रयतत्समवेतव्यतिरिक्ते देशे संयोगाख्यं

क्योंकि जब दोनों में गति का अनुमान करना है, तब कौन दृष्टान्त बनेगा ? ऐसे असँल्लग्न भाष्य का पठन-पाठन उचित क्योंकर होगा, अतः कर्म की प्रत्यक्षता स्वीकार कर देवदत्त की गति का प्रत्यक्ष देख उसे दृष्टान्त बनाकर आदित्य में गति का अनुमान करना होगा ।

सबसे बड़ी आपत्ति यह है कि यदि कर्म का प्रत्यक्ष नहीं माना जाता, तब कर्म ही सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि संयोग और विभाग को अपने असमवायिकारण मात्र की अपेक्षा होती है, वह असमवायिकारण कर्म न होकर प्रयत्नवदात्मसंयोग ही हो जायगा, कर्म कल्पना की क्या आवश्यकता ?

शङ्का—संयोगरूप असमवायिकारण (१) स्वाश्रय या (२) स्वाश्रय-समवेत पदार्थ में ही कार्य का आरम्भक होता है, जैसे (१) तन्तु-संयोग रूप असमवायिकारण स्वाश्रयीभूत तन्तुओं में ही पट का और (२) प्रचित (फुलाई हुई) रुई के अवयवों का संयोगरूप असमवायिकारण स्वाश्रय-समवेत अवयवीरूप रुई-पिण्ड में महत्त्व परिमाण का आरम्भक माना जाता है । किन्तु प्रयत्नवदात्मसंयोग स्वाश्रय और स्वाश्रय-समवेत से भिन्न देश में संयोगरूप कार्य क्योंकर उत्पन्न कर सकेगा ? अतः कर्म ही संयोग का असमवायिकारण हो सकेगा और उस संयोगरूप कार्य

कार्यमारचयति ? अतः कर्मैवासमवायिकारणमिति चेत्, मैवम्, अणुद्वयसंयोगस्य स्वाश्रयतत्समवेतव्यतिरिक्ते तृतीयाणौ अपि कार्योत्पादकत्वदर्शनेन तादृशनियमस्य व्यभिचाराद्, अतः प्रत्यक्षेणैव कर्मसिद्धि ।



(५) अभावः—

इत्थं भावपदार्थानां स्वरूपे सुनिरूपिते ।
अभावाख्यं पदार्थं च पञ्चम चिन्तयामहे ॥ ४७ ॥

ननु भावपदार्था अपि केचिदवशिष्टाः सन्त्येव, यथाहुः प्राभाकराः—

द्रव्यं गुणः कर्म च जातिशक्ती सादृश्यसङ्ख्ये समवाय एते ।
अष्टौ पदार्था इह तान् विभज्य संक्षिप्य वक्ष्यामि गुरोर्मतेन ॥ इति ।

से कारणीभूत कर्म का अनुमान किया जा सकेगा, फलतः कर्म को अप्रत्यक्ष मानने पर भी कर्म की सिद्धि हो जाती है, असिद्धि नहीं ।

समाधान—संयोग केवल स्वाश्रय या स्वाश्रय-समवेत में ही कार्य का जनक नहीं होता, अपितु अन्यत्र भी कार्य का उत्पादक होता है, जैसे अणु-द्वय का संयोग स्वाश्रय और स्वाश्रय-समवेत से भिन्न तृतीय अणु में भी अपने संयोगरूप कार्य का जनक होता है । फलतः प्रत्यक्ष प्रमाण से ही कर्म की सिद्धि होती है, कर्म का प्रत्यक्ष न मानने पर उसकी असिद्धि ही हो जायगी ।



(५) अभाव —

भावरूप पदार्थों का स्वरूप निरूपित हो जाने पर अभावाख्य पञ्चम पदार्थ का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है ॥ ४७ ॥

शङ्का—अभी तक सभी भाव पदार्थों का निरूपण नहीं हुआ, कुछ अवशिष्ट रह गए हैं, जैसे कि प्राभाकरगण कहते हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण, (३) कर्म, (४) जाति, (५) शक्ति, (६) सादृश्य, (७) संख्या और (८) समवाय—ये प्रभाकर-सम्मत आठ पदार्थ हैं ।

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म जातिश्चैतत्त्रयाश्रया ।
विशेषः समवायश्च पदार्थाः षडिमे मताः ॥

इति तार्किकाश्च । प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद-जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगम इति च । ततः कथं सुनिरूपितत्ववाचोयुक्तिरिति चेत्, मैवम्, तत्र प्राभाकरोक्तयोः शक्तिसंख्ययोर्गुणत्वमेवेति गुणनिर्णये वर्णितम् । गोगतं गवयसादृश्यं तु तत्त्वान्तरमेव न भवति । गवयगतानां गुणावयवसामान्यानां गवि च वर्तमान-

---

वैशेषिक छः भाव पदार्थ मानते हैं—(१) द्रव्य, (२) गुण (३) कर्म–इन तीनों में रहने वाली (४) जाति, (५) विशेष और (६) समवाय । श्री वरदराज ने तार्किकरक्षा (पृ० १३०) में कहा है—

द्रव्यं गुणस्तथा कर्म, जाति श्चैतत्त्रयाश्रया ।
विशेषः समवायश्च पदार्थाः षडिमे मताः ॥

नैयायिक लोग सोलह पदार्थ मानते हैं—(१) प्रमाण, (२) प्रमेय, (३) संशय, (४) प्रयोजन, (५) दृष्टान्त, (६) सिद्धान्त, (७) अवयव, (८) तर्क, (९) निर्णय, (१०) वाद, (११) जल्प, (१२) वितण्डा, (१३) हेत्वाभास, (१४) छल, (१५) जाति और (१६) निग्रहस्थान । इनके तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है । जब इतने भाव पदार्थों का निरूपण अभी तक मानमेयोदय में नहीं किया गया, तब कैसे विगत श्लोक ४७ में कह दिया गया—"इत्थं भावपदार्थानां स्वरूपे निरूपिते" ।

समाधान—कथित चार भाव पदार्थों में ही सभी भावों का समावेश हो जाता है, जैसे कि प्रभाकर-कथित शक्ति और संख्या का गुणों में समावेश और निरूपण किया गया है । गोगत गवय का सादृश्य तो कोई पदार्थान्तर ही नहीं, जिसका पृथक् निरूपण अपेक्षित हो, क्योंकि गवयगत जो अधिकतर गुण, अवयव और जाति पदार्थ गौ में रहते हैं, उन्हीं

त्वादेव गवि गवयसादृश्यप्रतिपत्त्युपपत्तेः ।

ननु सदृशतामतेर्गुणावयसामान्यमात्रपरत्वे तदिति मतिरुत्पद्येत । अत्र तु तद्वदिति मतिरुपजायते । यथाह भवनाथः—तद्वदिति हि तद्धीः न तदिति इति, तदप्ययुक्तम् । गवयगतानां गुणावयवसामान्यानां गवाश्रितत्वाकारेण निरूप्यमाणानां तद्वदित्यादिबुद्धिविषयत्वं स्वरूपेण निरूप्यमाणानां तदित्यनुवृत्ताकारबुद्धिविषयत्वं यथा देवदत्तो यज्ञदत्तजन्यत्वेन निरूप्यमाणो यज्ञदत्तपुत्रबुद्धिविषयो भवति स्वरूपेण तु निरूप्यमाणो देवदत्तबुद्धिमात्रविषय इति ।

से ही गौ में गयव के सादृश्य की प्रतीति हो जाती है, पृथक् सादृश्य तत्त्व मानने की क्या आवश्यकता ?

शङ्का—गवयगत कुछ गुण, अवयव और सामान्य का योग गौ में रह कर सादृश्य-प्रतीति का नियामक नहीं हो सकता, क्योंकि श्री भवनाथ ने कहा है—"न तेषां योगः, असम्बन्धत्वात् । 'तद्वद्'-इति हि तद्धीः, न तु 'तद्'-इति 'सम्बन्ध' इति वा" (नयवि. पृ. १४७) । अर्थात् गवयगत कतिपय अवयवों का योग गौ में देखकर 'तत्' या 'सम्बन्धः'—ऐसी ही प्रतीति होनी चाहिये, 'तत्सदृशोऽयम्'-ऐसी नहीं ।

समाधान—एक ही पदार्थ विभिन्न रूपों से निरूपित होकर विभिन्न प्रतीतियों का उत्पादक हो जाता है, जैसे एक ही देवदत्त जब 'देवदत्त' संज्ञा से उपलक्षित होता है, तब उसमें 'देवदत्तोऽयम्'—ऐसी प्रतीति होती है और जब वह 'यज्ञदत्त-जन्यत्व' धर्म से उपलक्षित होता है, तब उसमें 'यज्ञदत्तपुत्रोऽयम्'—ऐसा भान होने लगता है, वैसे ही जब गवयगत अवयवों को गौ में स्वरूपतः देखा जाता है, तब 'तदेवायम्'—ऐसी प्रतीति होती है और जब उन्हें गवयवस्थत्वेन देखा जाता है, तब वे ही गौमें 'तत्सदृशोऽयम्'—इस प्रकार का व्यवहार उत्पन्न करने लगते हैं । [श्रीचिदानन्द पण्डित भी कहते हैं—गुणावयवसामान्यानानामेवैकत्र प्रतीतानामन्यत्र सादृश्यबुद्धिविषयत्वात् । यथा देवदत्तो यज्ञदत्तजन्यत्वेनोपलक्ष्यमाणो यज्ञदत्तपुत्रबुद्धिविषयो भवति, स्वरूपेण तु निरूप्यमाणो

अपि च सादृश्यस्य तत्त्वान्तरत्वे गवयेन गौर्बहुसदृशः वराहेण पुनरल्पसदृश इत्यादिप्रत्ययानां कथमुपपत्तिः ? नहि भवन्मते सादृश्यस्याल्पत्वबहुत्वे सम्भवतः । न च परिमाणभेदादल्पत्वबहुत्वे इति वाच्यम्, द्रव्यव्यतिरिक्तस्यापरिमाणत्वात् । न चाश्रयपरिमाणभेदात् परिमाणभेदः, एकस्यैव गोराश्रयत्वात् । अस्मन्मते गुणावयवसामान्यानामल्पसङ्ख्यभाजां सादृश्याल्पत्वम्, बहुसंख्याभजां सादृश्यबहुत्वमिति विवेकः सुकरः । तस्मात् द्रव्यादिष्वेव सादृश्यस्याप्यन्तर्भावः ।

विशेषसमवायौ तु शशविषाणसब्रह्मचारिणौ, तत्सिद्धौ प्रमाणाभावात् ।

देवदत्तबुद्धेरेव । तथा गुणावयवसामान्यानि गवयाश्रिताकारेणोपलक्ष्यमागानि गवि गवयसादृश्यबुद्धेर्विषयः, स्वरूपेणैव निरूप्यमाणानि तदित्यनुवृत्तबुद्धेरेव विषयः" (नीति० पृ० १५०)] ।

यदि सादृश्य को तत्त्वान्तर माना जाता है, तब 'गवयेन गौर्बहुसदृशः, वराहेण पुनरल्पसदृशः'—इत्यादि प्रतीतियों की उपपत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि आप (प्रभाकर) के मतानुसार सादृश्य पदार्थ में अल्पत्व और बहुत्व सम्भव नहीं । सादृश्यगत परिमाण-भेद माना नहीं जा सकता, क्योंकि द्रव्य से भिन्न अन्यत्र कहीं भी परिमाण नहीं रहता । 'सादृश्य में परिमाण भेद न होने पर भी उसके आश्रयीभूत द्रव्य के परिमाण-भेद को लेकर उक्त प्रतीतियों का निर्वाह हो जायगा'—ऐसा भी नहीं कह सकते, क्योंकि सादृश्य का एकमात्र गौ आश्रय है, उसमें परिमाण-भेद नहीं हो सकता । हम (भाट्टगण) उक्त प्रतीतियों का सामञ्जस्य भली प्रकार कर सकते हैं, क्योंकि जहाँ गुण, अवयव और सामान्य अल्पसंख्यक हैं, वहाँ अल्प सादृश्य और जहाँ वे बहुसंख्यक हैं, वहाँ सादृश्य-बहुत्व हो जाता है । फलतः द्रव्यादि में ही सादृश्य का अन्तर्भाव समुचित है ।

विशेष और समवाय का निराकरण—

विशेष और समवाय तो शशविषाण के समान ही हैं, क्योंकि उनकी

नन्वस्त्येव विशेषसिद्धावनुमानम्—समानजातीयाः समानगुणकार्याः परमाणवो मुक्तात्मानश्च, परस्परव्यावर्तकधर्मसमवायिनः, द्रव्यत्वात् घटवदिति तदयुक्तम्, पृथक्त्वेन सिद्धसाध्यत्वात्। तस्मात् नित्यद्रव्यवर्ती व्यावृत्तिमात्रबुद्धिविषयो

सिद्धि में कोई प्रमाण ही नहीं।

शङ्का—विशेष पदार्थ की सिद्धि में अनुमान प्रमाण है—'समानजातीयाः समानगुणकार्याः परमाणवः मुक्तात्मानश्च, परस्परव्यावर्तकधर्मसमवायिनः, द्रव्यत्वाद्, घटवत्' [श्री वरदराज ने अनुमान-प्रयोग किया है—"समानजातीयाः समानगुणकाः परमाणवो मुक्तात्मानश्च परस्परव्यावर्तकधर्मसमवायिनः, द्रव्यत्वाद्, घटवत्" (ता० र० पृ० १६०) यही अनुमान ऊपर श्री नारायण पण्डित ने उद्धृत किया है, उसमें 'समानगुणकार्याः'—ऐसा पाठ न्यायलीलावती का अनुसरण करते हुए रखा है। जाति और गुणों को लेकर अर्थान्तरता न हो, अतः 'समान जातीयत्व' और 'समानगुणत्व'—ये पक्ष-विशेषण रखे गये हैं। उक्त अनुमान से व्यावर्तक धर्म सिद्ध हो जाने पर मानमनोहरकार के परिशेषानुमान से विशेष पदार्थ सिद्ध हो जाता है—"विवादपदं गुणसामान्यातिरिक्तसमवायि, द्रव्यत्वाद्, घटवत्" (मा० म० पृ० १२७)। गुण और जाति से भिन्न कर्म की घट में समवायिता को लेकर घट दृष्टान्त बनाया गया है, किन्तु मुक्त आत्मा और आकाशादि विभु पदार्थों में क्रिया सम्भव नहीं, अतः उससे भिन्न विशेष पदार्थ मानना आवश्यक है। इस अनुमान की आलोचना श्री चित्सुखाचार्य ने चित्सु० पृ० ३३० पर की है]।

समाधान—उक्त अनुमान पृथक्त्व गुण को लेकर अर्थान्तर हो जाता है। [अर्थान्तर नाम का एक निग्रहस्थान है—"प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्" (न्या० सू० ५।२।७)। विशेष पदार्थ के साधक अनुमान से पृथक्त्व की अनभिमत सिद्धि पर्यवसित होती है, जो कि पृथक्त्ववादी के लिए सिद्ध-साधन मात्र है]। वैशेषिकाचार्यों ने जो कहा

विशेष इति भाषिणो वैशेषिका दूषिता वेदितव्याः ।

समवायेऽपि प्रत्यक्षम् ? अनुमानं वा प्रमाणम् ? तत्र न तावत् तार्किकाभिमतं प्रत्यक्षम्, अप्रतिभासात् । न च पटाश्रयं शौक्ल्यम् इह पटे शौक्ल्यम् इत्यादिप्रत्ययानामिन्द्रियान्वयव्यतिरेकानुविधानात् समवायस्य प्रत्यक्षत्वमिति वाच्यम्, समवायरूपस्यैव विप्रतिपन्नत्वादेतेषां प्रत्ययानां समवायविषयत्वासिद्धेः । सिद्धे हि समवाये तादृशानां प्रत्ययानां समवायविषयत्वोपवर्णनमुपपद्यते । कश्च समवायस्येन्द्रियेण सन्निकर्षः ? न तावत् विशेषणविशेष्यभावः, तस्येन्द्रियसन्निकर्षत्वासिद्धेः प्रागेव समर्थितत्वात् । अन्यस्य च सन्निकर्षस्यानुपपत्तेः अनभ्युपगमाच्च ।

नापि प्राभाकरानुमतमनुमानं प्रमाणम्, तत्र तावद्, इह गवि गोत्वमिति

है—"नित्यद्रव्यवर्ती व्यावृत्तिमात्रबुद्धिविषयो विशेषः" (वै० भा० पृ० १६८) । वह भी पृथक्त्व से गतार्थ हो जाता है ।

समवाय में भी क्या (१) प्रत्यक्ष प्रमाण है ? अथवा (२) अनुमान ? तार्किक-सम्मत प्रत्यक्ष सम्भव नहीं होता, क्योंकि सूत्रकार ने कहा है—"इहेदमिति यतः कार्यकारणयोः स समवायः" (वै० सू० ७।०।२६) उसके अनुसार 'पटाश्रयं शौक्ल्यम्', 'इह पटे शौक्ल्यम्'—इत्यादि प्रतीतियाँ इन्द्रिय के अन्वय-व्यतिरेक से उत्पन्न होती हैं, अतः समवाय प्रत्यक्ष है—ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जबकि समवाय ही विवादास्पद है, तब उक्त प्रतीतियों में समवायविषयकत्व ही असिद्ध है । यदि कोई समवाय पदार्थ सिद्ध होता, तब अवश्य उक्त प्रतीतियाँ उसको विषय कर सकती थीं । समवाय का प्रत्यक्ष मानने पर इन्द्रिय के साथ उसका सन्निकर्ष क्या होगा ? विशेषण-विशेष्यभाव को सन्निकर्ष नहीं मान सकते, क्योंकि विगत पृ० १८ पर ही उसका निराकरण किया जा चुका है । समवाय के साथ इन्द्रिय का अन्य कोई सम्बन्ध बन नहीं सकता ।

(२) समवाय के सद्भाव में प्रभाकर-सम्मत अनुमान प्रमाण भी

प्रत्ययोऽधिकरणाधिकर्तव्यतासम्बन्धनिबन्धनः, इहेति प्रत्ययत्वाद्, इह घटे तण्डुला इति प्रत्ययवद्—इत्यनुमानम्, इह भूतले घटो नास्तीति प्रत्ययेन व्यभिचारादनुपपन्नम्। 'विवादपदं विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धनिबन्धनम्, विशिष्टज्ञानत्वाद्, दण्डीति ज्ञानवद्—इत्यनुमानं तु विनष्टो घट इति प्रत्ययेन व्यभिचारादुपेक्षणीयम्।

यत् पुनः आगमसन्निधिविहीनस्याप्युत्पन्नवस्तुपरतन्त्रतया भानं समवायगमकम्—इति भवनाथेन कथितम्, तत्र प्रष्टव्यः—किमेतादृशभानं समवायेन

सम्भव नहीं, क्योंकि श्री वरदराज-प्रयुक्त "इह गवि गोत्वमिति प्रत्ययोऽधिकरणाधिकर्त्तव्यसम्बन्धनिबन्धनः, अबाधितेहप्रत्ययत्वाद्, इह कुण्डे वदराणीति प्रत्ययवत्" (ता० र० पृ० १६२) यह अनुमान सङ्गत नहीं, क्योंकि 'इह भूतले घटो नास्ति'—इस प्रतीति में व्यभिचरित है—[प्रभाकर-मतानुसार अभाव अपने अधिकरण से अतिरिक्त नहीं होता, अधिकरण के सा‍थ उसका कोई सम्बन्ध भी नहीं, अतः 'इह घटो नास्ति'—इस प्रतीति में सम्बन्धनिबन्धनत्वरूप साध्य न होने पर भी प्रत्ययत्व रह जाता है]। 'विवादपदं विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धनिबन्धनम्, विशिष्टज्ञानत्वाद्, दण्डीतिज्ञानवत्'—यह अनुमान भी 'विनष्टो घटः'—इस ज्ञान में व्यभिचरित है, क्योंकि इसमें विशिष्टज्ञानत्वरूप हेतु के रहने पर भी विशेषण-विशेष्यभावसम्बन्ध-निमित्तत्व नहीं रहता।

यह जो भवनाथ ने कहा है कि "आगमसन्निधिहीनस्यापि उत्पन्नवस्तुपरतन्त्रतया भानादेव संयोगविलक्षणः कल्पितः समवायशब्दवाच्यः" (नयवि० पृ० ६६)। ['इह भूतले घटः'—यहाँ पर जैसे घट पदार्थ का आगम (प्राप्ति) अथवा पहले से ही सन्निहित (विद्यमान) है, अतः उसका भूतल के साथ संयोग सम्बन्ध मान कर उक्त विशिष्ट ज्ञान का निर्वाह किया जाता है, वैसे 'इह घटे घटत्वम्'—ऐसी प्रतीति में घटत्व जाति न कहीं से आई है और न वहाँ पहले से सन्निहित थी, अतः घटत्व जाति का वैशिष्टच-बोध संयोग से विलक्षण जिस तत्कालोत्पद्यमान वस्तु

व्याप्तम् ? उत तेन विनानुपपन्नमिति ? न तावत् व्याप्तम्, अन्यत्र सहादर्शनेन व्याप्तिग्रहणानुपपत्तेः । नापि समवायेन विनानुपपन्नम्, भेदसहिष्णुनाभेदेनोपपत्तेः ।

अपिच समवायः समवायिभ्यामत्यन्ताभिन्नो वा ? न वा ? न तावदभिन्नः, समवायिव्यतिरेकेण समवायस्याभावप्रसङ्गात् । भिन्नत्वे तु समवायस्य समवायिभ्यां सम्बन्धोऽस्ति वा ? न वा ? न तावदस्तीति वाच्यम्, तस्यापि सम्बन्धस्य समवायत्वात् समवायान्तरकल्पने तस्याप्येवम्—इति अनवस्थाप्रसङ्गात् । नापि नास्तीति वाच्यम्, पिण्डसामान्यसमवायानां परस्परं सम्बन्धाभावे सति इयं गौः इति व्यवहारमपहाय पिण्डगोत्वसमवाया इति व्यवहारस्वी-

---

पर निर्भर है, उसे 'समवाय' शब्द से अभिहित किया जाता है]।

भवनाथ के उक्त कथन में जिज्ञासा होती है कि क्या उक्त जात्यादि का वैशिष्ट्य-भान समवाय से वैसे ही व्याप्त हैं, जैसे धूम अग्नि से ? अथवा उक्त भान समवाय के विना वैसे ही अनुपपन्न है, जैसे पीनत्व रात्रि-भोजन के विना ? उक्त भान और समवाय का अन्यत्र कही सहचार-दर्शन न होने के कारण व्याप्ति-ग्रहण सम्भव नहीं और उक्त भान समवाय के विना अनुपपन्न भी नहीं, क्योंकि भेदाभेदात्मक तादात्म्य सम्बन्ध से उसकी उपपत्ति हो जाती है ।

समवाय के विषय में यह भी जिज्ञासा होती है कि वह अपने जाति-व्यक्त्यादि समवायी (सम्बन्धी) पदार्थों से अत्यन्त अभिन्न है ? अथवा नहीं ? अत्यन्त अभिन्न मानने पर समवायी जाति-व्यक्त्यादि से भिन्न समवाय का सद्भाव नहीं माना जा सकता। यदि समवाय अपने सम्बन्धियों से भिन्न है, तब जिज्ञासा होती है कि उसका अपने सम्बन्धियों से कोई सम्बन्ध है ? या नहीं ? यदि सम्बन्ध है, तब वह भी समवायान्तर होगा और उसका भी अपने सम्बन्धियों से समवायान्तर—इस प्रकार अनवस्था होती है। समवाय का यदि अपने सम्बन्धियों से कोई सम्बन्ध नहीं माना जाता, तब 'गवि गोत्वम्'—इस प्रकार की

कारप्रङ्गात् तस्मादवयवावयविनोर्गुणगुणिनोर्जातिजातिमतोः क्रियाक्रियावतोश्च परस्परं तादात्म्यमेव सम्बन्धः, तच्च प्रागेवोक्तम् ।

प्रमाणादयो यद्यप्यत्रैवान्तर्भवन्ति, तथापि प्रयोजनवशाद् भेदेन कीर्तनमिति पदार्थषट्कप्ररणे केशवमिश्रैरेवोक्तं च । यद्यपि प्रत्यक्षादिप्रमाणानि इन्द्रियतत्सन्निकर्षज्ञानप्राकट्यादिरूपाणि प्रमेये अन्तर्भवन्ति, तथापि प्रमाणैर्विना तेषां प्रमेयत्वानुपपत्तेः मानाधीनत्वान्मेयसिद्धेश्च युक्तमेव प्रमाणानां पृथगुपवर्णनम् । संशयप्रयोजनादीनामस्मिन्नन्तर्भावः स्पष्टः । तस्माद् भावपदार्थानामेतेष्वेवान्तर्भावाद् अनन्तर्भूतानां च पदार्थत्वानुपपत्तेर्युक्तमभावपदार्थनिरूपणम् ।

प्रागभावादिभेदेन चतुर्धैव विभागवान् ।
षष्ठप्रमाणविज्ञेयः पदार्थोऽभाव उच्यते ॥ ४८ ॥

विशिष्ट बुद्धि न होकर 'गोगोत्वसमवायाः'—ऐसी समूहालम्बनात्मक बुद्धि होनी चाहिए । अतः अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, जाति-जातिमान् और क्रिया-क्रियावान् का परस्पर तादात्म्य सम्बन्ध मानना चाहिए, जिसकी चर्चा पहले ही की जा चुकी है ।

न्यायसूत्रोक्त प्रमाणादि पदार्थ यद्यपि इन्हीं चार पदार्थों के अन्तर्गत ही हैं, तथापि कुछ विशेष प्रयोजन से पृथक् रखे गये हैं जैसा कि श्री केशव मिश्र ने पदार्थषट्क-प्रकारण में कहा है । यद्यपि इन्द्रिय, इन्द्रिय-सन्निकर्ष, इन्द्रिय-जन्य ज्ञान और ज्ञान-जन्य प्राकट्यादिरूप प्रत्यक्षादि प्रमाण भी प्रमेय के अन्तर्गत ही आ जाते हैं । तथापि प्रमाणों के विना प्रमेय पदार्थों की सिद्धि नहीं हो सकती, अतः साध्य-साधनभाव की विशेषता दिखाने के लिए प्रमाण और प्रमेय का पृथक् निरूपण उचित ही है । संशय और प्रयोजनादि का भी प्रमाण और प्रमेय में अन्तर्भाव अत्यन्त स्पष्ट है । फलतः सभी भाव पदार्थों का उक्त द्रव्य, जाति, गुण और क्रिया—इन चार पदार्थों में समावेश हो जाता है, उनमें जो अन्तर्भूत नहीं होते, वे पदार्थ ही नहीं माने जा सकते, अतः भाव पदार्थों के सुनिरूपित हो जाने पर अभाव पदार्थ का निरूपण अयुक्त नहीं ।

अभावो द्विविधः संसर्गाभावोऽन्योन्याभावश्च । तत्र संसर्गाभावः प्रागभाव-प्रध्वंसाभावात्यन्ताभावभेदेन त्रिविधः ।

क्षीरे यो दध्यभावः स इह निगदितः प्रागभावः प्रवीणैः
प्रध्वंसाभावमाहुर्दधनि तु पयसोऽभावमाचार्यपादाः ।
अत्यन्ताभावसंज्ञो भवति हि पवनाद्येषु रूपाद्यभाव-
श्चान्योन्याभावमाशु स्फुटयति तु घटादौ पटत्वाद्यभावः ॥४९॥
अभावाख्यः पदार्थस्तु नास्तीत्याह प्रभाकरः ।
घटाद्यभावस्तत्पक्षे केवलं भूतलं मतम् ॥ ५० ॥

प्रागभावादि चार भागों में विभक्त, अनुपलब्धिरूप षष्ठ प्रमाण से वेद्य अभाव पदार्थ कहा जाता है ॥ ४८ ॥ अभाव दो प्रकार का होता है—(१) संसर्गाभाव और (२) अन्योऽन्याभाव । संसर्गाभाव के तीन भेद हैं—(१) प्रागभाव, (२) ध्वंस और (३) अत्यन्ताभाव । (१) दूध में जो दधि का अभाव है, उसे प्रागभाव कहते हैं । (२) दधि में दूध के अभाव को ध्वंस और (३) वायु आदि में रूपादि के अभाव को अत्यन्ताभाव कहा जाता है । 'घटः पटो न भवति'—इस प्रकार का जो घटादि में पटादि का अभाव है, वह अन्योन्याभाव कहलाता है ॥४९॥ वार्तिककार ने भी (श्लो० वा० पृ० ४७३ पर) कहा है—

क्षीरे दध्यादि यन्नास्ति प्रागभावः स उच्यते ।
नास्तिता पयसो दध्नि प्रध्वंसाभाव इष्यते ॥
गवि योऽश्वाद्यभावस्तु सोऽन्योऽन्याभाव उच्यते ।
शिरसोऽवयवा निम्ना वृद्धिकाठिन्यवर्जिताः ॥
शशशृङ्गादिरूपेण सोऽन्यन्ताभाव उच्यते ।

प्राभाकर मत—प्रभाकर गुरु का कहना है कि 'अभाव' नाम का कोई तत्त्वान्तर होता ही नहीं, केवल भूतल को ही घटाभाव कहा जाता है, जब भूतल केवल न होकर घटसे विशिष्ट होता है, तब वहाँ घटाभाव का व्यवहार नहीं होता, अतः अभाव भावान्तरमात्र है ।

यदुक्तं भावान्तरमभाव इति तन्मन्दम्, अघटं भूतलं इह भूतले घटो नास्तीत्यादिविशिष्टव्यहाराणां विशिष्टभूतलविज्ञानमूलत्वे तद्विशेषणभूतस्य तत्त्वान्तरस्यावश्याश्रयणीयत्वात्। न च भूतलवेदनादेवायं व्यवहार इति साम्प्रतम्, घटवति भूतलेऽपि तद्व्यवहारप्रसङ्गात्, अस्ति हि तत्रापि भूतलविज्ञानम्। ननु तन्मात्रज्ञानस्यैवाभावव्यवहारकारणत्वमिति चेत्, मैवम्, मात्रशब्दस्य भूतलातिरिक्तार्थत्वे तत्त्वान्तरत्वापत्तिः, अनतिरिक्तार्थत्वे घटवति प्रसङ्ग इति पूर्वोक्तदोषानतिवृत्तेः। न चैकाकिभूतलवेदनं तत्कारणमिति वाच्यम्, एकाकिशब्दस्यैकसङ्ख्यायोगित्वेऽर्थे घटवति प्रसङ्गः, एकादाकिनिच्चासहाये इति द्वितीयासहात्वेऽर्थे तत्त्वान्तरत्वापत्तिरिति घट्टकुटीप्रभातन्यायस्य पुनरप्य-

---

प्राभाकर मत-निरास 'अघटं भूतलम्', 'इह भूतले घटो नास्ति'—इत्यादि विशिष्ट-व्यवहारों का मूल जो विशिष्ट भूतल होता है, उसके विशेषणीभूत पदार्थ को अवश्य तत्त्वान्तर मानना होगा। यदि केवल भूतल के ज्ञान से वैसा व्यवहार माना जाता है, तब भूतल में घट के होने पर भी 'अघटं भूतलम्'—ऐसा व्यवहार होना चाहिए, क्योंकि वहाँ भी उसी भूतल का भान हो रहा है। यह जो कहा जाता है कि भूतल-मात्र का ज्ञान ही उक्त व्यवहार का कारण होता है। वहाँ 'मात्र' शब्द का अर्थ यदि भूतल से भिन्न है, तब तत्त्वान्तर मानना पड़ता है और यदि 'मात्र' शब्द का अर्थ भूतल से अतिरिक्त कुछ भी नहीं, तब घट के रहने पर भी उक्त व्यवहार की आपत्ति पूर्ववत् बनी रहती है। यदि एकाकी भूतल को उक्त व्यवहार का निमित्त कहा जाता है, तब भी 'एकाकी' शब्द का एकत्व संख्या-विशिष्ट अर्थ मानने पर घटवाले भूतल में उक्त व्यवहार प्रसक्त होता है। यदि "एकादाकिनिच्चासहाये" (पा० सू० ५।३।५२) इस सूत्र के अनुसार असहायार्थक 'एक' शब्द से स्वार्थ में 'आकिनिच्' प्रत्यय करके 'एकाकी' शब्द का असहाय या द्वितीय से असहकृत अर्थ किया जाता है, तब तत्त्वान्तरापत्ति का वही दोष बना रहता है, जिससे वचने के लिए उक्त पाणिनि सूत्र का सहारा

नतिवृत्तेः। एताभिरेव युक्तिभिः केवलादिशब्दोऽपि व्याख्यातो वेदितव्यः।

अत्राह भवनाथः—यत्राभावधीस्तत्र संसृष्टस्वरूपधीर्नास्ति स्वरूपधीस्त्वस्तीति द्वयी स्वरूपधीरास्थेया। यत्र संसृष्टस्वरूपधीतोऽन्या स्वरूपधीस्तन्मात्रधीः। तद्धीवेद्यं च तन्मात्रमिति न मेयान्तरमिति।

तत्र प्रष्टव्यं संसृष्टस्वरूपधीतोऽन्यस्याः स्वरूपधियः किं प्रमेयमिति ? ननूक्तमेव तद्धीवेद्यं च तन्मात्रमिति, तर्हि मात्रशब्दस्य भूतलातिरिक्तार्थत्वे तत्त्वान्तरत्वम्, अनतिरिक्तार्थत्वे घटवति प्रसङ्गः। ननु घटवति संसृष्टस्वरूपधीरे-

---

लिया गया था—यह बात वैसी ही है जैसे कि कोई चुङ्गी-कर बचाने के लिए चुङ्गी चौकी से कतराकर रात को घूमते-घूमते प्रभात में उसी घटकुट्टी (चुङ्गी-चौकी) पर पहुँच जाय। इन्हीं युक्तियों से केवलादि शब्दों की आलोचना की जा सकती है।

भवनाथ का मत—नयविवेककार श्री भवनाथ ने कहा है—"यत्र यस्याभावधीः तत्र तत्संसृष्टधीर्नास्ति, स्वरूपधीस्त्वस्तीति द्वयी स्वरूपधीरास्थेया। तत्र या संसृष्टधीतोऽन्या विधा, सा तन्मात्रधीविधा, तद्धीवेद्यं च तन्मात्रमिति न मेयान्तरम्" (नयवि० पृ० १६३–१६४) [अर्थात् जहाँ भूतलादि में घटादि के अभाव का भान होता है, वहाँ 'घटसंयुक्तं भूतलम्'—इस प्रकार का ज्ञान नहीं होता 'भूतल का स्वरूप-ज्ञान तो होता है, अतः दो प्रकार की स्वरूप–धी माननी चाहिए—एक घट के रहने पर दूसरी घट के न रहने पर। उनमें घट-काल से भिन्न काल की जो स्वरूप धी है, वह तन्मात्रधी है और वही अभाव-विशिष्ट-व्यवहार की नियामिका मानी जाती है, अतः अभाव नाम का प्रमेयान्तर व्यर्थ है]।

भवनाथ-मत की आलोचना—भवनाथ पण्डित से यह प्रश्न करना चाहिए कि संसृष्टावस्थाक भूतल के स्वरूप-ज्ञान से भिन्न स्वरूप-ज्ञान का विषय क्या है ? यह जो कहा 'तद्धीवेद्यं तन्मात्रम्'—यहाँ प्रयुक्त 'मात्र' शब्द का अर्थ यदि भूतल से अतिरिक्त है, तब उसमें तत्त्वान्तरतापत्ति और अतिरिक्त अर्थ न मानने पर घट के रहने पर भी भूतल में

वेति न तत्र प्रसङ्गः इति चेत्, न, उक्तया रीत्या स्वरूपधीद्वयस्यापि तत्रैव प्राप्तत्वाद्, अन्यथा मात्रशब्दस्यातिरिक्तार्थत्वप्रसङ्गात्। अपि च संसृष्टस्वरूपधीरति यदुक्तम्, तत्र अन्यशब्दस्य असंसृष्टत्वमेवार्थ इति बलादापन्नम्, इति न पुनरपि प्राचीनदोषादुत्तारः। तस्मादभावो नाम तत्त्वान्तरमवश्याश्रयणीयम्। अतः पञ्चैव पदार्थाः।

(१) ननु शून्यमेवेदं जगदिति वादिनि माध्यमिके जीवति सति कथं पदार्थपञ्चकविभागसिद्धिः? एवं हि स वदति—विमतं विज्ञानं शून्यविषयम्, विज्ञानत्वात्, स्वप्नादिविज्ञानवदिति। ननु तत्रापि विज्ञानमस्त्येवेति कथं

घटाभाव-व्यवहार प्रसक्त होता है। 'घट के रहने पर तो संसृष्ट स्वरूपधी ही है, उससे भिन्न स्वरूप धी नहीं'—ऐसा नही कह सकते, क्योंकि वहाँ प्रयुक्त 'मात्र' शब्द का अतिरिक्त अर्थ न होने पर कथित दोनों स्वरूप-ज्ञानों की वहाँ प्रसक्ति होती है, अन्यथा 'मात्र' शब्द का अतिरिक्त अर्थ मानना होगा। दूसरी बात यह भी है कि यह जो कहा गया है कि 'संसृष्टस्वरूपधीतोऽन्या स्वरूपधीः'—यहाँ 'अन्य' शब्द का 'असंसृष्टत्व अर्थ में बलात् पर्यवसान मानना होगा, तब वे ही पुराने दुर्धर्ष दोष दुरुद्धर हो जाते हैं, अतः 'अभाव' नाम का अतिरिक्त पदार्थ मानना आवश्यक है, उसे मिलाकर सब पाँच ही पदार्थ सिद्ध होते हैं।

(१) **शून्यवाद**—कथित पाँच पदार्थों से अतिरिक्त एक शून्य तत्त्व के संस्थापक माध्यमिकाचार्य श्री नागार्जुन के जीते-जी यह नहीं कहा जा सकता है कि 'पञ्चैव पदार्थाः', क्योंकि शून्यवादी शून्य को भावाभाव से भिन्न ही मानता है, माध्यमिक कारिका (१५।१०) में कहा है—

अस्तीति शाश्वतग्राहो नास्तीत्युच्छेददर्शनम्।
तस्मादस्तित्वनास्तित्वे नाश्रीयेत विचक्षणः॥

शून्यवाद में ज्ञान और ज्ञेय—दोनों की स्वाभाविक सत्ता का निराकरण करते हुए कहा गया है—'विमतं विज्ञानं शून्यविषयम्, विज्ञानत्वात्, स्वाप्नविज्ञानवत्'। ज्ञेय तत्त्व की निःस्वभावता के कारण ज्ञान तत्त्व भी

जगतः शून्यात्मकत्वमिति चेत्, मैवम्, ज्ञेयाभावे ज्ञानस्याप्यभावाद्, अतः शून्यविवर्तं जगदिति ।

(२) माध्यमिकेनोक्तं ज्ञानाभावमसहमानो योगाचारः प्रत्यवतिष्ठते—अस्तु ज्ञेयाभावः, स्वप्नादौ ज्ञेयानामत्यन्ताभावे सत्यपि प्रतीयमानत्वात्, तद्दृष्टान्तेन विमतानामप्यत्यन्ताभावस्य सम्यगवगम्यत्वात् । ज्ञानं तु न निराकर्तुं शक्यम्, स्वप्नादावपि ज्ञानोदयदर्शनात् । न च ज्ञेयाभावेन ज्ञानाभावोऽपि

निःस्वभाव हो जाता है—ज्ञेयाभावे 'ज्ञानस्याप्यभावात्' । इसी निःस्वभावता या शून्य का जगत् विवर्त माना जाता है [ब्रह्मविवर्तवाद में जैसे ब्रह्म के आधार पर जगत् मरुमरीचि के समान आरोपित मात्र होता है, वैसे ही शून्यविवर्त ाद में । श्री आर्यदेव चतुःशतक (१३।२६) में कहते हैं-

अलातचक्रनिर्माणस्वप्नमायाम्बुचन्द्रकैः ।
धूमिकान्त प्रतिश्रुत्कामरीच्यभ्रैः समो भवः ॥

जैसे किसी लकड़ी के मुख को जलाकर घुमाने पर अग्नि का चक्र-भ्रम (अलातचक्र) बन जाता है, योगी अपनी यौगिक शक्ति के द्वारा सिंह-व्याघ्रादि शरीरों का निर्माण कर लेता है, स्वप्न में विना सामग्री के ही चलता-फिरता संसार दिखाई देता है, मायाकार (जादूगर) अपने जादू के बल पर विचित्र-विचित्र दृश्य बना कर दिखा देता है, जलगत चन्द्र का मिथ्या प्रतिबिम्ब देखा जाता है, शीत ऋतु में गाँव के चारों ओर धूमिका (धूमाभासिका) प्रतीत होती है, (पर्वतकन्दरा में) शब्द की प्रतिध्वनि गूँजती सुनाई देती है, मरुमरीचि में नदी का भ्रम हो जाता है, पर्वतशिखर से देखने पर दूरस्थ अभ्र-खण्डों का समूह एक सुन्दर नगर (गन्धर्वनगर) के रूप में दिखाई देता है । ठीक उसी प्रकार यह जीता-जागता जगत् भी एक विशाल विभ्रममात्र है] ।

(·) **विज्ञानवाद**—माध्यमिकाभिमत ज्ञानाभाववाद का निराकरण करते हुए योगाचारगण कहते हैं— अस्तु ज्ञेयाभावः, ज्ञानं तु न निराकर्तुं शक्यम्' । स्वप्नादि-स्थलों पर भी ज्ञान का अभाव नहीं होता, विविध

कल्पनीयः, प्रतीतिविरोधात्। तस्मात् विज्ञानमेव जाग्रत्प्रपञ्चघटादिरूपेण परिवर्तते। समनन्तरप्रत्ययेन च तदेव गृह्यते। तस्मात् दृश्यमानं घटाद्याकारं विज्ञानस्यैव। अपिच स्वयंप्रकाशरूपाद् विज्ञानादभिन्ना एव घटादयः। तथाच प्रयोगः—यत् प्रकाशते, तत् प्रकाशादभिन्नम्, यथोभयसिद्धः प्रदीप इति। तस्माद् विज्ञानविवर्तं जगदिति।

(३) योगाचारेण साधिते बाह्यवस्तुनिरासमसहमानः सौत्रान्तिकः प्रत्यवतिष्ठते--अस्तु ज्ञानं साकारम्, तथापि न बाह्यमर्थमपह्नोतुं शक्यम्, बाह्यपदा-

---

ज्ञानों की उत्पत्ति देखी जाती है। ज्ञेयाभाव के द्वारा जो ज्ञानाभाव की कल्पना की जाती है, वह अनुभव-विरुद्ध है। विज्ञान ही घटादि प्रपञ्च के रूप में विपरिणत होता है अतः सब घटादि आकार विज्ञान के ही होते हैं, विज्ञान साकार है, [श्री वसुबन्धु विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि (त्रिंशिका के आरम्भ) में कहते हैं—

आत्मधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते।
विज्ञानपरिणामोऽसौ परिणामः स च त्रिधा॥

यह सब आत्मा (चेतन वर्ग) तथा धर्मरूप (घट-पटादि जड़ वर्ग) विविध जगत् विज्ञान का परिमाण और विज्ञान में ही कल्पित है, उससे अतिरिक्त नहीं। विज्ञान तीन प्रकार का होता है—(१) विपाक या आलय विज्ञान, (२) मनन या क्लिष्ट मन तथा (३) विषय-विज्ञप्ति (चाक्षुषादि छः प्रकार का ऐन्द्रियक ज्ञान)]।

दूसरी बात यह भी है कि घटादि पदार्थ स्वयप्रकाश ज्ञान से अभिन्न होते हैं--'यत् प्रकाशते, तत् प्रकाशादभिन्नम्, यथा प्रदीपः, तस्माद्विज्ञान-विवत जगत्। [श्री धर्मकीर्ति ने प्र० वा० पृ० २५३ पर कहा है—

प्रकाशमानस्तादात्म्यात् स्वरूपस्य प्रकाशकः।
यथा प्रकाशोऽभिमतस्तथा धीरात्मवेदिनी॥]।

(३) **बाह्यार्थानुमेयवाद**—सौत्रान्तिकगण कहते हैं कि योगाचाराभिमत साकार विज्ञान को मान लेने पर भी बाह्यार्थ का अपलाप नहीं

र्थानां एकरूपस्य विज्ञानस्य बहुविधाकारसमर्पणमात्रं प्रति हेतुत्वात् । एकरूपमेव विज्ञानं नीलपीताद्याकारेण बहुधा विपरिवर्तत इति दुरुपपादमेव । तस्माद् विज्ञानाकाराणामनेकविधत्वदर्शनात् तत्तदाकारसमर्पणहेतुभूताः क्षणिकतरा बाह्यपदार्था अपि ज्ञानाकारविशेषदर्शनानुमेयाः । न च बाह्यपदार्थानां सर्वत्रानुमेयत्वे प्रत्यक्षानुमानविभागभङ्गप्रसङ्ग इति वाच्यम्, यस्य साक्षादाकारसमर्पणहेतुत्वं तस्य प्रत्यक्षत्वं यस्य तु परम्परया तस्यानुमेयत्वमिति विभागात् ।

(४) अथ बाह्यार्थस्य नित्यानुमेयतावचनमसहमानो वैभाषिकः प्रत्यवतिष्ठते—कथं नीलादिद्रव्यं विज्ञानानामाकारं समर्पयति ? दृष्टम् ? अनुमितमिति वा ? न तावदनुमितम्, आकारसमर्पणात् पूर्वमनुमानानुदयात् । यदि

हो सकता, क्योंकि ज्ञान में स्वतः वैचित्र्य नहीं, बाह्य नील-पीतादि पदार्थ अपने विविध आकारों का समर्पण कर ज्ञान में चित्रता का आधान करते हैं। योगाचार का जो कहना है कि एकरूप विज्ञान ही नील पीतादि विविधाकारों में स्वतः ही परिणत होता है, वह तब तक सम्भव नहीं, जब तक बाह्य विषय न माना जाय । अतः विज्ञान के आकारों में वैविध्य देख कर उस वैविध्य के आधायक बाह्य नील-पीतादि पदार्थों का अनुमान होता है । वे क्षणिक होते हैं । यदि सभी पदार्थ अनुमेय है, तब विषयगत प्रत्यक्षत्व-अनुमेयत्व का विभाग क्योंकर होगा ?'—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो विषय ज्ञान में साक्षात् आकार का समर्पक होता है, उस विषय में प्रत्यक्षत्व और जो परम्परया आकारार्पक होता है, उसमें अनुमेयत्व माना जाता है ।

(४) **बाह्यार्थप्रत्यक्षतावाद**—वैभाषिकाचार्यों का कहना है कि बाह्य नील-पीतादि द्रव्य विज्ञान में अपने कैसे आकारों का समर्पण करता है ? दृष्ट आकारों का ? या अनुमित आकारों का ? द्वितीय पक्ष सम्भव नहीं, क्योंकि आकार-समर्पण से पहले अनुमान प्रवृत्त ही नहीं हो सकता । यदि दृष्ट आकार का समर्पण माना जाय, तब नीलादि पदार्थों

दृष्टम्, तर्हि नीलादिपदार्थानां दृश्यत्वमवश्याश्रयणीयम्, अन्यथाकारसमर्पण-हेतुत्वानुपपत्तेः। असम्बद्धस्य हेतुत्वे सर्वस्यापि सर्वत्र हेतुत्वप्रसङ्गात्। अतः क्षणभङ्गुरः प्रत्यक्षश्चार्थ इति स्थितम्। एते चत्वारोऽपि बुद्धशिष्याः। एष च तेषां सिद्धान्तसंक्षेपश्लोकः—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्ध्येति सौत्रान्तिकः
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥ ५१॥

अत्र क्षणिकत्वपक्ष एवास्मकं निराकर्तुमवशिष्यते इतरेषां स्वयूथ्यैरेव निरस्तत्वात्। तत्र तावत् क्षणिकत्वे प्रत्यक्षम्? अनुमानं वा प्रमाणम्? भवन्मते तदतिक्तप्रमाणाभावात्। तत्र न तावत् प्रत्यक्षम्, तस्य स एवायं घट

में दृष्टत्व या प्रत्यक्षत्व पर्यवसित होता है, अनुमेयत्व नहीं। नीलादि को दृष्ट न मानने पर दृष्टाकार-समर्पकत्व उनमें नहीं बन सकता, क्योंकि विज्ञान से सम्बद्ध होकर ही नीलादि अपने आकारार्पण के हेतु हो सकेंगे, असम्बद्ध को हेतु मानने पर सभी पदार्थ सर्वत्र हेतु हो जायँगे। फलतः क्षणभङ्गुर नीलादि बाह्य पदार्थों को प्रत्यक्ष मानना आवश्यक है। उक्त शून्यवादादि की चारों शाखाएँ बुद्ध की शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा से निकली हैं। उनके सिद्धान्तों का सक्षिप्त रूप-रेखा इस प्रकार है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्य मेने जगत्,
योगाचारमते तु सन्ति मतयः तासां विवर्तोऽखिलः।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्त्वसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रान्तिकः,
प्रत्यक्षं क्षणभङ्गुरं च सकलं वैभाषिको भाषते॥ ५१॥

उनमें पूर्व-पूर्व मत का निराकरण करते हुए उत्तरोत्तर वादी ने अपना मत प्रस्तुत किया है, अतः हमारे लिए केवल वैभाषिक के क्षणिकत्व-पक्ष का ही निराकरण शेष रह जाता है। क्षणिकत्व के विषय में जिज्ञासा होती है कि क्षणिकत्व में प्रत्यक्ष प्रमाण है? अथवा अनुमान? बौद्धमत में दो ही प्रमाण माने गए हैं—

इति प्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानेन पूर्वोत्तरक्षणयोरेकत्वप्रतिपादकत्वात् । न च सदृशापरापरोद्भवादयमेकत्वभ्रम इति वाच्यम्, मृद्दण्डचक्रादीनामभावे घटादेः पुनः पुनरुद्भवासम्भवात् । न च ज्ञानादेवोत्पत्तिरिति वाच्यम्, पूर्वमपि ज्ञानादेवोत्पत्त्युपपत्तेर्मृद्दण्डचक्रादीनां कुत्राप्यनुपयोगप्रसङ्गात् ।

नाप्यनुमानेन क्षणिकत्वं समर्थनीयम्—सर्वे भावाः क्षणिकाः, सत्त्वाद्, विज्ञानवदिति । तस्य दृढतरोत्पन्नप्रत्यक्षप्रत्यभिज्ञानविरोधेन बाधितविषयतया वह्निशैत्यानुमानवदप्रमाणत्वात् । विज्ञानस्यापि द्वित्रक्षणावस्थायित्वाङ्गीकारेण दृष्टान्तासिद्धेश्च ।

"द्विविधं सम्यग् ज्ञानम्—प्रत्यक्षमनुमानं च" (न्या० वि० १।२,३)। अतः तीसरे प्रमाण की शङ्का ही नहीं हो सकती। प्रत्यक्ष प्रमाण के आधार पर क्षणिकत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि 'स एवायं घटः'—इत्यादि प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा के द्वारा पूर्वोत्तर क्षण-वर्ती घटादि की एकता और स्थिरता ही सिद्ध होती है, क्षणिकता नहीं। 'सेयं दीप-ज्वाला के समान उक्त प्रत्यभिज्ञा सादृश्यमूलक एकत्व-भ्रममात्र है'—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रत्येक क्षण में न तो मृद्, दण्ड, चक्रादि-घटित समग्र सामग्री हो सकती है और न दीप-ज्वाला के समान घट की उत्पत्ति। केवल विज्ञान से घटादि की उत्पत्ति मानने पर मृदादि का संग्रह अनावश्यक हो जाता है।

अनुमान प्रमाण के द्वारा क्षणिकत्व की सिद्धि जो की जाती है—'सर्वे भावाः क्षणिकाः, सत्त्वाद्, विज्ञानवत्'। [ज्ञान श्री ने भी कहा है—"यत् सत् तत्क्षणिकं यथा जलधरः, सन्तस्तु भावा इमे" (ज्ञानश्री० पृ० १)]। वह अनुमान भी दृढतर प्रत्यक्ष प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से बाधित है, अतः जैसे वह्निगत शैत्य का अनुमान 'वह्निरुष्णः'—इस प्रत्यक्ष से बाधित अत एव अप्रमाण है, वैसे ही प्रकृत में क्षणिकत्व-साधक अनुमान भी अप्रमाण है। विज्ञानरूप दृष्टान्त भी असिद्ध है, क्योंकि दो तीन क्षण तक ज्ञान को स्थायी माना जाता है। बौद्धों के अनात्मवाद, क्षणिकवाद और

अत्र पुनराभिरेव युक्तिभिः प्रत्यक्षादिप्रमाणानां तत्सिद्धानां पदार्थानां मिथ्यात्वमौपनिषदाः साधयन्ति—प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, स्वप्नप्रपञ्चवदिति। नेह नानास्ति किञ्चन इत्यादिवेदान्तवाक्यं चात्र प्रमाणम्। अतः प्रत्यक्षादिप्रमाणसिद्धस्य प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वाद् एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म इत्यादिवेदान्तवाक्यानां यथाश्रुतेऽर्थे प्रामाण्यमविहतमिति।

अत्र वदामः—तत्र यत् तावदुक्तं दृश्यत्वान्मिथ्यात्वमिति तत्र किमिदं मिथ्यात्वं नाम? किमत्यन्तासत्त्वम्? उत सदसद्विलक्षणत्वम्? बाध्यत्वं वा? नाद्यः, अत्यन्तासतो नरविषाणादेरिव ख्यानानुपपत्तेः। नापि सदसद्विलक्षण-

---

शून्यवाद बौद्धों में भी सर्दव अव्यावहारिक ही माने गये हैं. अत एव श्री जयन्त भट्ट न (न्या० मं० पृ० ४६७ पर) उपहास किया है—

नास्त्यात्मा फलभोगमागमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनम्,
संस्काराः क्षणिका युगस्थितिभृतश्चैते विहाराः कृताः।
सर्वं शून्यमिदं वसूनि गुरवे देहीति चादिश्यते,
बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमिः पराः॥

अद्वैत-मत—प्रायः बौद्धोक्त तर्क-प्रणाली को अपना कर ही अद्वैत वेदान्त के आचार्य प्रत्यक्षादि प्रमाण-सिद्ध पदार्थों में मिथ्यात्व सिद्ध किया करते हैं—'प्रपञ्चो मिथ्या, दृश्यत्वात्, स्वप्नप्रपञ्चवत्'। "नेह नानास्ति किंचन" (बृह० उ० ४।४।१९) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों को भी मिथ्यात्व का साधक मानते है, अतः प्रत्यक्षादि-सिद्ध प्रपञ्च के मिथ्या हो जाने पर "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" (छां० ६।२।) इत्यादि वेदान्त-वाक्यों का अपने अद्वैतरूप यथाश्रुत अर्थ में प्रामाण्य अबाधित ही रहता है।

अद्वैत मत का निराकरण—अद्वैत वेदान्तियों-द्वारा प्रपञ्च में सिषाधयिषित मिथ्यात्व क्या है? क्या (१) अत्यन्तासत्त्व है? अथवा सदसद्विलक्षणत्व? या बाध्यत्व? प्रथम (अत्यन्तासत्त्व) पक्ष उचित नहीं, क्योंकि नर-शृङ्गादिरूप अत्यन्त असत् पदार्थों की प्रतीति ही नहीं होती किन्तु घट-पटादि पदार्थ प्रतीयमान हैं, अतः इन्हें अत्यन्तासत्

त्वम्, तस्यान्यत्राप्रसिद्धत्वेन पक्षस्याप्रसिद्धविशेषणत्वापत्तेः ।

ननु सर्ववादिसिद्धमेव स्वप्नादिप्रपञ्चस्य सदसद्विलक्षणत्वम् । तथाहि—असतो नरविषाणादेरिव ख्यानानुपपत्तेः, सतश्चिदात्मन इव बाधानुपपत्तेः, सत्त्वासत्त्वयोश्च एकत्र समावेशानुपपत्तेश्च सिद्धं स्वप्नादिप्रपञ्चस्य सदसद्विलक्षणत्वम् । ततश्च नाप्रसिद्धविशेषणत्वम् ।

मैवम्, सद्विलक्षणस्य नरविषाणादेरिव ख्यानानुपपत्तेः, असद्विलक्षणस्य चिदात्मन इव बाधानुपपत्तेः, सदसद्विलक्षणत्वकल्पनेऽपि स्वप्नादिप्रपञ्चस्य ख्यातिबाधयोरनुपपत्तेः । तस्मात् ख्यातिबाधान्यथानुपपत्त्या सदसद्विलक्षणत्वमिति रिक्तं वचः । अतः सदसद्विलक्षणत्वमस्माकमसिद्धमेवेति युक्तमप्रसिद्धवि-

---

कदापि नहीं माना जा सकता । सदसद्विलक्षणत्वरूप मिथ्यात्व को साध्य बनाने पर पक्ष में अप्रसिद्धविशेषणत्व दोष आ जाता है, क्योंकि सदसद्विलक्षणत्वरूप साध्य या पक्ष का विशेषण प्रपञ्च में कहीं प्रसिद्ध ही नहीं ।

शङ्का—स्वाप्न प्रपञ्च में सदसद्विलक्षणत्व प्रसिद्ध है, क्योंकि नरविषाणादि असत् पदार्थ की प्रतीति नहीं होती और आत्मा के समान सत् पदार्थ का बाध नहीं होता, स्वाप्न प्रपञ्च का भान भी होता है और बाध भी, अतः वह निश्चितरूप से सदसद्विलक्षण है । प्रपञ्च में सत् और असत्—उभयरूपता का समुच्चय भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्त्व और असत्त्व अत्यन्त विरोधी धर्म है, उनका एकत्र समावेश कभी नहीं होगा ।

समाधान—स्वाप्न प्रपञ्च यदि सद्विलक्षण है, तब नर-शृङ्गादि के समान उसकी प्रतीति न हो सकेगी और यदि असद्विलक्षण है, तब चिदात्मा के समान उसका कभी बाध न हो सकेगा । इस प्रकार स्वाप्न प्रपञ्च को सदसद्विलक्षण मानने पर भी ख्याति और बाध की उसमें अनुपपत्ति ही बनी रहती है, अतः यह जो कहा गया है कि 'ख्याति और बाध की अन्यथानुपपत्ति के कारण ही स्वाप्न प्रपञ्च को सत् और असत्—उभय से विलक्षण माना जाता है', वह कहना नितान्त असंगत है । फलतः सदसद्विलक्षणत्व की अप्रसिद्धि के कारण उक्त प्रपञ्च-मिथ्यात्व-

शेषणत्वम् ।

नापि बाध्यत्वं मिथ्यापदार्थः जाग्रत्प्रपञ्चस्य बाधकभूतप्रमाणान्तरादर्शनात् । न चेदमेवानुमानं बाधकमिति वाच्यम्, अस्यानुमानस्य प्रपञ्चप्रतिभासबाध्यत्वेन वह्निशैत्यानुमानवत् स्वोत्थानानुपपत्तेः ।

ननु प्रपञ्चप्रतिभासस्य मिथ्यात्वाद्, युक्तमनुमानोत्थानमिति चेत्, मैवम्, प्रपञ्चप्रतिभासस्य मिथ्यात्वे सत्यनुमानोत्थानम्, अनुमानोत्थाने सति मिथ्यात्वमिति परस्पराश्रयसङ्गात् । एवमद्वैतश्रुतीनामप्युत्थाने परस्पराश्रयोऽनुसन्धातव्यः । तस्मादद्वैतश्रुतिरपि न यथाश्रुतेऽर्थे प्रमाणमित्यबाधितप्रत्यक्षादिप्रमाण-

---

साधक अनुमान में अप्रसिद्ध-विशेषणता दोष यथावत् विद्यमान है ।

कथित तृतीय विकल्प के अनुसार बाध्यत्व को भी मिथ्यात्व नहीं कह सकते, क्योंकि जाग्रत्प्रपञ्च का कोई बाधक प्रमाण उपलब्ध नहीं । उक्त मिथ्यात्व-साधक अनुमान ही बाधक प्रमाण है—ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि उक्त अनुमान जाग्रत्प्रपञ्चविषयक प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा बाधित होने के कारण वह्निगत शैत्यानुमान के समान उत्थित ही नहीं हो सकता । यदि कहा जाय कि प्रपञ्च का प्रतिभास मिथ्या है, अतः उक्त अनुमान का बाध न हो सकने के कारण उत्थान सम्भव है । तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि प्रपञ्च-प्रतिभास के मिथ्या होने पर उक्त प्रपञ्च-मिथ्यात्व-साधक अनुमान का उत्थान और उक्त अनुमान का उत्थान हो जाने पर प्रपञ्च-प्रतिभास में मिथ्यात्व—ऐसा अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होता है । इसी प्रकार अद्वैत श्रुतियों के उत्थान में भी अन्योन्याश्रय दोष दिखाया जा सकता है, अतः अद्वैत-श्रुतियों का भी अपने यथाश्रुतार्थ में प्रामाण्य सम्भव नहीं, उनसे प्रपञ्च-मिथ्यात्व सिद्ध नहीं हो उकता । श्री चिदानन्द पण्डित ने (नीति० पृ० ११५ पर) स्पष्ट कहा है—

न प्रपञ्चो मिथ्येति जाड्यदृश्यत्वहेतुतः ।
स्वप्नप्रपञ्चवत् साध्यं मिथ्यात्वस्यानिरूपणाद् ॥

फलतः अबाधित प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा भाट्टाभिमत (१) द्रव्य,

सिद्धानां द्रव्यजातिगुणकर्मणामभावस्य च सत्यत्वं सिद्धम् ॥

उपसंहारः—

यदत्र क्लिष्टार्थं महति बत कौमारिलमते
विरुद्धार्थं वा तत् सकलमपि शोध्यं सुमतिभिः ।
हरेश्च श्रुत्यन्तप्रथितपरमानन्दवपुषः
समस्तोऽत्र स्तोत्रीभवतु मम सञ्जल्पनविधिः ॥ ५२ ॥

भो भो दुष्कर्मवर्गाः परिहरत मदीयामिमामङ्गवल्लीं
ब्रूमः सौहार्दयोगात् परिचयजनितान्नान्यथा यात शङ्काम् ।
हन्ता युष्मत्कुलानां दलितकुवलयश्यामलैः कोमलैस्तै-
र्गात्रैर्नेत्रोत्सवं नो वितरति भगवान् भार्गवीभाग्यभूमा ॥५३॥

यः ख्यातः पुरुषोत्तमस्त्रिजगति प्रज्ञाकवित्वादिभिः
पुत्र्यास्तस्य सुतस्तदीयतनयात् कौमारतन्त्राम्बुधेः ।

---

(२) जाति, (३) गुण, (४) कर्म और (५) अभाव—इन पाँच पदार्थों की सत्यता सिद्ध हो जाती है ।

उपसंहार—

श्री कुमारिल भट्ट के इस महान् और गहन सिद्धान्त में जो भी क्लिष्ट एवं विरुद्ध अर्थ प्रतीत हो, मनीषिगण उसे सरल एवं संशुद्ध कर लें। मैं (श्री नारायण पण्डित) ने जो भी यहाँ कहा है, वह वेदान्त-प्रथित परमानन्दस्वरूप भगवान् विष्णु का संस्तवन मात्र है ॥ ५२ ॥

हे दुष्कर्म-वर्ग ! तुम हमारे (नारायण पण्डित के) इस कलेवर को तुरन्त छोड़ दो। आपसे विशेष परिचय हो जाने के कारण सुहृद्भाव से कह रहा हूँ, अन्यथा-शङ्का नहीं कर लेनी। तुम्हारे कुल (पाप-राशि) के निहन्ता भगवान् अपने नीलकमल के समान कोमल श्यामल कलेवर की झाँकी दिखाकर मेरे (नारायण पण्डित के) नेत्रों को कृतकृत्य कर दें—यह मेरी भार्गवी भाग्य-विधाता भगवान् से अन्तिम प्रार्थना है ॥५३॥

जो श्री पुरुषोत्तम पण्डित अपनी प्रज्ञा और कविता के लिए तीनों

सुब्रह्मण्य इति त्रिलोकविदितादापीतशास्त्रामृतः
सोऽहं पूरितवानिदं प्रकरणं नाम्ना च नारायणः ॥ ५४ ॥
कृष्णो विबुधाधिपतिर्निष्णातो वितरणेषु विद्यायाः ।
मुष्णातु हृदयतिमिरं पुष्णातु च मङ्गलानि सकलानि ॥ ५५ ॥
सुब्रह्मण्यादधीताः क्षितिविबुधपतेः काशिकातर्कमार्गा
रामाचार्याच्च पश्चात् सकलमधिगतं येन कौमारतन्त्रम् ।
कृष्णात् काव्यार्थमीमांसकपरिवृढतः काव्यमार्गावगन्ता
सोऽहं नारायणाख्यो व्यलिखमखिललोकापहासार्थमेतत् ॥५६॥
कुमारिलमताम्भोधौ गभीरेऽतिगरीयसि ।
युक्तिरत्नं दिदृक्षूणामिदं सिद्धाञ्जनं परम् ॥ ५८ ॥

लोकों में प्रख्यात थे, उनकी पुत्री का मैं (नारायण पण्डित) पुत्र हूँ । श्री पुरुषोत्तम पण्डित के पुत्र जो कि भाट्ट सिद्धान्तों के महान् अम्बुधि माने जाते थे और श्री 'सुब्रह्मण्य' नाम से त्रिलोकी में प्रसिद्ध थे, उनसे सकल शास्त्रों का अध्ययन कर मैं (श्री नारायण पण्डित) ने इस अधूरे मानमेयोदय ग्रन्थ को पूरा किया ॥ ५४ ॥

देवाधिदेव भगवान् श्री कृष्ण विद्या के वितरण में अत्यन्त निष्णात हैं, उनसे मेरी प्रार्थना है कि मेरे हृदय का अन्धकार हर कर सकल मङ्गलों का पोषण करें ॥ ५५ ॥

विद्वद्धौरेय श्री सुब्रह्मण्य पण्डित से जिसने सुचरित मिश्र की काशिका (श्लोकवार्तिक व्याख्या) एवं तर्क शास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात् श्री रामाचार्य से सम्पूर्ण भाट्टतन्त्र अधिगत किया और काव्य-मीमांसादि के धुरन्धर विद्वान् कृष्ण पण्डित से काव्यादि का स्वाध्याय सम्पन्न किया, वह मैं नारायणाख्य पण्डित अपना लेख विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ कि विद्वान् लोग मेरा उपहास उड़ाएँ ॥ ५६ ॥

श्री कुमारिल भट्ट के मतरूपी अत्यन्त गम्भीर महासागर में युक्तिरूपी रत्नों को देख पाने के लिए विद्वानों को मैंने यह ग्रन्थ सिद्धाञ्जन के रूप में प्रदान किया है ॥ ५८ ॥

वेलालङ्घिपयःपयोधिविसरत्कल्लोलतुल्योदयै-
रालापाविषयैर्यशोभिरखिलं लोकं परिष्कुर्वते ।
लीलानिर्जितशात्रवाय च वयं तुभ्यं किमाशास्महे
शैलाब्धीश्वर मानवेदनृपते जीयाः सहस्रं समाः ॥ ५९ ॥
युष्मत्कीर्तिपयो नितान्तमहता युष्मत्प्रतापाग्निना
तप्तादण्डकटाहतोऽपि नितरामुत्सिच्यमानं मुहुः ।
नैवायाति विशांपते विरलतां नैवोष्णभावं कदा-
प्यादत्ते नरवर्य किञ्च नितरां माधुर्यमालम्बते ॥ ६० ॥
त्रिभुवनकमल त्वदीयकीर्तिः प्रचुरमरन्दविलासमादधाति ।
बुधसमितिरसौ तु चञ्चरीकप्रकरदशामपि तत्र मानवेद ॥ ६१ ॥

इति प्रमेयखण्डः समाप्तः

समाप्तोऽयं मानमेयोदयः



हे आशैल सागर विशाल भूभाग के अधीश्वर! मानवेद भूपते! आप क्षीर-सागर की बेलोल्लङ्घिनी उत्ताल धवल तरङ्गावलि के कल्लोलोल्लास से समुत्पन्न श्वेत फेन के समान स्वच्छ अवर्णनीय यशोराशि के द्वारा अखिल लोकों की शोभा बढ़ा रहे हैं, आपको और क्या आशीर्वाद दूँ, आप हजारों वर्ष तक इसी प्रकार राज्य करते रहें ॥ ५६ ॥ आपका कीर्तिरूपी दुग्धोदधि आपकी प्रतापाग्नि से आदण्ड तपे हुए विशाल कटाह (कढ़ाहे) के द्वारा बराबर उलचे जाने पर भी न तो कभी कम होता है और न कभी उष्ण, प्रत्युत सदैव मधुर और शीतल ही रहता हैं ॥६०॥

हे मानवेद नृपते! आप त्रिभुवन-कमल हैं, आपकी पवित्र कीर्ति मधुर मकरन्द की धारा और यह विद्वत्समिति मधुलिप्सु मधुप-मण्डली। सोम-पान का यह पावन अभिनय बना रहे और सदा रहे ॥ ६१ ॥

नारायणद्वयीदुग्धं मानमेयोदयाह्वयम् ।
भाट्टवर्णितमार्गेण व्यवणवं तदर्पणम् ॥



परिशिष्टानि

प्रथमं परिशिष्टम्

गुरुसम्मतपदार्थाः

१—पदार्थाः

द्रव्यजातिगुणाः कर्म संख्यासादृश्यशक्तयः ।
समवाय इतीमेऽष्टौ पदार्था गुरुसम्मताः ॥ १ ॥

(१) द्रव्यम्—

तेषां लक्षणमुच्यते—तत्र सामान्यतो दृष्टमनुमानं लक्षणवचनस्यार्थः । पृथिव्यादिमनोऽन्तम्, गुणादिभ्यो भिद्यते, तेभ्यो व्यावृत्तधर्मकत्वाद्, यद् यतो व्यावृत्तधर्मकम्, तत् ततो भिद्यते, यथा शीताद् व्यावृत्तधर्मकमुष्णम् ।

भूजलाग्निमरुद्व्योमकालदिक्चित्तचेतनाः ।
नव द्रव्याणि लक्ष्यन्ते स्वात्मजारम्भकत्वतः ॥ २ ॥

तमस्तु नास्त्येव, आलोकाभावरूपत्वात् ।

(२) गुणः—

रूपरसगन्धस्पर्शशब्दपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्व-द्रवत्वस्नेहसंस्कारबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्माः त्रयोविंशतिरेव गुणाः ।

(३) कर्म—

कर्म एकमेव, उपाधितोऽनेकत्वम् ।

(४) सामान्यम्—

सामान्यं द्विविधं परमपरं च, वृक्षत्वशिंशपात्वभेदात् ।

(५) शक्तिः—

शक्तिरनेका, कार्यानुमेयत्वात् ।

(६) संख्या—

गणितव्यवहारहेतुः एकत्वादिपरार्द्धपर्यन्ता संख्या ।

(७) सादृश्यम्—

सादृश्यज्ञानविषयत्वं सादृश्यं बहुविधम्, तद्व्यञ्जकसाधर्म्यभिन्नत्वात् ।

(८) समवायः—

समवायस्त्वनेक एवेति ।

२—द्रव्याणि

द्रव्यलक्षणम्—संयोगाश्रयत्वम्, विभागाश्रयत्वं वा, परिमाणाश्रयत्वं वा ।

(१) पृथिवी—

भूलक्षणम्—पाकजस्पर्शाश्रयत्वम् , पाकजरूपाश्रयत्वं वा, पाकजरसाश्रयत्वं वा, गन्धाश्रयत्वं वा, असाधारणधर्मत्वात् तेषाम् ।

रूपरसगन्धस्पर्शपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वनैमित्तिकद्रवत्वसंस्काराः त्रयोदश तस्या गुणाः । पाकजाश्च रूपरसाः पृथिव्यामेव, तत्सम्पर्काज्जलादौ तेषामुपलम्भः, तदपगमे तदनुपलम्भात् । गन्धस्तु तस्या एव, स द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्च । पाकजोऽनुष्णाशीतस्पर्शः तस्या एव । रूपरसावनियतौ ।

सा च द्विविधा—नित्या अनित्या च । परमाणुलक्षणा कार्यलक्षणा च । तत्र कार्यं त्रिविधम्—शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम् । तत्र मनस्त्वगिन्द्रियायतनं शरीरं भोगायतनं वा । तच्च द्विविधम्—योनिजमयोनिजं चेति । शुक्रशोणितसन्निपातो योनिः, तदुत्पन्नं योनिजम् । तदपि द्विविधम्—जरायुजमण्डजं च । उद्भिज्जं तु नास्त्येव । अयोनिजं तु क्षुद्रजन्तूनां शरीरं यातनाशरीरम् । इन्द्रियं तु गन्धव्यञ्जकं घ्राणम् । यच्च शरीरसंयुक्तमतीन्द्रियं साक्षात्प्रतीतिकारणम्, तदिन्द्रियमुच्यते । प्रतीयमानतया भोगसाधनं विषयः ।

स च द्व्यणुकादिक्रमेण आरब्धः त्रिविधो मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः। क्रमे कारणमुच्यते—(१) 'त्रसरेणवो महान्तः, चाक्षुषद्रव्यत्वाद्, घटवत्'। (२) 'ते च कार्याः, महत्त्वाद्, घटवत्'। (३) 'ते च सावयवाः, कार्यत्वाद्, घटवत्'। (४) 'त्रसरेण्ववयवा न महान्तः, आरम्भकद्रव्यत्वे सत्यप्रत्यक्षत्वात्, परमाणुवत्'। (५) त्रसरेणवः कार्यद्रव्येणारब्धा, महत्त्वे सति कार्यत्वाद्, घटवत्'। (६) त्रसरेण्वारम्भकं कार्यद्रव्यं सावयवम् , कार्यद्रव्यत्वाद्, घटवत्। तदवयवाः परमाणव एव। (७) 'लोष्टादिष्ववयवेषु अणुत्वातिशयोऽवधिमान्, परिमाणातिशयत्वात्, महत्त्वातिशयवत्'। (८) स च नित्यः, निरवयवत्वाद् आकाशवत्। (९) स च निरवयवः, अल्पपरिमाणतारतम्यस्यावधित्वाद्, यत् सावयवं तदल्पपरिमाणतारतम्यं न भवति, यथा तन्त्वादयः' यद्वा (१०) 'स च निरवयवः, परिमाणतारतम्यस्य अवधित्वात्, महत्त्वपरिमाणावधिभूतवत्'। (११) 'परमाणोः संयोगः क्रियाजः, संयोगाजन्ये सति संयोगत्वात्, तन्तुतुरीसंयोगवत्'। (१२) परमाणोराद्यं कर्म पुरुषविशेषगुणकारितम्, नोदनाभिघातसंस्काराजन्यत्वे सति कर्मत्वात्, पाणिकर्मवत्'। (१३) परमाणूनामाद्यं कर्म सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नसंस्कारेभ्यो व्यतिरिक्तपुरुषविशेषगुणकारितम्, प्रयत्नादीनामभावे सति पुरुषगुणकारितत्वाद्, यदभावे यदुत्पद्यते, तत्ततो व्यतिरिक्तकारणम्, यथा तन्त्वाद्यभावे घटः तद्व्यतिरिक्तजन्यः'। (१४) 'तच्चादृष्टं स्वाश्रयसंयोगमपेक्ष्य आश्रयान्तरे कर्म आरभते, एकद्रव्यत्वे सति क्रियाहेतुत्वाद्, गुरुत्ववत्'। परमाणूनामाद्यं कर्म अदृष्टवदात्मसंयोगादेव, ततश्च परस्परसंयोगः, स द्वितीयसंयोगस्याश्रयः, संयुक्ताभ्यां द्वाभ्यां द्व्यणुकोत्पत्तिः, द्व्यणुकत्रयेण त्र्यणुकोत्पत्तिः, न द्वाभ्याम्, महत्त्वानुपपत्तेः। त्रित्वनियमो लाघवात्। द्व्यणुकावयवस्य कार्यत्वे परिमाणतारतम्यानुपपत्तिः, अतस्तदवयवौ निरवयवाविति द्व्यणुकादिक्रमेण घटाद्युत्पत्तिः।

(२) जलम्—

स्नेहाश्रयं जलम्। रूपरसस्पर्शपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वा-

परत्वगुरुत्वद्रवत्वस्नेहसंस्कारा: त्रयोदश तस्य गुणा: । तस्य शौक्ल्यमेव रूपम्, माधुर्यमेव रसः, शैत्यमेव स्पर्शः, स्वाभाविकमेव द्रवत्वम्, अपाकजाश्च ते । तद् द्विविधम्—परमाणुकार्यभेदात् । कार्यं द्विविधम्—इन्द्रियं विषयं च । इन्द्रियं रसनम् । विषयश्चाब्धि हिमकरकादिः । करकायाः काठिन्यं दृढसंयोगात् । गन्धादेरुपलम्भोऽन्यसम्पर्कात् । गुरुत्वं जलभूम्योरेव, स्नेहोऽम्भस्येवेति ।

(३) तेजः—

भास्वररूपवत् तेजः, पररूपप्रकाशकं भास्वरमुच्यते । रूपस्पर्शपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारा: दश तेजोगुणा: । तेजोऽपि अणुकार्यभेदाद् द्विविधम् । इन्द्रियरूपं कार्यं चक्षुः । विषयश्चतुर्विधः—भौमम्, दिव्यम्, औदर्यम्, आकारजं च । भौमं काष्ठेन्धनप्रभवम्, ऊर्ध्वज्वलनस्वभावम् । दिव्यम् अविन्धनं चन्द्रसूर्यादि । अशितपीताहारपरिणत्यर्थम् औदर्यम् । आकरजं सुवर्णादि । तस्य शौक्ल्यं भास्वरं च रूपम् । पाकनिमित्तं द्रवत्वम् । स्पर्शश्चौष्ण्यमेव, चन्द्रचामीकरादौ त्वन्यसंसर्गादनुपलम्भः । गुरुत्वादेरन्यसंसर्गादुपलम्भ इति ।

(४) वायुः—

अपाकजत्वे सति अनुष्णाशीतस्पर्शवान् वायुः । तस्य स्पर्शपरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारा अष्टौ गुणा: । तस्य युगपच्छीतोष्णादिविरुद्धधर्मविशिष्टस्य उपलम्भान्नानात्वं प्रत्यक्षं सम्मूर्च्छनादनुमेयमपि, सम्मूर्च्छनं पुनः समानजवयोः वाय्वोः विरुद्धदिक्क्रिययोस्सन्निपातः, सोऽपि वाय्वोरूर्ध्वगमनादनुमीयते, तदपि तृणदीनामूर्ध्वगत्याऽनुमीयते, प्रयोगस्तु—'प्रतिहन्यमानाद् वायोः प्रतिहन्ता वायुरन्यः, तत्प्रतिहन्तृत्वाद, देवदताद् यज्ञदत्तवत्' । 'प्रतिहन्यते चायं वायुः, अनूर्ध्वगमनशीलत्वे प्रयत्नाद्यसम्भवे सति ऊर्ध्वगमनत्वात् परस्पराभिहतनदीपयःपूरवत्' । ऊर्ध्वगतिमानयम्, तृणादीनामूर्ध्वगत्यसमवायिकारणसंयोगाश्रयत्वात्, तथाविधज्वलनवत्' । 'तृणाद्यूर्ध्वगमनं च स्पर्शवद्वेगवद्द्रव्य-

संयोगजम्, अनूर्ध्वगमनस्य प्रयत्नाद्यसम्भवे सत्यूर्ध्वगमनत्वात्, ज्वलन-प्रवर्तिततूलाद्यूर्ध्वगमनवत्।

वायुरपि द्विविधः—अणुकार्यभेदात्। काय तु त्रिविधम्—इन्द्रियम्, विषयः, प्राण इति। स्पर्शोपलम्भकं त्वग् इन्द्रियम्। केशनखयोः तदभावादशरीरता। विषयस्तु शब्दकम्पनहेतुः तिर्यग्गमनस्वभावो मेघादि-प्रेरणसमर्थः। प्राणोऽन्तःशरीरे रसमलधातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः। स पञ्चधा कार्यभेदात् पञ्च प्राणादिसंज्ञा लभते। मुखनासिकाभ्यां निष्क्रम-णप्रवेशनात् प्राण इत्यादि।

(५) आकाशः—

नभः शब्दगुणम्। 'शब्दो गुणः, स्पर्शान्यत्वे सति बाह्यैकेन्द्रियग्रा-ह्यत्वाद्, रूपवत्'। परिशेषान्नभ एव कारणम्। तस्य परिमाणपृथक्त्वसं-योगविभागशब्दाः पञ्च गुणाः। 'आकाशो न प्रत्यक्षः, नीरूपत्वात्, मनोवत्।

(६) कालः—

चिरादिविशिष्टप्रत्ययलिङ्गः कालः।

(७) दिक्—

इतः प्राग्—इत्यादिविशिष्टप्रत्ययलिङ्गा दिक्।

परत्वमपरत्वं च कार्यमागन्तुहेतुजम्।
विना दिक्कालयोर्योगमन्यथा नोपपद्यते ॥ ३ ॥

'कालो न प्रत्यक्षः, नीरूपत्वात्, मनोवत्'। अनुमानं तु अस्य सत्त्वे प्रमाणम्—(१) स्थविरादौ परत्वम्, तपनविप्रकर्षबुद्धिजन्यम्, तदनु-विधायित्वात्, कुविन्दपटवत्'। (२) तपनपरिस्पन्दाः स्थविरशरीर-सम्बद्धाः, तच्छेदकत्वात्, पटावच्छेदकमहारजनरागवत्'। (३) तेषां तत्सम्बन्धः, तदाश्रयसंयुक्तद्रव्यद्वारकः, प्रकारान्तरासम्भवे सति सम्बन्ध-त्वात्, पटे महारजतरागसम्बन्धवत्'। अन्यथा परत्वादिविशिष्टप्रत्ययानुप-पत्तेः। तस्मात् तपनपरिस्पन्दानां स्थविरादिसम्बन्धद्वारभूतं द्रव्यं कालः।

तपनसंयोगानां मूर्त्तसम्बन्धे द्वारभूतं द्रव्यं दिक्। स्थविरादौ

परत्वादेः तपनादिक्रियाया असमवायिकारणत्वात्। अन्यत्र संयोगस्य असवायिकारणत्वात् तेन तत्सिद्ध्यर्थं दिक्कालावाश्रयणीयौ। 'तौ च प्रत्यक्षौ विशेषगुणरहितनित्यद्रव्यत्वात्, मनोवत्'। तयोः परिमाणपृथक्त्व-संयोगविभागाः चत्वारो गुणा इति।

(८) आत्मा—

बुद्ध्याद्याश्रयत्वम्, भोक्तृत्वम्, मितौ कर्तृत्वं वा आत्मनो लक्षणम्। तस्य परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्माधर्म-संस्काराः त्रयोदश गुणाः। आकाशादिचतुर्णां परममहत्त्वं परिमाणम्। अतः सर्वगतत्वाद् अमूर्तत्वम्, निरवयवत्वान्नित्यत्वं चास्त्येव सामान्य-रहितत्वं च। आत्मव्यक्तयस्त्वनन्ताः, अन्येषामेकत्वमेवेति।

(९) मनः—

द्रव्यानारम्भकत्वे सत्यणुद्रव्यं भवेन्मनः। अथवा
सुखादेरापरोक्ष्यस्य साधनं मन इन्द्रियम्॥ ४॥
अयौगपद्यं तल्लिङ्गं ज्ञानानामक्षजन्मनाम्।

'विवादाध्यासिता बुद्ध्यादयः, संयोगासमवायिकारणकाः नित्य द्रव्यगतानित्यविशेषगुणत्वात्, पार्थिवपरमाणुगतलौहित्यवत्'। गुणि-नित्यत्वपक्षे बुद्ध्यादयो द्रव्यान्तरसंयोगाधीनसमवायाः नित्यद्रव्यगता-नित्यसमवायविशेषणगुणत्वात् परमाणुलौहित्यवत्। परिशेषात्तद् द्रव्यं मनः। मनसोऽणुत्वमेव परिमाणं परिशेषादसर्वगतत्वान्मूर्त्तत्वं च भवेत् तस्य। परिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्ववेगाश्चेति सप्त मनसो गुणाः। आश्रयानन्तत्वाद् अनन्तत्वम्। एकस्मिन्नेकमेव आत्मवत्। तत्तदवयवेषु सञ्चरणात् तत्तदवयववेदनादिव्यवहारः। आत्मनस्तु प्रत्यक्ष-त्वमेव सम्मतम्, अन्येषामनुमेयत्वमेव मनस इति।

अत्र पृथिव्यादिवायुपर्यन्तानां प्रत्यक्षमेव प्रमाणम्। द्रव्यलक्षणं स्वात्मनि कार्यारम्भकत्वमिति वा। सांसिद्धिकद्रवत्वमपाकजरसाश्रयत्वं वा जलस्य लक्षणम्। स्पर्शान्तराभिव्यञ्जकस्पर्शवान् वायुरिति।



३—गुणाः

निरवयवो द्रव्यैकसमवेतः प्रातिस्विकरूपेण नित्यद्रव्यवृत्तिः संयोगविभागयोरनपेक्षतया अहेतुर्गुण इति वा।

(१) रूपम्—

बाह्येन्द्रियाणां मध्ये चक्षुर्मात्रं यद्ग्राहकम्, तद् रूपम्। यच्च रूपादन्यचाक्षुषं द्रव्यं गुणादिर्वा, तत् सर्वं द्विबाह्येन्द्रियग्राह्यम्। नित्यानित्यद्रव्येष्वेकमेव रूपं नित्यं च। समवायमपेक्ष्य कार्यत्वव्यवहारः।

(२) रसः—

रसनग्राह्यो रसः। स च द्विविधः—पाकजसमवायोऽपाकजसमवायश्च। तदपि रूपवन्नेयम्। रूपरसादेरेकत्वं शौक्ल्यमाधुर्यादेरनेकत्वेऽपि शब्दैकत्ववन्नेयम्।

(३) गन्धः—

घ्राणग्राह्यो गन्धः। स द्विविधः—सुरभिरसुरभिश्च। तस्यापि रूपवत्सर्वमुन्नेयम्।

(४) स्पर्शः—

बाह्येन्द्रियाणां मध्ये त्वङ्मात्रग्राह्यो गुणः स्पर्शः। स च चतुर्विधः—(१) पाकजानुष्णाशीतस्पर्शः, (२) शीतस्पर्शः, (३) उष्णस्पर्शः, (४) अनुष्णाशीतस्पर्श इति। रूपरसस्पर्शसमवायानां यथासम्भवं जलादिकार्यद्रव्यत्रयसमानकारणगुणसमवायपूर्वकत्वमेव, तदनुविधायित्वाद्, अन्यथातिप्रसङ्गात्। आश्रयनाशकारणादेव नाशः। जलादिषु परमाणुषु नित्यत्वमेव, संस्कारकत्वात्। पार्थिवपरमाणुषु तु अग्निसंयोगादेव उत्पत्तिविनाशौ। कार्यद्रव्ये तु समानकारणगुणसमवायाद् अग्निसंयोगाद् वा उत्पत्तिः। आश्रयनाशकारणाद् अग्निसंयोगाद् वा नाशः। द्रव्योत्पत्तिविनाशसमकालीनौ च रूपादिसमवायोत्पत्तिविनाशौ कारणगुणसमवायाद् आश्रयनाशकारणजन्यौ उन्नेयौ। तौ च समवायभावाभावाभ्यामाश्रयोत्पत्तिनाशाभ्यां विनैवानुमितौ पाकजावुन्नेयौ, अतः पाकेन रूपादिरेवोत्पद्यते, न घटोत्पत्तिः, पूर्वघटप्रत्यभिज्ञानात्।

(५) शब्दः—

श्रोत्रग्राह्योऽम्बरगुणो नित्यो व्याप्यवृत्तिर्नित्यसमवायः । स द्विविधः—वर्णलक्षणोऽवर्णलक्षणश्च । अकारादिर्वर्णलक्षणः, शङ्खादिनिमित्तः अवर्णलक्षण इति ।

(६) परिमाणम्—

मानव्यवहारहेतुर्गुणः परिमाणम् । तच्चतुर्विधम्—अणुत्वम्, महत्त्वम्, ह्रस्वत्वम्, दीर्घत्वं चेति । परस्परविरोधाद् एकत्र अणुत्वमहत्त्वयोरनिवेशः, तद्वद् ह्रस्वत्वदीर्घत्वयोरन्यत्र । परमाणुद्व्यणुकयोरणुत्वमेव-परिमाणम्, द्व्यणुके ह्रस्वत्वं च । त्र्यणुकेषु महत्त्वदीर्घत्वे । खादिचतुष्टये परमहत्त्वदीर्घत्वे । मनसस्त्वणुत्वमेव । अणुत्वह्रस्वत्वदीर्घत्वपरममहत्त्वानि नित्यानि, एकत्वं चास्ति तेषाम् । परमाणुषु खादिषु च समवायो नित्योऽनेकश्च । द्व्यणुकादिषु तु समवायोऽनित्यः । त्र्यणुकादिषु तु महत्त्वस्य नित्यत्वमनेकत्वं च । द्व्यणुकत्र्यणुकयोः समवायारम्भकमवयवगतद्वित्वबहुत्वमेव । क्वचिन्महत्त्वमपि, क्वचित् प्रचयमपि, क्वचित् सहैवेति यथासम्भवं वेदितव्यम् । समवायस्य च नाशः आश्रयनाशाद् वा समवायान्तराद्वेति ।

(७) पृथक्त्वम्—

अपोद्धारव्यवहारहेतुर्गुणः पृथक्त्वम् । भेदादिशब्दसमानार्थत्वात् कार्यद्रव्येषु स्वरूपभेद एव पृथक्त्वम् । गुणादिष्विव तद्व्यवहारबुद्धिः, नित्येषु तु धर्म एव, अन्यथा व्यावृत्त्यसिद्धेः, स एव विशेष इत्युच्यते । तेन नित्यानिनित्यसमवायानि अनन्ताश्चेति । एकत्वे भेदासिद्धेः द्विपृथक्त्वादि नास्त्येव, कार्यद्रव्येषु भेदातिरिक्तपृथक्त्वानभ्युपगमादिति ।

(८) संयोगः—

युतसिद्धयोः प्राप्तिः संयोगः । सम्बन्धिनोः परस्परविभागाश्रयत्वयोग्यता च युतसिद्धिरिति सामान्यलक्षणम् । नित्येषु तु सम्बन्धिनोर्द्वयोरन्यतरस्यवा पृथग्गतिमत्त्वं विशेषलक्षणम् । अनित्येषु तु सम्बन्धिनोः परस्परपरिहारेण पृथगाश्रयाश्रयित्वमिति । 'घटपटौ संयुक्तौ'—इत्यादि-

प्रत्ययश्च संयोगसद्भावे प्रमाणम्। स चैको नित्योऽनित्यसमवायश्च। स च समवाय आश्राश्रयिभेयात् क्रियाभेदाच्च भिद्यते। स च रूपादिवदेकद्रव्यनिष्ठः, नानेकद्रव्यनिष्ठः, प्रत्ययस्य संयुक्तविषयत्वात्। स च त्रिविधः— अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, संयोगजश्चेति, यथा—स्थाणुश्येनयोः, यथा—मल्लयोः, यथा-तुरीपटयोरिति। संयोगस्य च द्रव्यारम्भकत्वे चरमभाविद्रव्यापेक्षत्वम्, गुणकर्मणोः तत्सापेक्षत्वम्, तत्समवायस्य च तदेकार्थसमवेताद् विभागाद् वा आश्रयविनाशकाद् वा विनाश इति।

(९) विभागः—

संयोगघातकगुणो विभागः। घटपटौ च संयुज्य विभक्तावित्यादि प्रत्ययश्च विभागसद्भावे प्रमाणम्। विभागश्च त्रिविधः—अन्यतरकर्मजः, उभयकर्मजः, विभागजश्चेति। विभागजस्तु द्विविधः—कारणविभागजः, कारणाकारणविभागजश्च। आद्यः वेणुदलविभागजः खदलविभागः। कारणाकारणविभागजश्च अङ्गुलीतरुविभागजनकेन कर्मणा अङ्गुलीतरुविभागः, तेन हस्ततरुविभाग इति। अङ्गुलीसमवेतस्य कर्मणः तत्राकारणत्वात्। विभागश्च सर्वत्रैकोऽनित्यः अनित्यसमवायश्च क्रियाभेदादनेकश्च। स द्विष्ठः उत्तरसंयोगाद् आश्रयनाशाद् वा विनाशः।

(१०, ११) परत्वापरत्वे—

परापराभिधाननिमित्तं परत्वापरत्वमिति लक्षणम्। अस्मादिदं परम्, अस्मादिदमपरमिति अक्षजप्रत्ययो यथाक्रमं परत्वापरत्वसद्भावे प्रमाणम्। ते च प्रत्येकं द्विविधे—दिक्कृतत्वकालकृतत्वभेदेन। ते नित्ये एकत्वे च। समवायोत्पत्तिविनाशौ च समवायिकारणासमवायिकारणापेक्षाबुद्धिनाशात् पृथक् पृथक् क्वचित् द्वाभ्यां द्वाभ्यां क्वचित् सर्वेभ्यश्च इति सप्तधा विनाशः।

(१२) गुरुत्वम्—

गुरुत्वं जलभूम्योः पतनासमवायिकारणम्। उत्क्षिप्तस्य यदूर्ध्वदेशविभागपूर्वकमधोदेशसंयोगजनकं कर्म, तत् पतनम्। गुरुत्वं चातीन्द्रि-

यम। गुरुत्वं च संयोगप्रयत्नसंस्कारप्रतिबन्धेन पतनं जनयति। घोटारूढस्य संयोगात् पतनम्, प्रयत्नात् खचरस्य श्येनादेः, वेगात्तु शरादेः। येषां तोलनतारतम्याद् गुरुत्वतारतम्यधीः, तेषु प्रत्येकं गुरुत्वभेदः। येषु तु सा नास्ति, तेष्वेकमेव गुरुत्वम्। पतनलिङ्गानुमानेन गुरुत्वग्रहणम्, 'पतनं गुणासमवायिकारणकम्, कर्मत्वात् नमनवदिति वा। तद् रूपादिवन्नित्यम्। समवायस्तु नित्येषु नित्यः, अनित्येषु कारणगुरुत्वसमवायजन्यः आश्रयविनाशकैर्विनाश्यश्च। लघुत्वव्यवहारो गुरुत्वतारतम्यात्, न गुणत्वरूपेणेति।

(१३) द्रवत्वम्—

द्रवत्वं स्यन्दनकर्मासमवायिकारणम्। समदेशस्थितस्य यत् समदेशनिम्नदेशान्तरेषु क्षरणम, तत् स्यन्दनम। तच्च न प्रयत्ननोदनादिजन्यम्, तेन विनापि जायमानत्वात्। नापि प्रशिथिलावयवसंयोगजम, तन्तुप्रचितावयवे द्वितूलादौ क्षरणानुत्पादात्। तेन द्रवत्वं नाम गुणान्तरं तदसमवायिकारणम्। तद् द्विविधं नैमित्तिकं सांसिद्धिकं च। तद्विशेषगुणः। अन्यत् साधारणम्। भेदोऽनुमेयः। समवायाभिप्रायेण द्वैविध्यं, तेनैकत्वं नित्यत्वं च तस्य अस्ति। समवायस्य नित्यत्वमन्यत्वं च अस्ति जले। अन्यत्राग्निसंयोगादुत्पत्तिः, तद्विनाशाच्च नाशः। अन्यत्र रसादिवत्। यत्तु हिमकरकादौ द्रवत्वानुपलम्भः तद्दिव्यतेजःसंयोगात्। वह्निसंयोगेन च लवणगतद्रवत्वप्रतिबन्धनात्। तेन घनीभूतावयवसंयोगात् करकादेः काठिन्यं, न स्वतः।

(१४) स्नेहः—

स्नेहः संग्रहमृजादिहेतुस्तदनुमेयः। संग्रहः परस्परमसंयुक्तानां सक्त्वादीनां पिण्डीभावप्राप्तिधारणाकर्षणहेतुः संयोगविशेषः। मृजा कायस्योद्वर्तनादिकृता विशुद्धिः। आदिशब्दान्मृदुत्वं च तेषां हेतुः तैरनुमीयते। नापि द्रवत्वमात्रकृतं तद्बीजं काचकाञ्चनादिरिति, द्रवीभूतैरपि सक्त्वादिसंग्रहानुत्पादात्। तेन स्नेहो नाम गुणान्तरम्। स च अपां विशेषगुणः।

पार्थिवे तु तैलादावुपष्टम्भकजलगतस्यैव स्नेहस्य संयुक्तसमवायादुपलम्भः शैत्यवत् । स्नेहस्यापि गुरुत्ववदेकत्वाद्युन्नेयम् ।

(१५) संस्कारः—

संस्कारस्त्रिविधः वेगो भावना अलौकिकश्च । वेगो नाम मूर्तद्रव्यपञ्चकवृत्तिः नोदनादिनिमित्तविशेषमपेक्ष्याद्यकर्मज उत्तरकर्मानुमेयस्तद्धेतुः; नोदनकर्मसंयोगानां तदुत्पादकत्वासम्भवात् । तेनोत्तरकर्मासमवायिकारणतया यो गुणोऽनुमीयते, स वेगः । तच्च नोदनादिसहितमाद्यं कर्म जनयति, न केवलं, मन्दगतौ वेगासम्भवात् । नियतदिक्क्रियासन्तानहेतुर्वेगः प्रायेण कर्मजः । क्वचित्कारणवेगजोऽपि, स्पर्शवद्द्रव्यसंयोगविनाश्यश्च । स च समवायाभिप्रायः । येषु तु प्रत्येकं द्रुतविलम्बितत्वकृतो गतिकार्यभेदो लक्ष्यते, तेषु तु प्रतिद्रव्यं वेगभेदः, येषु तु न लक्ष्यते तेषु त्वेक एव वेगो नित्यश्च सामान्यवत् ।

भावनाख्यस्तु आत्मगुणोऽनुभवजन्योऽनुभूतेष्वर्थेषु स्मृतिप्रत्यभिज्ञानहेतुस्तदनुमेयः । स च सर्वात्मस्वेक एव लाघवात् । तेन जातिवन्नित्यत्वाद्युन्नेयम् । तस्य च ज्ञानव्यपदेशोऽस्ति । प्रतिभिन्नार्थस्मरणं संस्कारभेदोऽस्तु, न काचित् क्षतिः । वर्णोपलम्भजसंस्कारस्य भावनात्वे सत्यपि अर्थधीकार्याद् वैलक्षण्यमुन्नेयम् ।

स्थितस्थापकस्तु नास्त्येव, पूर्वावस्थाप्रापककर्मणः घनावयवसंयोगस्य कारणत्वसम्भवात् । तेन तदर्थं नानुमेयः संस्कार इति । अलौकिकस्तु शब्दैकगम्यसमवायोत्पत्तिविनाशहेतुका नानाकरणद्रव्यवृत्तिप्रोक्षणादिजन्यः संस्कारः तन्त्रभागे विविक्तः ।

(१६) बुद्धिः—

अर्थप्रतिबद्धव्यवहारानुकूलस्वभावः पुरुषस्य धर्मविशेषो बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं संविदिति व्यपदिश्यते । सा च यथार्था स्वप्रकाशा फलतोऽनुमेया विप्रतिपन्नबोधाय, सर्वात्मस्वभिन्ना, अहं बुध्ये अहं बुध्ये इत्यभिन्नाकारप्रत्ययात् । तत्समवायस्तु इन्द्रियादिहेतुभेदात् प्रत्यात्मप्रतिविषयं च

भिद्यते। समवायापेक्षया तत्र व्यवस्थोपपत्तिः। तेनैका नित्या च। प्रत्यक्षादिव्यवहारश्च समवायकारणतः।

(१७) सुखम्—

अनुग्राहकस्वभावं सुखम्। तद् ह्युत्पन्नमात्रं अनुकूलस्वभावतया स्वविषयमनुग्रहरूपमनुभवं कुर्वत् पुरुषमनुगृह्णाति इत्यनुग्राहकस्वभावम्। तच्च आत्ममनस्संयोगादुत्पद्यते। अतीतेषु स्मरणाद्, अनागतेषु सङ्कल्पाद्। दुःखाभावो न, वनितादिष्वबाधकानुभवदर्शनादिति।

(१८) दुःखम्—

उपघातकस्वभावं दुःखम्। तद्धि उत्पन्नमात्रं प्रतिकूलस्वभावतया स्वविषयमनुभवं कुर्वत् पुरुषम् उपहन्तीत्युपघातकस्वभावम्। तच्चाधर्मसहितादात्ममनस्सन्निकर्षाच्च उत्पद्यते। अतीतेषु स्मृतिजमनागतेषु सङ्कल्पाद्। दुःखफलं दैन्यादि। सुखफलं विकासादि।

(१९) इच्छा—

स्वार्थं परार्थं वा अप्राप्तप्रार्थना इच्छा। अप्राप्तस्य वस्तुनः स्वं प्रति या प्रार्थना इदं मे भूयादिति, परार्थं वा या प्रार्थना अस्येदं भवत्विति, सा इच्छा। सापि आत्ममनस्संयोगादुत्पद्यते सुखाद्यपेक्षात् स्मृत्यपेक्षाद्वा। अनागते हि सुखहेतौ इच्छोत्पद्यते, अतीते स्मृत्यपेक्षात्। इच्छाफलानि तु प्रयत्नकृतिधर्माधर्माः। कामादयोऽपि इच्छाभेदा एव।

(२०) द्वेषः—

प्रज्वलनात्मको द्वेषः। यस्मिन् सति प्रज्वलितमिवात्मानं मन्यते स द्वेषः। स च आत्ममनसोस्संयोगाद् दुःखापेक्षात् तत्स्मृत्यपेक्षाद्वोत्पद्यते। तस्य फलं प्रयत्नधर्माधर्मस्मृतिरिति। क्रोधादिः द्वेषभेदः।

(२१) प्रयत्नः—

प्रयत्नः संरम्भ उत्साह इति पर्यायाः। स द्विविधः—जीवनपूर्वकः इच्छाद्वेषपूर्वकश्च। सदेहस्य आत्मनो विपच्यमानकर्माशयसहितस्य मनस्संयोगो जीवनम्। तत्पूर्वकप्रयत्नः सुप्तस्य प्राणापानक्रियासन्तानहेतुः। सुप्तस्य प्राणापानक्रिया हि प्रयत्नकार्या, प्राणापानक्रियात्वाद्,

जाग्रतः प्राणापानक्रियावत् । तस्य धर्माधर्मापेक्षाद् आत्ममनस्संयोगादुत्पत्तिः । इच्छाद्वेषपूर्वकप्रयत्नस्तु हिताहितप्राप्तिपरिहारयोग्यक्रियाहेतुः गुरुणोऽपि शरीरस्य आपाततो धारणहेतुश्च । स च इच्छाद्वेषापेक्षादात्ममनस्संयोगादुत्पद्यते ।

(२२) धर्मः—

विधायकवेदलक्षण आत्मगुणो धर्मः । कर्तुस्सुखाभ्युदयमोक्षहेतुः, श्रेयस्करे हि धर्मशब्दः प्रसिद्धः । स च अपूर्वमेव, तत्साधने लाक्षणिक इति शास्त्रभेदाद्भेदः । विशुद्धाभिसन्धिसापेक्षादात्ममनस्संयोगादुत्पत्तिः । अन्त्यफलज्ञानाद्विनाशः ।

(२३) अधर्मः—

अधर्मोऽपि पुरुषगुणः प्रतिषेधलक्षणः कर्तुरभिहितप्रत्यावहेतुः । तस्य प्रतिषिद्धकर्मानुष्ठानविहिताकरणप्रमाददुष्टाभिसन्धिसापेक्षाद् आत्ममनस्संयोगादुत्पत्तिरिति ।

४—कर्म

विभागसंयोगयोः अनपेक्षकारणं कर्म । तत् संयोगविभागानुमेयम् । कार्यभेदादनन्तता, मूर्तद्रव्यैकसमवेतता, एकद्रव्यवृत्तिद्रव्यकर्मणोरनारम्भकता, स्वाश्रयसमवेतकार्यारम्भकता, आशुतरविनाशिता, गुरुत्वद्रवत्वसंयोगवेगप्रयत्नादृष्टकारणकता, स्वकार्यसंयोगविनाश्यता च, आशुतरविनाशिसमवायिता च, एतानि साधर्म्याणि । विभागपूर्वकस्संयोगः कार्यः । तस्मात्संयोगविभागानपेक्षहेतुत्वविषयैकमेव परिस्पन्दात्मकं कर्म । तद्विशेषा एव च उत्क्षेपणादय इति ।

५—सामान्यम्

नित्यमेकं प्रातिस्विकरूपेण अनित्यद्रव्यैकसमवेतं सामान्यम् । परापरत्वभेदाद् द्वैविध्यं नित्यत्वमेकत्वं च । समवायस्तु अनित्य इति ।

६—संख्या

एकत्वादिप्रत्ययव्यवहारस्य हेतुस्संख्या । तत्रैकत्वद्वित्वत्रित्वादयो

व्यक्तयो जातिवत् सर्वत्रैकैका नित्याश्च, प्रतिभावं तासां भेदप्रमाणाभावात्। समवायास्तु प्रतिभावं भिन्नाः स्वीक्रियन्ते। तत्रैकत्वसमवाय एकाश्रयः। तद्धर्मिमात्राश्रय इति यावत्। स च नित्ये नित्यः, अनित्ये भावहेतुजः, आश्रयनाशकादेव नश्यति। द्वित्वसमवायस्तु अनेकाश्रयः। धर्म्यन्तरसहितधर्म्याश्रय इति यावत्। स तु सर्वत्र अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वादनित्यः। तन्नाशादाश्रयनाशकाद् वा विनश्यति। अपेक्षाबुद्धिर्नाम महासंख्यावगत्यपेक्षासहितं तदाश्रयगतैकत्वसामस्त्यज्ञानमिष्यते। द्वित्वोत्पादिकाया हि अपेक्षाबुद्धेरेकान्तरसहितमेकत्वं विषयः। त्रित्वोत्पादिकायास्तु त्रिसहितमेकत्वं विषयः। एवं सर्वत्र।

एषा चात्र दर्शनप्रक्रिया—इन्द्रियसन्निकर्षः, ततः एकत्वज्ञानं, ततोऽपेक्षाज्ञानं, ततो द्वित्वोत्पादः, ततो द्वित्वज्ञानं, ततो द्वित्वविशिष्टद्रव्यज्ञानम्, ततस्संस्कार इत्युत्पादक्रमः। विनाशप्रक्रमस्तु, अपेक्षाबुद्धितो द्वित्वोत्पत्तिसमकालं एकत्वबुद्धेर्विनाशः, द्वित्वबुद्धितो द्रव्यबुद्धिसमकालमपेक्षाबुद्धेर्विनाशः, द्रव्यबुद्धितो द्वित्वबुद्धेर्विनाशः संस्कारस्योत्पादः अपेक्षाबुद्धिविनाशाच्च द्वित्वनाश इत्येकः कालः; संस्काराद् द्रव्यबुद्धेर्विनाश इति। तत्र च प्रमाणं संस्कारे द्वित्वविशिष्टद्रव्यस्मरणम्, द्रव्यज्ञानेऽनुव्यवसायः, द्वित्वज्ञाने तद्विशिष्टद्रव्यज्ञानं, द्वित्वे तज्ज्ञानम् अपेक्षाबुद्धौतत्कार्यमेकत्वज्ञाने अपेक्षाबुद्धिः, इन्द्रियसन्निकर्षे च एकत्वज्ञानमिति विवेक्तव्यम्। यदा च द्वित्वबुद्धिसमकालमेव द्रव्यनाशः, तदा तत्कालमाश्रयनाशादेव द्वित्वनाश इति। गुणव्यतिरिक्तत्वं गुणकर्मणोः समवायात्। प्रत्यक्षद्रव्येषु प्रत्यक्षा, गुणादिषु च अनुमेया। संख्या न गुणः, गुणकर्मणोराश्रितत्वाच्छक्तिवत्।

६—शक्तिः

सर्वभावानां कार्यानुमेया शक्तिः।

> अकारकदशातोऽग्निः कारकत्वदशासु हि।
> प्रामातिशयसम्बन्धः कारकत्वाद् यथा पुमान्॥

७—सादृश्यम्

सादृश्यज्ञानात् सदृशविषयधीरुपमा, तद्विषयत्वं सादृश्यम् ।

८—समवायः

अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानां विशेषणविशेष्यभावधीहेतुः यः सम्बन्धः, स समवायः । सोऽनुमेय एव । प्रयोगस्तु, समवायोऽनुमेय इन्द्रियसम्बन्धरहितत्वात्, कर्मवत् । संयोगव्यतिरिक्तत्वे अवयवावयव्यादयः परस्परमसम्बन्धसंयोगरहिता तद्व्यापकरहितत्वाद्, यदित्थं तत्तथा यथा धूमव्यापकाग्निरहितो महाह्रदो धूमरहित इति । समवायश्चानेकः । समवायिनोरेकस्योभयोर्वा अनित्यत्वे अनित्यः नित्ययोर्नित्यः ।

इति गुरुसम्मतपदार्थाः समाप्ताः ।



द्वितीयं परिशिष्टम्

मूलश्लोकाद्यचरणसूची

श्लोकाद्यचरणम्	पृष्ठाङ्काः
अन्यथानुपपत्त्या यद्	११६
अन्योऽपि द्वारमित्यादौ	१०२
अपकर्षाप्रतिष्ठश्चेत्	५३
अपि चेन्द्रियसम्बन्ध-	१३६
अपौरुषेये वेदे तु	१०७
अभावाख्यं तु वस्त्वेव	१३८
अमुष्यास्त्वनुमानत्वं	११८
अर्थापत्तिप्रभावेण	१२५
अयोग्यश्चेन्न शंक्येत	९०
अविभुद्रव्यमात्रस्थं	२६१
अशरीरित्वमादाय	८०
अशरीरित्वबाधे च	८०
अस्ति चेदुपलभ्येत	१३३
अस्यापि ज्ञाततत्त्वोऽर्थः	५२
आचार्यमतपाथोधौ	१
आभाससङ्करे तावत्	९०
इति संचिन्त्य वादोऽयम्	२१८
इत्थं दृष्टान्तदोषाश्च	९०
इत्थं भावपदार्थानां	२६७
इत्थं साध्यनिरोधित्वात्	८१
इत्युक्तावीश्वराभावः	५२
इन्द्रियव्यतिरिक्तानि	३०
इह च स्वप्रकाशत्वे	६३
ईदृशस्य विरोधस्यादौ	११९
ईश्वरो ननु लोकादौ	१६५

श्लोकाद्यचरणम्	पृष्ठाङ्काः

श्लोकाद्यचरणम्	पृष्ठाङ्काः
कुमारिलवचोजालं	१४१
कुर्वाणस्यात्ममीमांसां	२०२
कृष्णो विबुधाधिपतिः	२८९
क्षीरे यो दध्यभावः स इह	२७६
गवयस्थितसादृश्य-	११०
गुणकर्मादिसद्भावात्	१५२
गुरुस्त्वावरणार्थस्य	१०२
गौरश्वः पुरुषो हस्ती	१०१
गौरवं लाघवं चेति	४५
घटो यदि भवेदत्र	१३३
चक्षुर्नाम कनीनिकान्तरगतं	११
चार्वाकास्तावदेकं	१०
चिदानन्देन तु व्यक्तं	८६
जातिर्व्यक्तिगता	२१९
जीवनं किल विज्ञातं	१२४
जीवनं यदि सन्दिग्धं	१२५
जालरन्ध्रविसरद्रवितेजः	१५७
जायमानेऽनुमानेन	१२१
ततश्च पक्षवचने दोषः	९०
ततश्च व्याप्तिविज्ञानाद्	१३९
ततश्च व्याप्तिविज्ञाने	६७
ततश्चानियतव्यक्ति-	१२१
तत्कीर्तिर्न हि माति	१४१
तत्प्रायो मूलराहित्याद्	१४०
तत्प्रियाकण्ठसूत्र-	१२५

श्लोकाद्यचरणम्	पृष्ठाङ्काः
तत्र चारोपवादेऽपि	५२
तत्र चास्य प्रमाणस्य	५३
तत्र तावत्पदैर्ज्ञातैः	६५
तत्सम्भव इति प्राहुः	१३६
तत्र देशत्वसामान्य-	१२१
तत्रैकस्य विशेषस्य	१२१
तत्र यद्यवलिप्तोऽयं	१०३
तत्राद्यं त्रिविधं तावत्	१८
तत्स्यात् सर्वप्रमाणानां	५२
तथातिदेशशब्दोऽपि	११५
तथैव परिमाणेषु	१३६
तथैव यदि दोषः स्यात्	८६
तथैव सर्वतोऽस्पर्शे	१३०
तदिदं शिक्ष्यतेऽस्माभिः	१२०
तदिदं दुर्मतं हेयम्	११४
तदेवं तत्त्वसिद्ध्यर्थं	५२
तदेवं पौनरुक्त्येन	७१
तदेवं सर्वदोषेषु	८६
तमप्यपाकरिष्यामः	१३८
तमसि भ्रष्टमन्विष्यन्	१३०
तर्को हि नाप्रसिद्धार्थम्	६२
तस्मात् कुत्रचिदैतिह्य	१४०
तस्मात् तर्कप्रकारोऽयम्	५३
तस्मात् त्रेधा चतुर्धा वा	८२
तस्मात् सामान्यतः	६३

श्लोकाद्यचरणम्	पृष्ठाङ्काः
तस्मादज्ञाततत्त्वार्थ-	१०
तस्मादुपाधिमिच्छद्भिः	३८
तस्माद्रूपादिसन्दर्श-	६७
तस्मात् त्र्यवयवं ब्रूमः	७०
तस्मादन्वयसिद्धौ	१०२
तस्माद् गृहे बहिर्वेति	१२१
तस्मादनतिशरणं	११५
तस्माद् यो विद्यमानस्य	१२३
तस्योर्ध्वानुपलम्भेन	१२२
तं च कौमारिलाः प्रायो	६१
तार्किकाध्वंसनोपायं	१२४
तात्पर्यमपि सुज्ञानम्	१०६
तेन तत्साधने पक्षो	६१
तेन द्वेधोपकारो नः	१०२
तेन साधारणस्यैव	९२
तेनात्र पदावगताः	८२
तेनाप्रदर्श्य वाच्यार्थं	११४
तेषामेकतमांशस्य	७५
त्रिभुवनकमल !	२८९
दीर्घग्रीवः प्रलम्बोष्ठः	११२
दुःखात्यन्तसमुच्छेदे	२०१
दुष्टवक्तृप्रणीतत्वात्	१०७
दृश्यमानार्थसादृश्यात्	१०९
दृश्यादर्शनजाभावः	२४९
दृष्टैकव्यक्तिविषयं	६६



तृतीयं परिशिष्टम्

ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं मतवाद

चतुर्थं परिशिष्टम्

उद्धृतवाक्यसूची

वाक्यम्	आकरः	पुटम्
त्रिरूपो हेतुः प्रकरणसमः	न्या. भू. पृ. ३१०	८६
द्रव्यं गुणः कर्म च		२६७
द्रव्यं गुणस्तथा कर्म	ता. र. पृ. १३०	२६८
नलकूवरमणिग्रीवौ	भा. पु. १०।१०।२३	१४५
न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके	वाक्य. १।१२३	२१
नायाति न च तत्रासीत्	प्र. वा. १।१५२	२२०
परोक्षं कर्म कर्मत्वात्	भट्टविष्णु.	२६२
पुद्गलेषु च पुण्येषु	श्ला. वा. पृ. १०५	२५१
पृथक्त्वं तु गुणः	पदार्थदीपिका	२२६
प्रतिपत्तेरपारोक्ष्यात्	न्या. कु. ३।२०	१३२
प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्	न्या. वि. पृ. १४०	२१
प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्त-	न्या. कु. २।१	
प्रमाणमनुभूतिः	प्र. पं. पृ. १०४	९
प्रमाणमविसंवादि ज्ञानं	प्र. वा. पृ. ३-४	१०
मणिप्रदीपप्रभयोः	प्र. वा. ३।५७	२३
यत्राभावधीस्तत्र	नयवि. पृ. १६३-६४	१७८
राम षड् युक्तयो लोके		१४०
लोकप्रयोगगम्याः		२५०
व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिः	ता. र. पृ. १८७	४३
श्मसाने जायते वृक्षः		१४५
श्रेयो हि पुरुषप्रीतिः	श्लो. वा. पृ. १०४	२६०
श्रेयःसाधनता ह्येषां	श्लो. वा. पृ. ४६	२५९
स मानसीन आत्मा		१८६
साक्षात्प्रतीतिः प्रत्यक्षं	प्र. पं. पृ. १०४	२८
सामान्यतोऽनुमानेन	त. प्र. पृ. २१	६२
स्वकाले यदकुर्वंस्तु		२४७

पञ्चमं परिशिष्टम्

संकेतविवरणम्

आत्मत.	आत्मतत्त्वविवेक	चौ. सं. सी. वाराणसी
ऋ.	ऋग्वेद	पूना प्रकाशन
छां.	छान्दोग्य उपनिषत्	आनन्दाश्रम, पूना
जै. सू.	जैमिनिसूत्रम्	" "
ज्ञानश्री	ज्ञानश्रीनिवन्धावली	पटना
तं. चि.	न्यायतत्त्वचिन्तामणिः	तिरुपतिः
त. प्र.	तत्त्वप्रदीपिका	उदासीन स. वि. वाराणसी
तै. ब्र.	तैत्तिरीयब्राह्मण	पूना
ता. र.	तार्किकरक्षा	मेडिकलहाल, वाराणासी
तं. वा.	तन्त्रवार्तिक	आनन्दाश्रम, पूना
तै. उ.	तैत्तिरीयोपनिषत्	" "
ध. प्र.	धर्मोत्तरप्रदीपः	पटना
नयपि.	नयविबेकः	
नीति.	नीतितत्त्वाविर्भावः	त्रिवेन्द्रम्
न्या. कु.	न्यायकुसुमाञ्जलिः	चौ. वाराणसी
न्या. भू.	न्यायभूषणम्	उदासीन वाराणसी
न्या. प्र.	न्यायप्रवेशः	बड़ौदा
न्या. र. मा.	न्यायरत्नमाला	हिन्दूविश्व. वाराणसी
न्या. वि.	न्यायविन्दुः	पटना
न्या. मं.	न्यायमञ्जरी	मेडिकल, वाराणसी
न्या. सु.	न्यायसुधा	
प्र. भा.	प्रशस्तपादभाष्यम्	चौ. बाराणसी

प्र. वा.	प्रमाणवार्तिकम्	पटना
बृह. उ.	बृहदारण्यकोपनिषत्	पूना
भा. पु.	श्रीमद्भागवतपुराणम्	निर्णय, बम्बई
मनु.	मनुस्मृतिः	बम्बई
मा. का.	माध्यमिककारिका	दरभगा
मा. म.	मानमनोहरः	उदासीन, वाराणसी
वाक्य.	वाक्यमदीयम्	स. वि. वि. वाराणसी
यो. सू.	योगसूत्रम्	चौ. वाराणसी
वै. सू.	वैशेषिकसूत्रम्	चौ. वाराणसी
शा. दी.	शास्त्रदीपिका	निर्णय बम्बई
शा. भा.	शाबरभाष्यम्	आनन्द, पूना
शां. भा. ब्र. सू	शाङ्करभाष्यम्	निर्णय, बम्बई
श्लो. वा.	श्लोकवार्तिकम्	चौ. वाराणसी
श्वेता.	श्वेताश्वतरोपनिषत्	बम्बई
सि. चं.	शा. दी. सिद्धान्तचन्द्रिका	बम्बई

षड्दर्शन-प्रकाशन-प्रतिष्ठान से प्रकाशित अन्य ग्रन्थ

१. तत्त्वप्रदीपिका—अद्वैत वेदान्त के प्रसिद्ध आचार्य श्री चित्सुखाचार्य का मौलिक ग्रन्थ 'चित्सुखी' नाम से प्रसिद्ध है। प्रत्यक्स्वरूप भगवान् की व्याख्या नयनप्रसादिनी और स्वामियोगीन्द्रानन्द–प्रणीत हिन्दी व्याख्या एवं अनुसन्धानोपयोगी परिशिष्टों से समलङ्कृत है। रायल साइज के ६३२ पृष्ठ, मूल्य २४—०० ।

२. न्यायभूषण—दसवीं शताब्दी के प्रख्यात न्यायाचार्य श्री भासर्वज्ञ-विरचित न्यायसार की स्वोपज्ञ विस्तृत व्याख्या का नाम न्यायभूषण है। प्रथम बार प्रकाशित। डबलडिमाई के ६६४ पृष्ठ। गवेषणोपयोगी परिशिष्टों एवं संस्कृत विस्तृत भूमिका से युक्त। स्वामियोगीन्द्रानन्द-द्वारा श्रमपूर्वक सम्पादित है। मूल्य २०—०० ।

३. मानमनोहर—बारहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध वैशेषिक श्री वादिवागीश्वराचार्य की मौलिक एवं अनुपम कृति प्रथम बार प्रकाशित है। स्वामीयोगीन्द्रानन्द-कृत हिन्दी व्याख्या-सहित डबलडिमाई साइज के १६० पृष्ठ, मूल्य १२—०० ।

४. न्यायामृताद्वैतसिद्धी—सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी का द्वैताद्वैत सम्बन्धी घनघोर वाग्युद्ध 'न्यायामृत' और अद्वैतसिद्धि के युगल विग्रह में साकार हुआ है। माध्व-मूर्धन्य श्री व्यासराज-तीर्थ-विरचित न्यायामृत और अद्वैतवाद के द्वैतध्वान्तविध्वंसी ब्रध्न श्री मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि हिन्दी-व्याख्या के साथ प्रकाशित है। रायलसाइज के १४१७ पृष्ठ, दो खण्डों में, मूल्य क्रमश: ४०—०० और ३६—०० ।